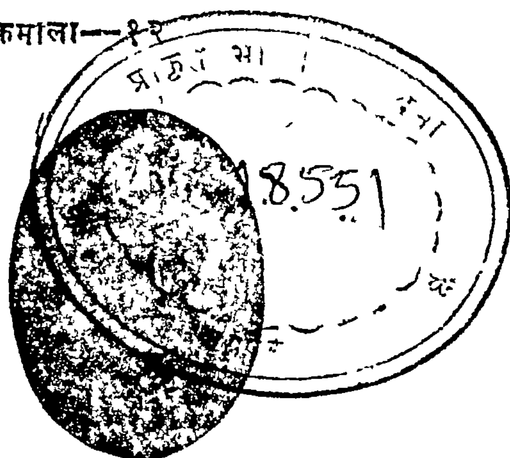
देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला—१२



भारतवर्ष का अंधकारयुगीन इतिहास

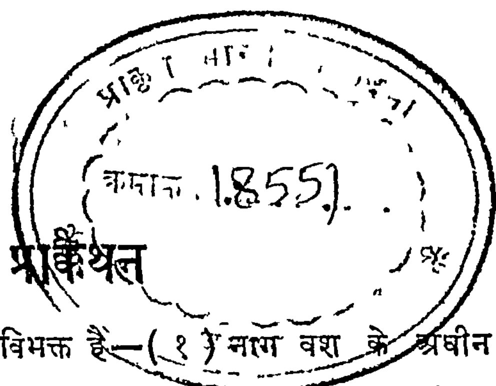
(सन् १५० ई० से ३५० ई० तक)

अनुवादक
रामचंद्र वर्मा



नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक : महताब राय, नागरी मुद्रण, काशी
द्वितीय संस्करण, २००० प्रतियाँ, सं० २०१४ वि०



प्राक्कथन

यह ग्रंथ पॉच भागो में विभक्त है—(१) नाग वंश के अधीन भारत (सन् १५०–२८४ ई०); (२) वाकाटक साम्राज्य (सन् २८४–३४८ ई०); जिसके साथ परवर्ती वाकाटक राज्य (सन् ३४८–५२० ई०) संबंधी एक परिशिष्ट भी है; (३) मगध का इतिहास (ई० पू० ३१–३४० ई०), और समुद्रगुप्त का भारत; (४) दक्षिणी भारत (सन् २४०–३५० ई०), और (५) गुप्त-साम्राज्य के प्रभाव। इस काल का जो यह इतिहास फिर से तैयार किया गया है, वह मुख्यतः पुराणो के आधार पर है और इंडियन एंटिक्केरी के प्रधान संपादक की सूचना (उक्त पत्रिका १६३२, पृ० १००) के अनुसार यह काम किया गया है। श्रीयुत के० के० राय एम० ए० से यह ग्रंथ प्रस्तुत करने में लेखक को जो सहायता प्राप्त हुई है और जो कई उपयोगी सूचनाएँ मिली हैं, उनके लिये लेखक उन्हें बहुत धन्यवाद देता है।

इसमे एक ही समय के अलग अलग राज्यो और प्रदेशो के संबंध की बहुत सी बातें आई हैं; और इसी लिये कुछ बातो की पुनरुक्ति भी हो गई है। आशा है कि पाठक इसके लिये मुझे क्षमा करेंगे।

२३ जुलाई १६३२।

× × × ×

सन् १८० ई० से ३२० ई० तक का समय अंधकार युग कहा जाता है। मैं यह प्रार्थना करता हुआ यह काम अपने हाथ में लेता हूँ—

"हे ईश्वर, तू मुझे अंधकार में से प्रकाश में ले चल।"

काशीप्रसाद जायसवाल

———



माला का परिचय

जोधपुर के स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ इतिहास और विशेषतः मुसलिम काल के भारतीय इतिहास के बहुत बडे ज्ञाता और प्रेमी थे तथा राजकीय सेवा के कामो से वे जितना समय बचाते थे, वह सब वे इतिहास का अध्ययन और खोज करने अथवा ऐतिहासिक ग्रथ लिखने मे ही लगाते थे। हिंदी मे उन्होने अनेक उपयोगी ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे हैं जिनका हिंदी ससार ने अच्छा आदर किया है।

श्रीयुत मुशी देवीप्रसाद जी की बहुत दिनो से यह इच्छा थी कि हिंदी मे ऐतिहासिक पुस्तको के प्रकाशन की विशेष रूप से व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिये उन्होने ता० २१ जून १६१८ को ३५०० रु० अकित मूल्य और १०५०० मूल्य के बबई बक लि० के सात हिस्से सभा को प्रदान किए थे और आदेश किया था कि इनकी आय से उनके नाम से सभा एक ऐतिहासिक पुस्तकमाला प्रकाशित करे। उसी के अनुसार सभा यह 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' प्रकाशित कर रही है। पीछे से जब बंबई बंक अन्यान्य दोनो प्रेसीडेसी बंको के साथ समिलित होकर इपीरियल बक के रूप मे परिणत हो गया, तब सभा ने बंबई बक के सात हिस्सो के बदले में इंपीरियल बंक के चौदह हिस्से, जिनके मूल्य का एक निश्चित अश चुका दिया गया है, और खरीद लिए और अब यह पुस्तकमाला उन्हीं से होने

वालों तथा स्वयं अपनी पुस्तकों की बिक्री से होने वाली आय से चल रही है। मुंशी देवीप्रसाद जी का वह दानपत्र काशी नागरीप्रचारिणी सभा के २६ वे वार्षिक विवरण में प्रकाशित हुआ है।

विषय-सूची

पहला भाग

नाग वंश

१—विषय-प्रवेश

हिंदू साम्राज्य के पुनर्संस्थापक

२—भार-शिव कौन थे

दूसरा भाग

वाकाटक राज्य (सन् २४८–२८४ ई०)

७—वाकाटक

८—वाकाटकों के संबंध में लिखित प्रमाण और उनका काल-निर्णय

९—वाकाटक साम्राज्य

विषय पृष्ठ

१०—परवर्ती वाकाटक काल संबंधी परिशिष्ट और वाकाटक संवत्

सन् २४८ ई० वाला संवत्

तीसरा भाग

मगध और गुप्त भारत

१३—सन् ३५० ई० का राजनीतिक भारत और समुद्रगुप्त का साम्राज्य

विपय पृष्ठ

१३—आर्यावर्त और दक्षिण मे समुद्रगुप्त के युद्ध

१४—सीमाप्रांत के शासकों और हिंदू प्रजातंत्रों का अधीनता स्वीकृत करना, उनका पौराणिक वर्णन और द्वीपस्थ भारत का अधीनता स्वीकृत करना

१७—दक्षिण के अधीनस्थ या भृत्य ब्राह्मण राज्य

गंग और कदंब

परिशिष्ट ख

मयूरशर्म्मन् का चंद्रवल्लीवाला शिलालेख

परिशिष्ट ग

चंद्रसेन और नाग-विवाह

शब्दानुक्रमणिका

भारतवर्ष का अंधकार-युगीन इतिहास

(सन् १५० ई० से ३५० ई० तक)

नाग-वाकाटक साम्राज्य-काल

पहला भाग

नाग वंश

(सन् १५० ई० से २८४ ई० तक)

दशाश्वमेधावभृथ-स्नानाम् भार-शिवानाम्

(उन भार-शिवो का, जिन्होने 'दस अश्वमेध यज्ञ और उनके अंत में अवभृथ स्नान किए थे—वाकाटक राजकीय दान-संबंधी ताम्रपट्ट ।)

१. विषय-प्रवेश

हिंदू-साम्राज्य के पुनर्सस्थापक

अज्ञात समझा जाने वाला काल

§ १. डाक्टर विंसेंट स्मिथ ने अपने Early History of India (भारत का आरंभिक इतिहास) नामक ग्रंथ के अंतिम संस्करण (१९२४) में भी और उसके पहलेवाले संस्करणो मे भी कहा है—

(क) "कम से कम यह बात तो स्पष्ट है कि कुशन राजाओ मे वासुदेव अंतिम राजा था जिसके अधिकार मे भारत मे बहुत विस्तृत प्रदेश थे। इस बात का सूचक कोई चिह्न

नहीं मिलता कि उसकी मृत्यु के उपरांत उत्तरी भारत में कोई सर्व प्रधान शक्ति वर्त्तमान थी।" (पृ० २६०)

(ख) 'संभवतः बहुत से राजाओं ने अपनी स्वतंत्रता स्थापित की थी और ऐसे राज्य स्थापित किए थे जिनका थोड़े ही दिनों में अंत हो गया था ·········परंतु तीसरी शताब्दी के संबंध में ऐतिहासिक सामग्री का इतना पूर्ण अभाव है कि यह कहना असंभव है कि वे राज्य कौन थे अथवा कितने थे।" (पृ० २६०)

(ग) "कुशन तथा आंध्र राजवंशों के नाश (सन् २२० या २३० ई० के लगभग) और साम्राज्य-भोगी गुप्त राजवंश के उत्थान के बीच का समय, जो इसके प्रायः एक सौ वर्ष बाद है, भारतवर्ष के समस्त इतिहास में सबसे अधिक अंधकारमय युगों में से एक है।" (पृ० २६२)

दूसरे शब्दों में, जैसा कि डा० विंसेंट स्मिथ ने पृ० २६१ में कहा है, भारतवर्ष के इतिहास में यह काल बिलकुल सादा या अलिखित है—उसके संबंध की कोई बात ज्ञात नहीं है। आज तक सभी लोग यह निराशापूर्ण बात बराबर चुपचाप मानते हुए चले आए हैं। इस संबंध में जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उसका अध्ययन और विचार करने पर मुझे यह पता चलता है कि ऊपर कही हुई इन तीनों बातों में से एक भी बात न तो मानी जा सकती है और न वह भविष्य में फिर कभी दोहराई जानी चाहिए। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इस विषय की सामग्री पर्याप्त है और इस समय के दो विभागों के संबंध का इतिहास हिंदू इतिहास वेत्ताओं ने वैज्ञानिक क्रम से ठीक कर रखा है।

§ २. यह कथन पूर्ण रूप से असत्य है कि साम्राज्य भोगी गुप्तों के उदय से पहले भारत में कोई एक सर्व-प्रधान शक्ति नहीं थी और न इस पक्ष का क्षण भर के लिये स्थापन या मंडन ही हो सकता है। हिंदू साम्राज्य-पुनर्घटन का आरंभ चौथी शताब्दी में समुद्रगुप्त से नहीं माना जा सकता और न वाकाटकों से ही माना जा सकता है जो इससे प्रायः एक शताब्दी पूर्व हुए थे, बल्कि उसका आरंभ भार-शिवों से होता है जो उनसे भी प्रायः पचास वर्ष पूर्व हुए थे। डाक्टर विंसेंट स्मिथ के इतिहास में वाकाटकों के संबंध में एक भी पंक्ति नहीं है और न किसी दूसरी पाठ्य पुस्तक में भार-शिवों के संबंध में ही एक भी पंक्ति है। यद्यपि इन दोनों राजवंशों का मुख्य इतिहास भलीभाँति से प्रमाणित ताम्रलेखों तथा शिलालेखों में वर्तमान है, और जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे पूर्ण रूप से पुराणों में भी दिया हुआ है और उसका समर्थन सिक्कों से भी होता है, तो भी किसी ऐतिहासिक या पुरातत्त्व संबंधी सामयिक पत्र में भार-शिवों के संबंध में लिखा हुआ कोई लेख भी मैंने नहीं देखा है। इस चूक और उपेक्षा का कारण यही है कि फ्लीट तथा और लोगों ने, जिन्होंने शिलालेखों और ताम्रलेखों का संपादन किया है, उन लेखों को पढ़ तो डाला है, पर उनमें दी हुई घटनाओं का अध्ययन नहीं किया है। और विंसेंट स्मिथ ने भारत के इतिहास का सिंहावलोकन करते समय, इस काल को फ्लीट तथा कीलहार्न का अनुकरण करते हुए, बिलकुल छोड़ दिया है, और इसीलिये यह कह दिया गया है कि इस काल की घटनाओं का कुछ भी पता नहीं चलता। पर वास्तविक बात यह है कि भारतीय इतिहास के और बहुत से कालों की तुलना में यह काल

साम्राज्य-शक्ति का पुनर्घटन

असाधारण रूप से घटनापूर्ण है। डा० फ्लीट ने वाकाटक शिलालेखों आदि का अनुवाद करते समय प्रथम प्रवरसेन की महत्वपूर्ण उपाधि "सम्राट्" और "समस्त भारत का शासक"[1] तक का उल्लेख नहीं किया है जो उपाधियाँ उसने चार अश्वमेध यज्ञ करने के उपरांत धारण की थीं और जो किसी राजा के सम्राट् पद पर पहुँचने की सूचक हैं।

वाकाटक सम्राट् और उसके पूर्व की शक्ति

§ ३. जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, वाकाटक राजवंश के सम्राट् प्रवरसेन का राज्याभिषेक सम्राट् समुद्रगुप्त से एक पीढ़ी पहले हुआ था और प्रवरसेन केवल आर्यावर्त्त का ही नहीं, बल्कि यदि समस्त दक्षिण का नहीं तो कम से कम उसके एक बहुत बड़े अंश का सम्राट् अवश्य था और वह समुद्रगुप्त से ठीक पहले हुआ था। वह इसी ब्राह्मण सम्राट् वाकाटक प्रवरसेन का पद था जो समुद्रगुप्त ने उसके पोते रुद्रसेन प्रथम से प्राप्त किया था और यह वही रुद्रसेन है जिसका उल्लेख इलाहाबादवाले स्तंभ में समुद्रगुप्त की राजनीतिक जीवनी में दी हुई सूची के अंतर्गत रुद्रदेव[2] के नाम से हुआ है और जो आर्यावर्त्त का सर्वप्रधान शासक कहा गया है।

---

१ 'सम्राट्' की व्याख्या के सम्बन्ध में देखो मत्स्य पुराण, अध्याय ११३, श्लोक १५। वहीं श्लोक ९-१४ में भारतवर्ष की सीमाएँ, जो विस्तृत या विशाल भारत और द्वीपों से युक्त भारत की सीमाओं से भिन्न हैं, [देखो § १४६ (क)] दी हुई हैं और सम्राट् वास्तव में "समस्त कृत्स्नम्" या भारत का सर्व प्रधान शासक होता था।

२ देखो आगे § ६४.

§ ४. जैसा कि वाकाटकों के संबंध के शिलालेखों तथा ताम्रलेखों आदि से और पुराणों से भी प्रकट होता है, समुद्रगुप्त से पहले प्रायः साठ वर्ष तक वाकाटकों के हाथ में सारे साम्राज्य का शासन और सर्वप्रधान एकाधिकार था; और वही अधिकार उनके हाथ से निकलकर समुद्रगुप्त के हाथ में चला आया था। हम यह बात जान-बूझकर कहते हैं कि वाकाटकों के हाथ में सारे साम्राज्य का शासन और सर्वप्रधान एकाधिकार था, क्योंकि उन लोगों ने वह एकाधिकार उन भार-शिवों से प्राप्त किया था जिनके राजवंश ने गंगा-तट पर दश अश्वमेध यज्ञ किए थे और इस प्रकार बार-बार आर्यावर्त्त में अपना एकछत्र साम्राज्य होने की घोषणा की थी। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये अश्वमेध यज्ञ कुशन[1] साम्राज्य का नाश करके किए गए थे। इन साम्राज्य-सूचक कृत्यों का यह सनातनी हिंदुओं के ढंग से लिखा हुआ इतिहास है और यह सिद्ध करता है कि कुशन साम्राज्य का किस प्रकार नाश हुआ था और कुशन लोग किस प्रकार उत्तरोत्तर नमक के पहाड़ों की तरफ उत्तर-पश्चिम की ओर पीछे हटाए गए थे।

भार-शिव

§ ५. सम्राट् प्रवरसेन ने अपने लड़के गौतमीपुत्र का विवाह भार-शिव वंश के महाराज भवनाग की कन्या के साथ किया था। वाकाटक राजवंश के इतिहास में यह घटना इतने अधिक महत्त्व की थी कि यह उस वंश के इतिहास में सम्मिलित कर ली गई थी वाकाटकों के सभी राजकीय लेखों आदि में

---

१ हमने इस शब्द का विदेशी रूप "कुशन" ही ग्रहण करना ठीक समझा है।

इसका बार-बार उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों में कहा गया है कि इस राजनीतिक विवाह के पूर्व भार-शिवों के राजवंश ने गंगा-तट पर, जिसका अधिकार उन्होंने अपना पराक्रम प्रदर्शित करके प्राप्त किया था, दस अश्वमेध यज्ञ किए थे और उनका राज्याभिषेक गंगा के पवित्र जल से हुआ था। भार-शिवों ने शिव को अपने साम्राज्य का मुख्य या प्रधान देवता बनाया था। भार-शिवों ने गंगा-तट पर जिस स्थान पर दश अश्वमेध यज्ञ किए थे, वह स्थान मुझे काशी का दशाश्वमेध नामक पवित्र घाट और क्षेत्र जान पड़ता है जो भगवान् शिव का लौकिक निवासस्थान माना जाता है। भार-शिव लोग मूलतः बघेलखंड के निवासी थे और वे गंगातट पर उसी रास्ते से पहुँचे होंगे, जिसे आजकल हम लोग "दक्षिण का प्राचीन मार्ग" कहते हैं और जो विन्ध्यवासिनी देवी के विन्ध्याचल नामक कस्बे (मिरजापुर, संयुक्तप्रांत) में आकर समाप्त होता है। बनारस का जिला कुशन साम्राज्य के एक सिरे पर था। वह उसकी पश्चिमी राजधानी से बहुत दूर था। यदि विंध्य पर्वत से उठनेवाली कोई नई शक्ति मैदानों में पहुँचना चाहती और यदि वह बघेलखंड के रास्ते से नहीं बल्कि बुंदेलखंड के किसी भाग में से होकर जाती तो वह गंगा-तट पर नहीं बल्कि यमुना-तट पर पहुँचती। वाकाटकों के मूल निवास-स्थान से भी इस बात का कुछ सूत्र मिलता है। प्राचीन काल से बागाट (वाकाट) नाम का एक कस्बा था और उसी के नाम पर वाकाटक वंश ने अपना नाम रखा था। हमने इस कस्बे का पता लगाया है और वह बुंदेलखंड में ओरछा राज्य के उत्तरी भाग में है, और ऐसा जान पड़ता है कि वाकाटक लोग भार-शिवों के पड़ोसी थे[१]

१ दुरेहा (जासो राज्य, बघेलखंड) में एक स्तंभ है जिस पर।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी चिह्न है जिनका विवेचन उनके उपयुक्त स्थानों पर किया जायगा। ये चिह्न स्मृति-स्तंभों, स्थान-नामों और सिक्कों आदि के रूप मे है और उनसे यह सिद्ध होता है कि भार शिवों का मूल स्थान कौशाम्बी और काशी के मध्य मे था।

भार-शिवो का आरभ

§ ६. प्रवरसेन प्रथम से पहले अथवा उसके समय तक भार-शिवों ने दस अश्वमेव यज्ञ किए थे और स्वयं प्रवरसेन प्रथम ने भी अश्वमेध यज्ञ किए थे, इसलिये भार-शिवों का अस्तित्व कम से कम एक शताब्द पहले से चला आता होगा। अतः यहाँ हम मोटे हिसाब से यह कह सकते है कि उनका आरभ लगभग १५० ई० मे हुआ था।

भार-शिवो का कार्य

§ ७. भार-शिवों ने मुख्य कार्य यह किया था कि उन्होंने एक नई परंपरा की नींव डाली थी या कम से कम एक पुरानी परंपरा का पुनरुद्धार किया था, और वह परपरा हिंदू स्वतंत्रता तथा प्रधान राज्याधिकार की थी। हमारे राष्ट्रीय धर्मशास्त्र "मानवधर्मशास्त्र" मे कहा है कि आर्यावर्त आर्यों का ईश्वर-प्रदत्त देश है और म्लेच्छों को उसकी सीमाओं के उस पार तथा बाहर रहना चाहिए। इस देश के पवित्र विधान के अनुसार यह आर्यों का राजनीतिक तथा सार्वराष्ट्रीय जन्मसिद्ध अधिकार[1] था। इस अधिकार की रक्षा और स्थापना आवश्यक थी। भार-शिवों ने जो

"वाकाटकानाम्" अकित है और जिसके नीचे उनका राजकीय "चक्र-चिह्न" है। इस ग्रथ के अत मे परिशिष्ट देखिए।

१ इस विचार के पोषक उद्धरण § ३८ मे देखिए।

परंपरा चलाई थी, वाकाटको ने उसकी रक्षा की थी और पीछे गुप्तो ने भी उसी को ग्रहण किया था, और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य से लेकर बालादित्य तक सभी परवर्त्ती सम्राटो ने पूर्ण रूप से उसकी रक्षा की थी। यदि भार-शिव न होते तो न तो गुप्त-साम्राज्य ही अस्तित्व मे आता और न गुप्त विक्रमादित्य आदि ही होते।

भार शिवो का परम संक्षिप्त इतिहास

§ ८. वाकाटक इतिहास-लेखकों ने इन भार-शिवो का इतिहास बहुत सुंदर रूप से सदा के लिये स्थायी कर दिया है। आज तक कभी इतने संक्षेप मे और इतना अधिक सार गर्भित इतिहास नहीं लिखा गया था। वह इतिहास एक ताम्रलेख[1] की निम्नलिखित तीन पंक्तियो मे है—

"अंशभार सन्निवेशितशिवलिंगोद्वाहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादित-राजवशानाम् पराक्रम आधिगत=भागीरथी=अमलजलः मूर्द्धा-भिषिक्तानाम् दशाश्वमेध=अवभृथस्नानाम् भारशिवानाम्।"

अर्थात्—"उन भार-शिवो (के वश) का, जिनके राजवश का आरभ इस प्रकार हुआ था कि उन्होने शिव-लिंग को अपने कधे पर वहन करके शिव को भली भाँति परितुष्ट किया था—वे भार-शिव जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था जिसे उन्होने अपने पराक्रम से प्राप्त किया था - वे भार-शिव जिन्होने दस अश्वमेध यज्ञ करके अवभृथ स्नान किया था।"

---

१ फ्लीट कृत Gupta Inscriptions पृ० २४५ और २३६.

§ ९. वासुदेव अंतिम कुशन सम्राट् था और जैसा कि मथुरावाले लेख से प्रकट होता है[१], उसने कुशन संवत् ९८ तक राज्य किया था। या तो वासुदेव के शासन-काल के अंतिम वर्षों में (सन् १६५ ई०) और या उसकी मृत्यु (सन् १७६ ई०) पर कुशन साम्राज्य का अंत हो गया था। इस कुशन वंश के शासन के अंत के साथ ही साथ अश्वमेधी भार-शिवों की शक्ति का उत्थान हुआ था। जिस समय उनका उत्थान हुआ था, उस समय उन्हें सबसे पहले कुशन साम्राज्य का ही मुकाबला करना पड़ा था और उसी साम्राज्य को उन्हें तोड़ना पड़ा।

कुशन साम्राज्य का अंत

२. भार-शिव कौन थे

§ १०. जब प्रायः सौ वर्षों तक कुशनों का शासन रह चुका, तब उसके बाद भार-शिव वंश का एक हिंदू राजा गंगा के पवित्र जल से अभिषिक्त होकर हिंदू सम्राट् के पद पर प्रतिष्ठित हुआ था। इस कथन का एक महत्त्वपूर्ण अभिप्राय यह है कि बीच में सौ वर्षों तक हिंदू साम्राज्य का क्रम भंग रहने के उपरांत वह भार-शिव राजा फिर से विधिवत् अभिषिक्त होकर शासक बना था। इस संबंध में हम उस पौराणिक वचन का उल्लेख कर देना चाहते हैं जो भारतवर्ष के तत्कालीन विदेशी राजाओं के विषय में है और जिसका अभिप्राय यह है कि वे लोग अभिषिक्त राजा नहीं होते थे। वह वचन इस प्रकार है—

भार-शिव और पौराणिक उल्लेख

---

१. ल्यूडर्स सूची नं० ७६ Epigraphia Indica दसवाँ खंड, परिशिष्ट।

"नैव मूर्द्धाभिषिक्तास्ते"। ऐसी अवस्था मे क्या यह कभी संभव है कि पुराण उन मूर्द्धाभिषिक्त राजाओ का उल्लेख छोड़ देंगे जो वैदिक मंत्रो और वैदिक विधियो के अनुसार राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुए थे और जिनमे ऐसे कई राजा थे जिन्होने आर्यों की पवित्र भूमि मे एक दो नही बल्कि दस दस अश्वमेध यज्ञ किए थे ? यह एक ऐसा महत् कार्य है जो कलियुग के किसी ऐसे प्राचीन राजवंश ने नहीं किया था, जिसका पुराणो ने वर्णन किया है। भला ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवालो का उल्लेख पुराणो मे किस प्रकार छूट सकता था ? शुंगो ने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे और शुंगो का उल्लेख पुराणो की उस सूची मे है जिसमें सम्राटो के नाम दिए गए है। शातवाहनो ने भी दो अश्मेध यज्ञ किए थे और पुराणो ने उनका भी उल्लेख है। इसलिये जिन भार-शिवो ने दस अश्वमेध यज्ञ किए थे, वे किसी प्रकार छोड़े नही जा सकते थे। और वास्तव मे वे छोड़े भी नही गए है।

§ ११. वाकाटको के लेखो मे एक भार-शिव राजा का नाम आया है, और वहाँ उसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

भार-शिव नाग थे

"भारशिवोमेके (अर्थात् भार-शिव राजवंश के) महाराज श्री भवनाग"। 'पुराणो मे आंध्रो और उसके समकालीन तुषार मुरुंड राजवंश (अर्थात् वह राजवंश जिसे आजकल हम लोग सम्राज्य-भोगी कुशन कहते है) के पतन के उल्लेख के उपरांत यह वर्णन आता है कि किलकिला के तट पर विंध्य-शक्ति का उत्थान हुआ था। यह उल्लेख बुंदेलखंड के वाकाटक राजवश के संबंध मे है और किलकिला वास्तव मे पन्ना के पास की एक नदी है[1]।

१ राय बहादुर (अब स्व०) डा० हीरालाल का मै इसलिये

पुराणों मे विंध्य-शक्ति के आत्मज के शासन का महत्व बतलाते समय आरंभ मे नाग राजवंश का वर्णन किया गया है। इस नाग राजवंश का उत्थान विदिशा मे हुआ था जो शुंगो के शासन-काल मे उपराज या राज-प्रतिनिधि का प्रसिद्ध निवास स्थान या केंद्र था।

§ १२. पुराणो ने विदिशा के नाग-राजवश को नीचे लिखे दो भागों मे विभक्त किया है—

विदिशा के नाम

(क) वे राजा जो शुंगो का अंत होने से पहले हुए थे, और

(ख) वे राजा जो शुंगो का अंत होने के उपरांत हुए थे।

अनुगृहीत हूँ कि उन्होने मुझे यह सूचित किया है कि किलकिला एक छोटी नदी है जो पन्ना के पास है। इसके उपरात सतना (रीवॉ) के श्रीयुत शारदाप्रसाद की कृपा से मैंने यह पता लगाया कि यह नदी पन्ना के पूर्व ४ मील पर उस सडक पर पडती है जो सतना से पन्ना की ओर जाती है और आगे यह नदी पन्ना नगर तक चली गई है। अभी तक इसका वही पुराना नाम प्रचलित है। आगे चलकर इसका नाम "महाउर" हो जाता है और तब यह केन नदी मे मिलती है। इसके अतिरिक्त वहॉ कोशला और मेकला नाम के दूसरे स्थान हैं और उनके भी वही तत्कालीन नाम अभी तक प्रचलित हैं जिससे इस बात का और भी मिलान मिल जाता है। उक्त सूचना मिलने के उपरात मैने स्वय जाकर यह नदी देखी थी। पन्ना मे सन् १८७० ई० मे इस पर जो पुल बने थे, उन पुलो पर लगे हुए पत्थर भी मैने देखे हैं, जिन पर लिखा है—"Kilkila Bridge" अर्थात् किलकिला का पुल।

यहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि मत्स्यपुराण और भागवत में यह वचन आया है[1]—

सुशर्माणम् प्रसह्य (अथवा प्रगृह्य) तं

शुंगानाम् च=ऐव य च=च्छेशम् क्षपित्वा तु बलं तदा।

अर्थात्—(आन्ध्र राजा ने) सुशर्मन् (कण्व राजा) को बंदी बनाकर, और उस समय शुंग-शक्ति का जो कुछ अवशिष्ट था, वह सब नष्ट करके।

यह कथन उस शुंग शक्ति के संबंध मे है जो अपने मूल निवास-स्थान विदिशा मे बच रही थी। उक्त स्थान पर पुराणों मे विदिशा के राजाओं का वर्णन है, अतः शुंगों के पहले और बाद विदिशा के जो नाग शक्तिशाली हुए थे, उनके विषय मे आए हुए उल्लेख का संबंध आंध्र और शातवाहन-काल से होना चाहिए, जब कि शातवाहन लोग दक्षिणापथ के सम्राट् होने के साथ ही साथ आर्यावर्त्त के भी सम्राट् हो गए थे, और यह काल ईसवी सन् से लगभग ३१ वर्ष पूर्व का है[2]।

---

१ पारजिटर कृत Purana Text, पृ० ३८.

२ बिहार उडीसा रिसर्च सोसाइटी का जनरल, पहला खंड, पृ० ११६.

पुष्यमित्र—राज्यारोहण	ई० पू०	१८८
शुंग वंश के राजा—११२ वर्ष	}	१५७
कण्व वंश के राजा—४५ वर्ष		३१ ई० पू०

२. यह सुरपुर वह इंद्रपुर हो सकता है जो आजकल बुलंदशहर जिले में इदौरखेडा के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ बहुत से वे सिक्के पाए गए हैं जो आजकल मथुरावाले सिक्के कहलाते हैं। देखिए A. S. R. १२, पृ० ३६ की पाद-टिप्पणी।

§ १३. पौराणिक वंशावलियों के अनुसार नागवंश में ई० पू० ३१ से पहले नीचे लिखे राजा हुए थे—

(१) शेष—'नागों के राजा', 'अपने शत्रु की राजधानी पर विजय प्राप्त करनेवाले' (ब्रह्मांड पुराण के अनुसार सुरपुर[२])।

(२) भोगिन्—राजा शेष के पुत्र।

(३) रामचंद्र—चंद्रांशु,[१] दूसरे उत्तराधिकारी, अर्थात् शेष के पौत्र।

(४) नखवान (या नखपान)—अर्थात् नहपान। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि विष्णुपुराण में दी हुई सूची में यह नाम नहीं है, और इसका कारण यही जान पड़ता है कि लोग इसे नाग-वंश का न समझ लें।

(५) धनवर्म्मन् या धर्मवर्म्मन्—(विष्णुपुराण के अनुसार धर्मवर्म्मन्)।

(६) वंगर[२]—वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में वंगर का नाम नहीं दिया है, केवल यही कहा है कि वह चौथा उत्तराधिकारी था, अर्थात् शेष की चौथी पीढ़ी में था। संभवतः धर्म (इस सूची का पाँचवाँ राजा) शेष की तीसरी पीढ़ी में अथवा तीसरा उत्तराधिकारी था।

इसके उपरांत परवर्त्ती राजा के समय से पुराणों में निश्चित और स्पष्ट रूप से विभाग किया गया है। भागवत में तो पहले के

---

१. मैं 'चंद्रांशु' शब्द को रामचंद्र से अलग नहीं मानता, क्योंकि विष्णु पुराण में वह स्वतंत्र शब्द नहीं माना गया है।

२. यह नाम महाराज हस्तिन् के खोहवाले ताम्रलेख में वंगर गाँव (नौगढ के निकट) के नाम से मिलता है। G. I., पृ० १०८।

दिए हुए नाम बिलकुल छोड़ दिए गए है, और वायु पुराण तथा ब्रह्माण्डपुराण मे कहा गया है कि इसके बाद के राजा शुंग राजवंश का अत होने के उपरांत[1] हुए थे, अर्थात् उस काल के उपरांत हुए थे, जब कि शातवाहनो ने नहपान पर विजय प्राप्त की थी, जब वे मध्यभारत मे आ गए थे और जब उन्होने कन्वों और शुंगो पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। शुंग नागो के इन परवर्त्ती राजाओ के नाम ये है—

(७) भूतनंदी या भूतिनंदी।

(८) शिशुनंदी।

(९) यशोनंदी—(शिशुनंदी का छोटा भाई)। शेष राजाओ के नामो का उल्लेख नही है।

वृष या नंदी

§ १४. आगे बढ़ने से पहले यहाँ हमे यह बात समझ रखनी चाहिए कि वायुपुराण मे इन वैदिश नागो को वृष[2] अर्थात् शिव का सॉड़ या नंदी कहा गया है, और शुंग राजवंश का अंत होने पर जो राजा हुए है, उनके नामो के अंत मे यह नंदी शब्द मिलता है। जान पड़ता है कि जो भार-शिव उपाधि पीछे से ग्रहण की गई थी, वह भावतः वायुपुराण के "वृष" और नामो के अंत मे मिलनेवाले 'नंदी" शब्द से संबद्ध है।

---

१ भूति (भूत) नंदिस्ततश्चापि वैदिशे तु भविष्यति शुंगानां तु कुलस्यान्ते। पारजिटर कृत Purana Text, पृ० ४९, पाद-टिप्पणी १५।

२. वृषान् वैदिशकाश्चापि भविष्यांश्च निबोधत। २-३७-३६०.

§ १५. इस बात का निश्चित रूप से समर्थन होता है कि शुंगो के परवर्त्ती ये नाग लोग ईसवी पहली शताब्दी मे वर्त्तमान थे। पदम पवाया नामक स्थान

एक नाग लेख

मे, जो प्राचीन पद्मावती नगरी के स्थान पर बसा है, यक्ष मणिभद्र की एक मूर्त्ति है जिसका उत्सर्ग किसी सार्वजनिक संस्था के सदस्यो ने राजा स्वामिन् शिवनंदी के राज्य-काल के चौथे वर्ष मे किया था[1]। इस लेख की लिपि आरंभिक कुशनो की लिपि से पहले की है। उसमे 'इ" की मात्राएँ (ि) टेढ़ी नही बल्कि सीधी है, उनका शोशा अभी ज्यादा बढ़ने नही पाया है। यक्ष की मूर्ति का ढंग भी कुछ पहले का है। लिपि के अनुसार यह मूर्त्ति ईसवी पहली शताब्दी की ठहरती है। यशःनदी के बाद जिन राजाओ के नामो का उल्लेख नही है, उन्ही मे से शिवनंदी भी एक होगा। साधारणत. पुराणो मे किसी राजवंश के उन राजाओ का उल्लेख नही मिलता, जो किसी दूसरे बड़े राजा की अधीनता स्वीकृत कर लेते है। इससे यही अनुमान होता है कि सभवतः शिवनंदी महाराज कनिष्क द्वारा परास्त हो गया था। पुराणों में कहा गया है कि पद्मावती पर विन्वस्फाणि नामक एक राजा का अधिकार हो गया था, और यह शासक कनिष्क का वही उपराज या राजप्रतिनिधि हो सकता है जिसका नाम महाक्षत्रप वनसपर था। देखो § ३३। शिवनंदी अपने राज्यारोहण के चौथे वर्ष तक स्वतंत्र

---

१ भारत के पुरातत्त्व विभाग की सन् १९१५-१६ की रिपोर्ट (Archaelogical Survey of India Report) पृ० १०६, प्लेट-सख्या ५६।

राजा था, क्योंकि उक्त लेख में उसके राज्यारोहण का संवत् दिया है, कुशन संवत् नहीं दिया है। कुशनों के समय में सब जगह समान रूप से कुशन संवत् का ही उल्लेख होता था। राजा की उपाधि "स्वामी" ठीक उसी तरह से दी गई है, जिस तरह आरंभिक शातवाहनों के नामों के आगे लगाई जाती थी[1]। यह शब्द सम्राट् का सूचक है और हिंदू राजनीति-शास्त्रों से लिया गया था; और मथुरा के शक राजाओं ने भी इसे ग्रहण किया था। उदाहरणार्थ, स्वामी महाक्षत्रप शोडास के शासन-काल के ४२वें वर्ष के आमोहिनीवाले लेख में यह 'स्वामी' शब्द आया है। पर कनिष्क के शासनकाल से मथुरा में इस प्रथा का परित्याग हो गया था।

पद्मावती

§ १६. जान पड़ता है कि भूतनंदी के समय से, जब कि भागवत के कथनानुसार इस वंश की फिर से स्थापना या प्रतिष्ठा हुई थी, पद्मावती राजधानी बनाई गई थी। वहाँ स्वर्णबिंदु नाम का एक प्रसिद्ध शिवलिंग स्थापित किया गया था और उसके सात सौ वर्ष बाद भवभूति के समय में उसके संबंध में जन-साधारण में यह कहा जाता था (आख्यायते) कि यह किसी मनुष्य द्वारा प्रतिष्ठित नहीं है, बल्कि स्वयंभू है। पवाया[2] नामक स्थान में श्रीयुक्त गरदे ने वह वेदी ढूँढ़ निकाली

---

१ देखो ल्यूडर्स (Luders) की सूची नं० ११०० में पुळुमावि। नहपान के लिये मिलाओ सूची नं० ११७४, देखो आगे § २६ (क)।

२ A. S. R. १९१५-१६ पृ० १०० की पाद-टिप्पणी। पद्मावती के वर्णन के लिये देखिए खजुराहो का शिलालेख E. I. पहला

है जिस पर स्वर्णबिंदु शिवलिंग स्थापित था। वहाँ एक ऐसा नंदी भी मिला है जिसका सिर तो साँड़ का है और शरीर मनुष्य का है, और साथ ही गुप्त शैली की कई मूर्त्तियाँ भी पाई गई है।

§ १७. अब हम उन सिक्को पर कुछ विचार करते है जो हमारी समझ मे इस आरंभिक नाग वंश के है। इनमे से कुछ सिक्के साधारणतः मथुरा के माने जाते है। ब्रिटिश म्यूजियम मे शेषदात, रामदात[1] और शिशुचंद्रदात के सिक्के है। शेषदात-वाले सिक्के की लिपि सबसे पुरानी है और वह ईसापूर्व

नाग के सिक्के

खड, पृ० १४६। यह वर्णन (सन् १०००-१ ई०) उद्धृत करने के योग्य है। यह इस प्रकार है—"पृथ्वी-तल पर एक अनुपम (नगर) था जो ऊँचे ऊँचे भवनो से शोभित था और जिसके सबध मे यह लिखा मिलता है कि इसकी स्थापना पृथ्वी के किसी ऐसे शासक और नरेंद्र के द्वारा स्वर्ण और रजत युगो के बीच मे हुई थी जो पद्म वश का था। (इस नगर का) इतिहासो मे उल्लेख है (और) पुराणो के ज्ञाता लोग इसे पद्मावती कहते हैं। पद्मावती नाम की इस परम सुदर (नगरी) की रचना एक अभूतपूर्व रूप से हुई थी। इसमे बहुत बडे बडे और ऊँचे भवनो की बहुत सी पक्तियाँ थी, इसके राजमार्गो मे बडे बडे घोडे दौड़ते थे, इसकी दीवारे कातियुक्त, स्वच्छ, शुभ्र और गगन-चुबी थी, यह आकाश से बाते करती थी और इसमे ऐसे बडे बडे स्वच्छ भवन थे जो तुषार-मडित पर्वत की चोटियो के समान जान पडते थे।"

१ मि० कारले को इदौरखेडा में राम (रामस) का एक ऐसा सिक्का मिला था जिसके अंत में "दात" शब्द नहीं था। A.S R., खड १२, पृ० ४३.

पहली शताब्दी की है। उसी वर्ग में रामदात के सिक्के भी हैं। मेरी समझ में ये तीनों राजा इस वंश के वही राजा हैं जो शेषनाग रामचंद्र और शिशुनंदी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये तीनों अपने सिक्कों के कारण परस्पर संबद्ध हैं और यह बात पहले से ही मानी जा चुकी है[1]। जैसा कि प्रो० रैप्सन ने बतलाया है (जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९००, पृ० ११५), शेष और शिशु के सिक्कों का वीरसेन के सिक्कों के साथ घनिष्ठ सबंध है। वीरसेन के जिस सिक्के का चित्र प्रो० रैप्सन ने दिया है, इसमें राज-सिंहासन के पीछे एक खड़े हुए नाग का चित्र है, राज-सिंहासन पर बैठी हुई स्त्री की मूर्त्ति है, जो अपने ऊपर उठाए हुए दाहिने हाथ में एक घड़ा लिए हुए है। यह मूर्त्ति गंगा की जान पड़ती है। वीरसेन का एक और सिक्का है जिसका चित्र जनरल कनिंघम ने दिया है। उसमें एक पुरुष की मूर्त्ति के पास खड़े हुए नाग का चित्र है। नव नाग के सिक्कों के ढंग पर (देखो § २०) इस नाग की मूर्त्ति के योग से "वीरसेन नाग" का नाम पूरा होता है। मूर्त्ति वीरसेन की है और उसके आगे का नाग इस बात का सूचक है कि वीरसेन "नाग" है। नाग सिक्कों पर मुख्यतः वृष या नंदी, नाग या साँप और त्रिशूल के चित्र ही पाए जाते हैं।

§ १८. अब तक लोग यही मानते रहे हैं कि शिशुचंद्रदात,[2] शेषदात और रामदात में जो "दात" शब्द है वह भी "दत्त"

---

१ रैप्सन—जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९००, पृ० १०९।

२ J. R. A. S. १९००, पृ० ९७ के सामने का प्लेट, चित्र सं० १४।

शब्द के ही समान है, पर यह बात ठीक नहीं है। यह "दात" वस्तुतः दातृ या दात्व शब्द के समान है (जैसा कि शिशुचंद्रदात मे स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है और जिसका अर्थ है—उदार, बलि चढ़ानेवाला, रक्षक और दाता)। हमारे इस कथन का एक और प्रमाण यह भी है कि इस प्रकार के कुछ सिक्कों मे केवल "रामस" शब्द भी आया है, जिसके आगे दात नही है[1]।

§ १६. इसके अतिरिक्त उत्तमदात और पुरुपदात[2] के तथा कामदात और शिवदात के भी सिक्के है जिनका उल्लेख प्रो० रैप्सन ने (जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी १६००, पृ० १११ मे कामदत्त और शिवदत्त के नाम से किया है), और भवदात के भी सिक्के है (जिनका चित्र जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १६००, पृ० ९७ के प्लेट नं० १३ मे है) जिसे प्रो० रैप्सन ने भी मदत्त पढ़ा है, पर जो वास्तव मे भवदात[3] है। फिर उन राजाओं के भी सिक्के है जिनके नाम पुराणों मे नहीं आए है। ऐसे राजाओं मे एक राजा "शिवनंदी" भी है जिसका उल्लेख पवायावाले शिलालेख मे है और जिसके संबंध मे अब हम सहज मे कह सकते है कि यह वही सिक्कोवाला शिवदात है।

§ २०. इस प्रकार हमे इस राजवंश के नीचे लिखे राजाओं के नाम मिलते है जिनके निम्नलिखित क्रमबद्ध सिक्के भी पाए जाते है—

---

१ A. S. I, खड १२, पृ० ४३।

२ विंसेंट स्मिथ C. I. M., पृ० १६०, १९२।

३ मिलाओ विंसेंट स्मिथ, C. I. M., पृ० १९३।

(१) शेष नागराज	(सिक्कों पर नाम)	शेषदात।
(२) रामचंद्र	....	रामदात।
(३) शिशुनंदी	....	शिशुचद्दात।
(४) शिवनंदी	(यह नाम शिलालेख से लिया गया है। पुराणों में जिन राजाओं के नाम नहीं आए हैं, यह उन्हीं में से एक है।)	शिवदात[1]
(५) भवनंदी	(अनुल्लिखित राजाओं में से एक)	भवदात।

§ २१. हम यह नहीं कह सकते कि शिशुनाग आदि आरंभिक नाग राजा मथुरा में शासन करते थे या नहीं, क्योंकि मथुरा एक ऐसा स्थान था, जहाँ पद्मावती, विदिशा, अहिच्छत्र आदि आस-पास के अनेक स्थानों से सिक्के आया करते थे। हाँ, पुराणों में हमें यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि वे विदिशा में राज्य करते थे और उनमें से पहले राजा शेष ने अपने शत्रु की राजधानी जीती थी। इस विजित राजनगर का नाम ब्रह्मानंद ने सुरपुर दिया है, इसलिये हम यह मान सकते हैं कि शेष ने इंद्रपुर नामक नगर जीता था जो आजकल बुलंदशहर जिले में है। उन दिनों यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण नगर था[2] और इसी स्थल पर

१ प्रो॰ रैप्सन ने J. R. A. S., १९००, पृ॰ १११ में इसे "शिवदत्त" लिखा है।

२ A. S. R. खंड १२, पृ॰ ३६ की पाद-टिप्पणी।

आरंभिक नाग राजाओ के कुछ सिक्के पाए गए हैं। हमे यह भी पता चलता है कि शिवनंदी का राज्य पद्मावती तक था। जो हो, पर इसमे संदेह नही कि विदिशा के साथ मथुरा का बहुत पुराना राजनीतिक संबंध है और आगे चलकर नाग राजाओ के समय मे यह संबध फिर से स्थापित हो गया था। यह माना जा सकता है कि आरंभिक नाग राजाओ ने मथुरा से क्षत्रपो को भगाने मे बहुत कुछ कार्य किया था और इस सिद्धांत का इस बात से खंडन नही हो सकता कि मथुरा मे एक ऐसे राजवंश का राज्य था, जिसके राजाओ के नाम के अंत मे क्षत्रपो के समय के बाद के सिक्को मे "मित्र" शब्द मिलता है, क्योकि ये सिक्के और भी बाद के जान पडते है[1]।

विदिशा के नागो की वंशावली

§ २२. सभवतः नीचे लिखे कोष्ठक से विदिशा के नागो की वंशावली का बहुत कुछ ठीक ठीक पता चल जायगा—

ई० पू० ११० से ई० पू० ३१ तक राजा तो पॉच, पर पीढ़ियॉ चार हुई	शेष ई० पू० ११०-९०	सिक्के मिलते हैं
	भोगिन् ई० पू० ९०-८०	सिक्के नही मिलते
	रामचंद्र ई० पू० ८०-५०	बहुत सिक्के मिलते हैं
	धर्मवर्म्मन् ई०पू० ५०-४०	सिक्के नही मिलते
	वंगर ई० पू० ४०—३१	सिक्के नही मिलते

सन् ३१ ई० पू० के बाद के राजाओ का समय, जो अब आगे से संभवतः पद्मावती मे राज्य करते थे, इस प्रकार होगा—

ई० पू० २०—१०	भूतनंदी	सिक्के नही मिलते
ई० पू० १०—२५ ई०	शिशुनंदी	बहुत से सिक्के मिलते है
२५—३० ई०	यशनंदी	सिक्के नही मिलते

१ विंसेंट स्मिथ C. I M., पृ० १९०

ये वे राजा हैं जिनका पुराणों में उल्लेख नहीं है। इन्हीं में शिवनंदी (उसके राज्य-काल के चौथे वर्ष के लेख में यही नाम हैं, पर सिक्कों में शिवदात नाम मिलता है) भी है जिसका समय सन् ५० ई० के लगभग है। फिर सन ८० से १७५ ई० तक कुशनों का राज्य था, जब कि नाग राजा लोग हटकर मध्यप्रदेश के पुरिका और नागपुर नंदिवर्द्धन नामक स्थान में चले गए थे (देखो §§ ३१ क और ४४)।

यदि हम उक्त दोनों सूचियों को मिलाकर आरंभिक नाग राजाओं की फिर से सूची तैयार करते हैं तो हमें नीचे लिखे राजा मिलते हैं—

(१) शेषनाग।

(२) भोगिन्।

(३) रामचंद्र।

(४) धर्मवर्म्मा।

(५) वंगर।

(६) भूतनंदी।

(७) शिशुनंदी।

(८) यशःनंदी। इन आठों का परस्पर जो संबंध है, वह ऊपर बतलाया जा चुका है। (देखो § १३)

(९) से १३ तक

पुरुषदात उत्तमदात कामदात भावदात शिवनंदी या शिवदात	लेखों और सिक्कों के आधार पर पाँच राजा। अभी यह निश्चित नहीं है कि ये लोग किस क्रम से सिंहासन पर बैठे थे।

इन राजाओं का समय लगभग ई० पू० ११० से सन् ७८ ई० तक प्रायः दो सौ वर्षों का है।

३. ज्येष्ठ नाग वंश और वाकाटक

विदिशा के मुख्य नागवंश का अधिकार दौहित्र को मिल गया था

§ २३. पुराणों के कथनानुसार ज्येष्ठ नागवंश, विवाह-संबंध के कारण, वाकाटकों में मिल गया था। और जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इस मत का समर्थन वाकाटकों के शिलालेखों आदि से भी होता है। पुराणों में कहा है कि यशनंदी के उपरांत उसके वंश में और भी राजा होंगे अथवा विदिशावाले वंश में—

तस्मि आन्वये भविष्यन्ति राजानस्तत्र वस्तु।
दौहित्राः शिशुको नाम पुरिकायां नृपो भवत्[1]॥

अर्थात्—इस वंश में और राजा होंगे, और इन्हीं में वह दौहित्र भी था, जिसका नाम शिशु था और जो पुरिका का राजा हुआ था[2]। यहाँ "राजानस्तत्र यस्तु" के स्थान पर कुछ प्रतियों में "राजानस्तम् (ना ते) त्रयस्तु वै" पाठ मिलता है जो स्पष्टतः अशुद्ध है, क्योंकि "त्रयः" शब्द के पहले "ते" शब्द की कोई

---

१. P. T. पृ० ४६, पाद-टिप्पणी २३।

२. पुरिका के लिये देखो J. R. A. S १९००, पृ० ४४५ में पारजिटर का Ancient Indian Historical Traditions शीर्षक लेख, पृ० २६२। इस लेख में पुरिका का जो स्थान निश्चित किया गया है, उससे यह होशंगाबाद जान पड़ता है।

आवश्यकता नहीं है, और यदि "तम्" हो तो उसका कोई अर्थ नहीं हो सकता। यदि "त्रयः" पाठ ही मान लिया जाय, जिसके होने में मुझे संदेह है, तो फिर उसका अर्थ यह मानना होगा कि यशःनंदी के आगे राजाओं की तीन शाखाएँ हो गई थीं; और यह अर्थ नहीं होगा कि यशःनंदी के बाद तीन और राजा हुए थे, क्योंकि आगे चलकर विष्णुपुराण में कहा है कि नव नागों[1] ने पद्मावती, मथुरा और कांतिपुरी इन तीन राजधानियों से राज्य किया था। यशः नंदी का वंश अथवा कम से कम उसकी एक शाखा समाप्त हो गई और जाकर दौहित्र में मिल गई जिसे साधारणतः लोग शिशु कहते हैं। नागों ने पद्मावती छोड़ दी थी, और ऐसा जान पड़ता है कि प्रबल कुशन राजाओं के आ जाने के कारण ही उन्हें पद्मावती छोड़नी पड़ी होगी। पुराणों में हमें निश्चित रूप से यह उल्लेख मिलता है कि विन्वस्फाणि पद्मावती में राज्य करता था और उसका राज्य मगध तक था (देखो §§ ३३-३४)। अतः अब हम यह बात मान सकते हैं कि सन् ८०-१०० ई० के लगभग नाग वंश के राजा लोग मथुरा और विदिशा के बीच के राजमार्ग से हट गए थे और उन्होंने मध्यप्रदेश के अगम्य जंगलों में जाकर शरण ली थी (§ ३१ क)।

---

१. नवनागाः पद्मावत्याम् कांतिपुर्याम् मथुरायाम्। अनुगंगा प्रयाग मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यंति। जिस प्रकार गुप्तों के साथ मागधाः विशेषण है, उसी प्रकार नागों के साथ विशेषण रूप से "नव" शब्द आया है। पर पुराणों में न तो गुप्तों की ही और न नागों की ही कोई संख्या दी गई है। अतः यहाँ इस "नव" शब्द का अर्थ "नौ" नहीं हो सकता। या तो इसका अर्थ "नये या परवर्ती नाग" हो सकता है या—"राजा नव के वंश के नाग"। (देखो § २९)

पुरिका और चणका मे नाग दौहित्र और प्रवीर प्रवरसेन

§ २४. पुराण जब नाग शाखा का उल्लेख करते हुए "शिशु राजा" तक पहुँचते है, तब वे विंध्यशक्तिवाली शाखा का उल्लेख आरंभ कर देते है, और विंध्यशक्ति के पुत्र का वर्णन करते है जिसके संबंध मे वे यह कहते है कि वह जन-साधारण मे प्रवीर या बहुत बड़ा वीर माना जाता था[1]। विष्णु पुराण मे यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि शिशु और प्रवीर दोनो मिलकर राज्य करते थे (शिशुक-प्रवारौ)। वायुपुराण मे इनके लिये बहुवचन क्रिया "भोक्ष्यन्ति" का प्रयोग हुआ है जो द्विवचन का प्राकृत रूप है[2]। भागवत मे शिशु का कही नाम ही नही है और केवल प्रवीर का उल्लेख है। इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध होता है कि पौराणिक इतिहास-लेखक यहाँ यह प्रकट करते है कि शिशु ने अपने मातामह या नागराज का राज्य पाया था और उस दौहित्र शिशु के नाम पर विंध्यशक्ति का पुत्र प्रवीर शासन करता था। वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण मे जो "च=अपि" (विंध्यशक्ति सुतस् चापि) शब्द आया है, उससे भी दोनो का मिलकर ही शासन करना सिद्ध होता है। विष्णुपुराण ने तो स्पष्ट रूप से ही शिशु को पहला स्थान दिया है और वायु तथा ब्रह्मांडपुराणो के वर्णनो मे इसका पता केवल प्रसग से चलता है। वायु और ब्रह्माड पुराणो मे कहा गया है कि प्रवीर ने ६० वर्षों तक पुरिकाचनका मे अथवा पुरिका और चणका मे[3] राज्य किया था। यह पुरिका और चणकावाला अंतिम

---

१ प्रवीरो नाम वीर्यवान्।

२. पारजिटर, पृ० ५०, पादटिप्पणी ३१।

३. पारजिटर के प्राकृत रूपो "पुलका" और "चलका" का ध्यान

पाठ ही अधिक ठीक जान पड़ता है, क्योंकि वहाँ 'और" या "च" शब्द भी आता है। भार-शिवों और वाकाटकों के इतिहास का जो विवरण शिलालेखों आदि में मिलता है (देखो § २५) उसका भी इस मत से पूर्ण रूप से समर्थन होता है और इस विवरण से वह विवरण बिलकुल मिल जाता है।

शिलालेखों द्वारा पुराणों का समर्थन

§ २५. वाकाटक शिलालेखों[1] के अनुसार राज-सिंहासन गोतमीपुत्र को, जो सम्राट् प्रवरसेन का पुत्र और रुद्रसेन प्रथम का पिता था, नहीं मिला था, बल्कि रुद्रसेन प्रथम को मिला था जो सम्राट् प्रवरसेन का पोता भी था और भारशिव महाराज भवनाग का नाती भी था। पर यहाँ

रखते हुए और वायु पुराण के "पुरिकाम् चनकान् च वै" का भी ध्यान रखते हुए यह पाठ भी हो सकता है—"भोक्ष्यन्ति च समा षष्टिम् पुरीम् काञ्चनकान् च वै"। यह चनका वही स्थान हो सकता है जिसे आज-कल नचना कहते हैं। साधारणतः अक्षरों का इस प्रकार का विपर्यय प्रायः देखने में आता है। अजयगढ रियासत में नचना एक प्राचीन राजस्थानी है जहाँ वाकाटकों के शिलालेख और स्मृति-चिह्न आदि पाए गए हैं। (A. S. R. २१ । ९५) जैन साहित्य में भी चनकापुर का उल्लेख है, जहाँ वह राजगृह का पुराना नाम बतलाया गया है (अभिधान राजेंद्र)। चनका का अर्थ होगा "प्रसिद्ध"। बहुत संभव है कि काञ्चनका और चनका एक ही स्थान के दो नाम हों। कालिका पुराण (३।१४।२।२१. वेंकटेश्वर प्रेस का संस्करण पृ० २६८) में नागों की राजधानी का नाम काञ्चनीपुरी कहा गया है, और कहा है कि वहाँ पहाड़ी पर एक गुप्त गढ़ी था (गिरिदुर्गावृता)। साथ ही देखो नचना के संबंध में § ६०।

१ फ्लीट कृत Gupta Inscriptions पृ० २३७, २४५।

विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि वह पहले भार-शिव के नाती के रूप मे और तब वाकाटक की हैसियत से राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था, और वह समुद्रगुप्त की तरह उत्तराधिकारी नहीं हुआ था जो शिलालेखो मे पहले तो गुप्त राजा कहलाता है और तब लिच्छवियों का नाती। वाकाटको के एक ताम्रलेख (बालाघाट, खंड ९ पृ० २७०) मे रुद्रसेन प्रथम स्पष्ट रूप से भार-शिव महाराज—भारशिवानाम् महाराज श्रीरुद्रसेनस्य—कहा गया है। इस प्रकार इस विषय मे विष्णु पुराण का वाकाटक वंश के लेखों से पूरा पूरा समर्थन होता है। फिर वाकाटक लेखो से रुद्रसेन प्रथम की मृत्यु के समय वाकाटक काल का एक प्रकार से अंत कर दिया जाता है और वह दूसरे वाकाटक काल से पृथक् कर दिया जाता है जो पृथिवीषेण प्रथम और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी से आरंभ होता है। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इसका कारण यह है कि जब समुद्रगुप्त के द्वारा रुद्रसेन परास्त होकर मारा गया, तब वाकाटको के सम्राट् पद का अंत हो गया (देखो §५२ की पाद टिप्पणी)। समुद्रगुप्त ने इसे भी उसी प्रकार रुद्रदेव कहा है, जिस प्रकार नेपालवाले लेखो मे वसंतसेन को वसंतदेव कहा गया है[१]। पृथिवीषेण प्रथम के राज्यारोहण के समय इस वंश को राज्य करते हुए पूरे सौ वर्ष हो गए थे, और इसीलिये लेखो मे उस पहले काल का अंत कर दिया गया है जो स्वतंत्रता का काल था। यथा—वर्षशत

"भारशिवानामहाराज श्री भवनाग दौहित्रस्य गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य वाकाटकाना महाराज श्री रुद्रसेनस्य"।

१. फ्लीट कृत Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, पृष्ठ १८९—१९१।

अभिवर्द्धमान कोष दंड साधन[२]। वायु और ब्रह्मांडपुराणों में कहा गया है कि विन्ध्यशक्ति के वंश ने ९६ वर्षों तक राज्य किया था[३]। लेख में जो "सौ वर्ष" कहा गया है, वह उसी प्रकार कहा गया है, जिस प्रकार आज-कल हम लोग कहते हैं—'प्रायः एक शताब्दी तक'। मतलब यह कि यह बात प्रमाणित हो जाती है कि भूतनंदी नाग के वंशज ही भार शिव कहलाते थे।

४. भार-शिव राजा और उनकी वंशावली

नव नाग

§ २६. कौशांबी की टकसाल का एक ऐसा सिक्का मिला है जो अनिश्चित या अज्ञात वर्ग के सिक्कों में रखा गया है और जिस पर '[दे] व" पढ़ा जाता है। विंसेंट स्मिथ ने अपने Catalogue of Indian Museum के पृष्ठ २०६, प्लेट २३ में इसका चित्र दिया है और उस चित्र की संख्या १५ और १६ है। यह सिक्का आगरा और अवध के संयुक्त प्रांतों में आम तौर से पाया जाता है। अभी तक निश्चित रूप से यह

---

२. जिसके वंश में बराबर पुत्र और पौत्र होते चलते थे, जिनका राजकोश और दंड या शासन के साधन बराबर सौ वर्षों तक बढ़ते चलते थे।—फ्लीट।

३. समाः षण्णवति भूत्वा [ज्ञात्वा], पृथिवीं तु गमिष्यति। (Purana Texts पृ० ४८ पाद-टिप्पणियाँ ८६, ८८)—"९६ वर्ष पूरे होने पर साम्राज्य (आगे देखो तीसरा भाग § १३५) का अंत हो जायगा।"

नहीं कहा जा सका है कि इसका पहला अक्षर क्या है। मैंने ईसवी पहली शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी तक की लिपियों में आए हुए वैसे अक्षरों से उसका मिलान किया है, और मैं समझता हूँ, कि वह अक्षर 'न" है। यह "न" आरंभिक कुशन ढंग का है[1]। यह सिक्का 'नवस' है और नवस के ऊपर एक नाग या साँप का चित्र है जो फन फैलाए हुए है। यह नाग इस राजवंश का सूचक है जो इस वंश के और सिक्कों पर भी स्पष्ट रूप से दिया हुआ है (देखो § ७६ ख)। मैं इसे नव नाग का सिक्का मानता हूँ। यहाँ जो ताड़ का चिह्न है, वह इस वर्ग के दूसरे सिक्कों तथा भार-शिवों के स्मृति-चिह्नों पर भी पाया जाता है। (देखो § ४६ क)।

इस सिक्के ने मुद्रा-शास्त्र के ज्ञाताओं को चक्कर में डाल रखा है[1]। यह सिक्का बहुत दूर दूर तक पाया गया है। इससे यह समझा जाता है कि जिस राजा का यह सिक्का है, वह राजा है, वह राजा प्रमुख होगा और इतिहास में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान होगा। पर अभी तक यह पता नहीं चलता था कि यह राजा कौन है। न इसका नाम ही ज्ञात होता था और न वंश ही। पर फिर भी इस राजा के संबंध में इतना अवश्य निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि—

---

१. देखो E. I., खंड १, पृ० ३८८ के सामनेवाले प्लेट में पंद्रहवें वर्ष के नं० २ ए और पैंतीसवें वर्ष के नं० ७ बी में का 'न'। साथ ही मिलाओ खंड २, पृ० २०५ में ७६ वें वर्ष के नं० २० का 'न'।

१ मिलाओ विंसेंट स्मिथ कृत C. I. M., पृ० १६६—"ये देवस वर्ग के सिक्के, जिन पर अलग क्रमांक दिया गया है, चक्कर में डालने-

(१) यह राजा संयुक्त प्रांतों में राज्य करता था।

(२) इसके सिक्के कौशांबी से निकलते थे, जहाँ ये प्रायः पाए जाते हैं; और इन सिक्कों पर कौशांबी की हिंदू टकसाल के चिह्न और तत्त्व पाए जाते हैं।

(३) ये सिक्के उसी वर्ग के हैं, जिस वर्ग के सिक्के डा० स्मिथ ने Coin of Indian Musuem के २३ वें प्लेट पर प्रकाशित किए हैं और जिन्हें उन्होंने "अनिश्चित राजाओं के सिक्के" कहा है (देखो आगे § २६ ख)।

(४) इसके सिक्के विदिशा-मथुरा के नाग सिक्कों से मिलते-जुलते हैं।

(५) इसने कम से कम २७ वर्षों तक राज्य किया था, क्योंकि इसके सिक्कों पर राज्यारोहण संवत ६, २० और २७ हैं[1]।

(६) अपने सिक्कों के कारण एक ओर तो पद्मावती और विदिशा के साथ तथा दूसरी ओर वीरसेन तथा

वाले हैं। ये सिक्के आगरा और अवध के संयुक्त प्रांतों में आम तौर पर पाये जाते हैं और इस तरह का एक अच्छा सिक्का, जो पहले मेरे पास था, इलाहाबाद जिले के कोसम नामक स्थान से आया था। इसके ऊपर के अक्षर पुराने ढंग के अक्षरों के समान जान पड़ते हैं। प्रो० रैप्सन ने इस पर लिखे हुए अक्षरों का देवस पढ़ा है। पहला अक्षर, जिसका आकार विचित्र है, साधारणतः 'न' पढ़ा गया है, पर शुद्ध पाठ 'दे' जान पड़ता है। पर इस बात का किसी प्रकार पता नहीं चलता कि यह देव कौन था।'

१. विंसेंट स्मिथ कृत C. I. M. पृ० २०६।

कोशांबीवाले सिक्को के दूसरे राजाओ के साथ इसका संबंध स्थापित होता है।

जैसा कि हम आगे चलकर § २६ ख मे बतलावेगे, कौशांबी के सिक्के वास्तव में भार-शिव राजाओं के सिक्के है। इनमें से कई सिक्को पर ऐसे नाम हैं जिनके अंत मे नाग शब्द आया है। हमारे सिक्को का यह नव नाग वही राजा जान पड़ता है जिसके नाम पर पुराणो ने नव नाग या नव नाक राजवंश का नामकरण किया है। यही उस नव नाग राजवंश का प्रतिष्ठापक था जिस राजवंश की राजकीय उपाधि भार-शिव थी। इसके सिक्को पर के अक्षर आकार मे वैसे ही हैं, जैसे हुविष्क वासुदेव के लेखो के अक्षर है, इसलिये हम यह मान सकते है कि यह वासुदेव का समकालीन था और इसका समय लगभग सन् १४०–१७० ई० निश्चित कर सकते है।

सन् १७५–१८० के लगभग वीरसेन द्वारा मथुरा मे भार-शिव राज्य की स्थापना

§ २६ क. हमे पता चलता है कि सन् १७५ या १८० ई० के लगभग एक नाग राजा ने मथुरा मे फिर से हिंदू राज्य स्थापित किया था। वह राजा वीरसेन था। वीरसेन के उत्थान से केवल नाग-वंश के इतिहास मे ही नही बल्कि आर्यावर्त्त के इतिहास मे भी मानो एक नवीन युग का आरंभ होता है। उसके अधिकांश सिक्के उत्तरी भारत मे और विशेषतः समस्त संयुक्त प्रांत मे पाए गए है और कुछ सिक्के पंजाब मे भी मिले है[1]।

---

१. विंसेंट स्मिथ के शब्दो में—"ये सिक्के पश्चिमोत्तर प्रांतों और पंजाब में भी साधारणत. पाए जाते हैं।" J. R. A. S., १८९७, पृ० ८७६। साथ ही देखो Catalogue of Coins in Lahore Musuem, तीसरा भाग, पृ० १२८ राजस C. I. M., तीसरा भाग, पृ० ३२–३३।

मथुरा में तो ये बहुत अधिकता से पाए जाते हैं, जहाँ से कनिंघम को प्रायः सौ सिक्के मिले थे। कारलेली को बुलंदशहर जिले के इंदौरखेड़ा नामक स्थान में ऐसे तेरह सिक्के मिले थे। ऐसे सिक्के एटा जिले के कुछ स्थानों में, कन्नौज में तथा फर्रुखाबाद जिले के कुछ और स्थानों में भी पाए गए है[1]। इस प्रकार यह सूचित होता है कि वह मथुरा में रहता था और समस्त आर्यावर्त्त दोआब पर राज्य करता था। आम तौर पर उसके जो सिक्के पाए जाते है, वे छोटे और चौकोर होते है। उन पर सामने की ओर ताड़ का पेड़ होता है[2] और सिंहासन पर बैठी हुई एक मूर्ति होती है[3] (विंसेंट स्मिथ C. I. M. पृ० १६१)। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, यह ताड़ का वृक्ष नागों का चिह्न है। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, यह चिह्न भार-शिवों के बनवाए हुए स्मृति चिह्नों आदि पर भी मिलता है (§ ४६ क)। इस राजा के एक और तरह के भी सिक्के मिलते है जिनमें के एक सिक्के का चित्र जनरल कनिंघम ने अपने Coins of Ancient India के आठवें प्लेट में दिया है। इसका क्रमांक १८ है। इसमें एक मनुष्य[4] की कदाचित् बैठी हुई मूर्ति है जिसके हाथ में एक खड़ा हुआ नाग है। इस राजा के एक तीसरे प्रकार के सिक्के का चित्र प्रो०

---

१. विंसेंट स्मिथ कृत C. I. M, पृ० १९१।

२. उक्त ग्रंथ पृ० १६१।

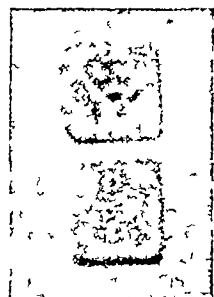
३. सिंहासन पर जो छत्र बना है, उसे कुछ लोग प्रायः भूल से राजमुकुट समझते हैं। (मिलाओ C. I. M, पृ० १६७)।

४. देखो यहाँ दिया हुआ प्लेट १। इसमें दिए हुए चित्र कनिंघम के दिए हुए चित्र के फोटो नही हैं, बल्कि उन्हें देखकर हाथ से तैयार किए हुए चित्र हैं।

त्रय नाग
(इंडियन म्यूजियम)

Coins of Indian Museum प्लेट २३

Coins of Ancient India प्लेट २३



जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी
१९०० पृ० ६७ वीरसेन
पृ० ३३

रैप्सन ने सन् १९०० के जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी में, पृष्ठ ६७ के सामनेवाले प्लेट में, दिया है जिसका क्रमांक १५ है। उसमे एक छत्रयुक्त सिहासन पर एक बैठी हुई स्त्री की मूर्त्ति है और सिहासन के नीचे वाले भाग से नाग उठकर छत्र तक गया है, और ऐसा जान पडता है कि वह नाग छत्र को धारण किए हुए है और सिहासन की रक्षा कर रहा है। यह मूर्त्ति गंगा की है, क्योंकि इसके दाहिने हाथ मे एक घड़ा है[1]। सिक्के के दूसरे या पिछले भाग मे ताड़ का एक वृक्ष है जिसके दोनो ओर उसी तरह के कुछ चिह्न है। बनावट की दृष्टि मे यह सिक्का भी वैसा ही है, जैसे नव के और सिक्के है, और इसमे राजा की उपाधि की पूर्ति करने के लिये नाग की मूर्त्ति दी गई है। इस पर समय भी उसी प्रकार दिया गया है, जिस प्रकार नव के और सिक्कों पर दिया गया है। नाग तो वंश का सूचक है और ताड़ का वृक्ष राजकीय चिह्न है। कुछ सिक्कों मे राजसिहासन पर के छत्र तक जो नाग बना है, उसका संभवतः दोहरा अर्थ और महत्त्व है। वह नागवश का सूचक तो है ही, पर साथ ही संभवतः वह अहि-च्छत्र का भी सूचक है, अर्थात् वह यह सूचित करता है कि यह सिक्का अहिच्छत्र की टकसाल मे ढला हुआ है। इस राजा का पद्मावती की टकसाल का ढला हुआ भी एक सिक्का है[2] जिस पर लिखा है—महाराज व(वि), और साथ ही उस पर मोर का एक

१. देखो यहाँ दिया हुआ प्लेट न० १। [उस समय के जिस ढले हुए सिक्के का चित्र प्लेट २३ क्रमाक १ मे है, उसमें की खड़ी हुई मूर्त्ति मुझे गगा की जान पड़ती है।]

२ कनिघम कृत Coins of Mediaval India, प्लेट २, चित्र स० १३ और १४।

चित्र है जो वीरसेन या महासेन देवता का वाहन है। पद्मावती के नाग राजाओं के सिक्कों में से यह सबसे आरंभिक काल का सिक्का है (§ २७)। तौल, आकार और चिह्न आदि के विचार से भी ये सब सिक्के हिंदू सिक्कों के ही ढंग के हैं। यही बात हम दूसरे ढंग से यों कह सकते हैं कि वीरसेन ने कुशनों के ढंग के सिक्कों का परित्याग करके हिंदू ढंग के सिक्के बनवाए थे।

वीरसेन का शिलालेख

फर्रुखाबाद जिले की तिरवा तहसील के जानखट नामक गाँव में सर रिचर्ड बर्न ने छत्तीस वर्ष पहले[1] इस राजा का एक शिलालेख ढूँढ़ निकाला था। मि० पारजिटर द्वारा संपादित Epigraphia Indica खंड ११, पृ० ८५ में यह लेख प्रकाशित हुआ है। कई टूटी हुई मूर्तियाँ और नक्काशी किए हुए पत्थर के टुकड़े हैं और यह लेख पत्थर की बनी हुई एक पशु की मूर्त्ति के सिर और मुँह पर खुदा है[2]। इसमें भी वही राजकीय चिह्न खुदे हैं जो उस सिक्के में है जिसका चित्र प्रो० रैप्सन ने दिया है। उसमें एक वृक्ष का सा आकार बना है जो उन्हीं के सिक्कों पर बने हुए वृक्ष के ढंग का है, और इसलिए हम कह सकते हैं कि वह

---

२ J. R. A. S, १९००, पृ० ५५३।

१ इसमें संदेह नहीं कि मूर्त्तियों आदि के ये टुकड़े भार-शिव कला के नमूने हैं। सौभाग्य से मुझे इनका एक फोटो मिल गया। यह भारत के पुरातत्त्व विभाग द्वारा सन् १९०९ में लिया गया था। देखो यहाँ दिया हुआ प्लेट नं० २। इस चित्र के लिये मैं पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर जनरल राय बहादुर दयाराम साहनी को धन्यवाद देता हूँ। इसमें का स्तंभ मकर तोरण है। इसमें की स्त्री की मूर्त्ति गंगा की है जो राजकीय चिह्न है।

वृक्ष ताड़ का है। उसके आस-पास सजावट के लिये कुछ और भी चिह्न बने है, और ये चिह्न भी सिक्कों पर बने हुए चिह्नों के समान ही है, पर अभी तक यह पता नहीं चला है कि ये चिह्न किस बात के सूचक है। ये राजकीय चिह्न है, और इसी कारण मै समझता हूँ कि ये राज्य अथवा राजवंश की स्थापना के सूचक है। यह शिलालेख स्वामिन् वीरसेन के राज्य-काल के तेरहवें वर्ष का है (स्वामिन् वीरसेन संवत्सरे १०, ३)। इसका शेष अंश इतना टूटा-फूटा है कि उससे यह पता नहीं चल सकता कि इस लेख के अंकित करने का उद्देश्य क्या था। इस पर ग्रीष्म ऋतु के चौथे पक्ष की आठवीं तिथि अंकित है। ......इसके अक्षर वैसे ही है, जैसे अहिच्छत्रवाले सिक्के पर के अच्छर है। इसके अतिरिक्त और सभी बातों मे वे अक्षर आदि हुविष्क और वासुदेव के उन शिलालेखों के अक्षरों से ठीक मिलते है जो मथुरा मे पाए गए थे और जो डा० बुहलर द्वारा प्रकाशित Epigraphia Indica के पहले और दूसरे खंडों मे दिए है। उदाहरण के लिये, इस शिलालेख को उस शिलालेख से मिलाइए, जो कुशान संवत् ६० का है और जो उक्त ग्रंथ के दूसरे खंड में पृ० २०५ के सामनेवाले प्लेट पर दिया है। दोनों मे ही स, क और न की खड़ी पाइयों का ऊपरी भाग अपेक्षाकृत मोटा है। यद्यपि जानखट-वाले शिलालेख मे का इ कुछ पुराने ढंग का है, पर फिर भी वह कुशान संवत् ६० के उक्त शिलालेख के इ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इस शिलालेख मे जो मात्राएँ है, वे कुछ झुकी हुई सी है और वैसी ही है, जैसी कुशान संवत् ४ के मथुरावाले शिलालेख नं० ११ की तीसरी पंक्ति मे सह, दासेन और दानम् शब्दों मे है, अथवा कुशान संवत् १८ के शिलालेख नं० १३ की तीसरी पंक्ति मे है अथवा दूसरी पंक्ति के 'गणातो' मे और साथ ही दूसरे शब्दों

के साथ आए हुए 'तो' में है और कुशन संवत ९८ के शिलालेख (क्षुणे गणातो) में हैं। जानखट के शिलालेख की कई बातें वासुदेव के समय के शिलालेखों की बातों से कुछ पुरानी हैं; और कुछ बातें उसी समय की हैं, इसलिये हम कह सकते हैं कि यह शिलालेख कम से कम वासुदेव कुशन के समय के बाद का नहीं है[१]।

---

१ डा० विंसेंट स्मिथ के Catalogue of Coins में वीरसेन के जो सिक्के दिए हैं, उनका समय पढने में मि० पारजिटर ने एक वाक्यांश का कुछ गलत अर्थ किया है। उन्होंने यह समझा था कि डा० स्मिथ ने यह बात मान ली है कि वीरसेन का समय लगभग सन् ३०० ई० है। पर उन्होंने इस बात पर ध्यान नही दिया कि वीरसेन के जिन सिक्को के चित्र कनिंघम और रैप्सन ने दिए हैं, वे सिक्के दूसरे हैं और आगे या बाद के वर्ग या विभाग मे वीरसेन के नाम से जो सिक्के दिए गए हैं, वे उन सिक्को से बिलकुल अलग हैं। [बाद-वाला वीरसेन वास्तव मे प्रवरसेन है (§ ३०)]। इन दोनो प्रकार के सिक्को का अंतर समझने मे अभाग्यवश मि० पारजिटर से जो भूल हो गई है, उसका फल बुरा हुआ है। यद्यपि वे यह मानते हैं कि ई० पू० पहली शताब्दी से लेकर ई० दूसरी शताब्दी तक के शिलालेखो आदि मे इ और व के तो यही रूप मिलते हैं, पर श का यह रूप केवल ईसवी दूसरी शताब्दी के ही लेखो मे मिलता है, पर फिर भी वीरसेन के समय के संबंध मे मि० विंसेंट स्मिथ ने जो अनुमान किया है [पर डा० स्मिथ का यह अनुमान उस वीरसेन के संबंध मे कभी नही था, जिसके विषय मे हम यहाँ विवेचन कर रहे हैं।] उससे इस शिलालेख के समय का मेल मिलाने के लिये मि० पारजिटर कहते हैं कि यह शिलालेख ईसवी तीसरी शताब्दी का होगा और बहुत संभव है कि

राजा नव की तरह वीरसेन ने भी अपने राज्य-काल के पहले वर्ष से ही महाराज के समस्त शासनाधिकार अपने हाथ मे ले

उक्त शताब्दी के अंतिम भाग का हो। मि० पारजिटर के ध्यान मे यह बात कभी नहीं आई कि डा० स्मिथ ने दो वीरसेन माने थे। मि० पारजिटर ने इस शिलालेख का समय कुछ बाद का निर्धारित करने के दो कारण बतलाए हैं, पर उनमें से एक भी कारण जाँचने पर ठीक नहीं ठहरता। इनमे से एक कारण वे यह बतलाते हैं कि 'ा' की जो मात्रा ऊपर की ओर कुछ झुकी हुई है, वह कुशन ढंग की नहीं बल्कि गुप्त ढग की है। दूसरा कारण वे यह बतलाते हैं कि इस शिलालेख के अक्षरों का ऊपरी भाग अपेक्षाकृत कुछ मोटा है। पर सिद्धाततः भी और वस्तुतः भी मि० पारजिटर की ये दोनो ही बाते गलत हैं। किसी शिलालेख का काल निर्धारित करने के लिये उन्होंने यह सिद्धांत बना रखा है कि उस शिलालेख मे अक्षरों के जो बाद के या नये रूप मिलते हैं, उनका व्यवहार कब से (अर्थात् असुक सयय से) होने लगा था। इस सिद्धात के सबध मे केवल मुझे ही आपत्ति नही है, बल्कि मुझसे पहिले और भी कुछ लोगों ने इस पर आपत्ति की है। स्वय डा० फ्लीट ने एक पाद-टिप्पणी मे इस पर आपत्ति की है [E.I. ११, ८६]। किमी लेख मे पहले के या पुराने ढग के कुछ अक्षर भी मिल सकते हैं और उस दशा मे उनका समय पहले से निश्चित समय की अपेक्षा और भी पुराना सिद्ध हो सकता है। यदि मि० पारजिटर के दोनो कारण वस्तुतः ठीक भी मान लिए जाये तो भी जिस लेख के अक्षरो को वे ई० पू० पहली शताब्दी से ईसवी दूसरी शताब्दी तक के मानते हैं, और उसके बाद के नहीं मानते, उन्ही अक्षरो के आधार पर यह लेख ईसवी तीसरी शताब्दी का कभी माना नहीं जा सकता। पर वास्तविक घटनाओ के विचार से भी मि० पारजिटर का मत भ्रमपूर्ण

लिए थे। जानखट-वाला शिलालेख स्वयं उसी के राज्यारोहण-संवत का है¹; पर कुशन शासन-काल मे सब जगह कुशन संवत् लिखने की ही प्रथा थी। शिवनंदी के शिलालेख मे भी स्वामिन् शब्द का प्रयोग किया गया है; और हिंदू धर्मशास्त्रों तथा राजनीति-शास्त्रों के अनुसार (मनु ६, २६४; ७, १६७,) इसका अर्थ होता है,—देश का सबसे बड़ा राजा या महाराज। वीरसेन ने जिस प्रकार अपने सिक्कों मे फिर से हिंदू पद्धति ग्रहण की थी उसी प्रकार यहाँ अपनी उपाधि देने मे भी उसने उसी सनातन पद्धति का अवलंबन किया था। कुशनों मे जो बड़ी बड़ी राजकीय

कुशन संवत् ४ के लेखो के अक्षरो मे भी उनका ऊपरी भाग कुछ मोटा ही मिलता है। (देखिए Epigraphia Indica, भाग २ मे पृ० २०३ के सामनेवाले प्लेट मे का लेख नं० ११ और उससे भी पहले का अयोध्यावाला शुंग शिलालेख जो मैने संपादित करके J. B. O. R. S. खंड १०, पृ० २०२ मे छपवाया है और E. I. खंड २, पृ० २४२ में प्रकाशित पभोसावाले शिलालेख, जिन्हे सभी लोगो ने ई० पू० शताब्दियों का माना है।) उनका यह मत है कि इस शिलालेख मे 'ा की मात्राएँ ऊपर की ओर कुछ अधिक उठी हुई हैं, पर यह मत इसलिये बिलकुल नहीं माना जा सकता कि E. I., खंड २ मे पृ० २४३ के सामनेवाले प्लेट मे पभोसा का जो शिलालेख है, उसकी पहली पंक्ति मे 'ा' की सभी मात्राएँ ऐसी हैं: और इसी प्रकार के दूसरे बहुत से उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

१ डा० विंसेंट स्मिथ ने यह मानने मे भूल की थी कि इसका समय कुशन संवत् ११३ है (C. I. M. पृ० १६२), और सर रिचर्ड बर्न ने उसे जो १३ पढ़ा था, वह बहुत ठीक पढ़ा था।

उपाधियाँ लिखने की प्रथा थी, उसका वीरसेन ने यहाँ भी परित्याग किया है और अपने यहाँ की प्राचीन पारिभाषिक उपाधि ही दी है।

एक तो ये सिक्के बहुत दूर दूर तक पाए जाते है, और दूसरे इस तरह की कुछ और भी बाते है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि वीरसेन ने मथुरा के आस-पास के समस्त स्थानो और गगा तथा यमुना के बीच के सारे दोआब से, जो सब मिलाकर आधुनिक संयुक्तप्रांत है, कुशनो को निकाल दिया था। कुशनो के शिलालेखो, सिक्को के समय और वीरसेन के शिलालेखो से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो जाती है कि कुशन सवत् ९८ के थोड़े ही दिनो बाद वीरसेन ने मथुरा पर अधिकार कर लिया था और यह समय सन् १८० ई० के लगभग हो सकता है। अतः जानखट-वाला शिलालेख संभवतः सन् १८०-८५ के लगभग का होगा। वीरसेन ने कुछ अधिक दिनो तक राज्य किया था। जनरल कनिंघम ने उसके एक सिक्के का जो चित्र दिया है, उस पर मेरी समझ से उसका राज्यारोहण-संवत् ३४ है यदि उसका शासन-काल चालीस वर्ष मान ले तो हम कह सकते है कि वह सन् १७० से २१० ई० तक कुशनो के स्थान मे सम्राट् पद पर था।

उससे पहले इस वंश का जो राजा नव नाग उसका पूर्वाधिकारी था, वह वासुदेव के शासन-काल मे सयुक्तप्रांत के पूर्वी भाग मे एक स्वतंत्र शासक की भाँति राज्य करता रहा होगा, और वीरसेन के शासन का दसवाँ या तेरहवा वर्ष वासुदेव के अंतिम समय मे पड़ा होगा। इस प्रकार वह सन् १७० ई० के लगभग सिहासन पर बैठा होगा।

वीरसेन के सिक्को और असंदिग्ध भार-शिव राजाओ के

सिक्कों मे जो घनिष्ठ संबंध है (§ २६ ख), उसके सिक्कों पर मानों उसके नाम की पूर्त्ति करने के लिये नाग का जो चिह्न है, और मथुरा मे उसके उत्थान और राज्य-स्थापन का जो समय है, उसको देखते हुए हम कह सकते हैं कि यह वीरसेन शिलालेखों मे के भार-शिव नागों और पुराणों मे के नव नागों मे के आरंभिक राजाओं मे से एक था।

§ २६ ख. वीरसेन के संबंध में हम विवेचन कर चुके है और अब हम दूसरे राजाओं के संबंध मे विचार कर सकते हैं।

शिलालेखों से हमें यह पता चलता है कि

दूसरे भार-शिव राजा भवनाग भार-शिव था और भार-

शिव राजाओं में अंतिम था।

सिक्कों से पता चलता है कि उससे पहले उसके वंश में और भी कई राजा हो चुके थे। उन सिक्कों से यह भी पता चलता है कि इनका वंश आगरा और अवध के संयुक्त प्रांतो मे राज्य करता था, क्योंकि वहीं ये सिक्के बहुत अधिक संख्या मे मिलते है, और उन्हीं सिक्कों से यह भी पता चलता है कि कौशाम्बी मे इन राजाओं की एक खास टकसाल थी। मुद्राशास्त्र अथवा इतिहास के ज्ञाताओं ने अभी तक यह निश्चित नहीं किया है कि ये सिक्के किस राजवंश के हैं; और न अभी तक इन सिक्कों का पारस्परिक संबंध ही निश्चित हुआ है। इसलिये मैं यहाँ उन संबंध मे पूरा पूरा विचार करता हूँ।

इस प्रकार के सब सिक्के कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम में हैं। ये सब दसवे विभाग मे रखे गए हैं और यह विभाग उत्तरी भारत के अनिश्चित फुटकर प्राचीन सिक्कों का है। उसके चौथे

उपविभाग (C. I. M. पृ० २०५, २०६) मे नीचे लिखे सिक्को के विवरण है[1] ।

क्रमांक ७. A. S B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० ६—डा० स्मिथ इसके वर्णन मे कहते है कि रेलिग या कठघरे मे से एक विलक्षण चीज निकली हुई है। ब्राह्मी न, पीछे की ओर अशोक लिपि का ज (?) ।

क्रमांक ८. A S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० १०—कठघरे के अंदर एक वृक्ष, जिसकी पॉच शाखाएँ या पत्तियॉ है और ईसवी दूसरी शताब्दी के अक्षरो मे एक ब्राह्मी लेख है जिसे डा० स्मिथ ने "चीज" पढ़ा है। पीछे की ओर शेर और उसके ऊपर कठघरा या रेलिग है। लिपि ब्राह्मी। पहले पढ़ा नही गया था।

क्रमाक ९. A. S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० ११—यह अपेक्षाकृत कुछ छोटा सिक्का है जिस पर ब्राह्मी अक्षरो मे लेख है जिसे डा० स्मिथ ने "चराज" या "चराजु" (बड़े अक्षरो मे) पढ़ा है। पीछे की ओर क्षेत्र मे एक ब्राह्मी अक्षर है जो डा० स्मिथ के मत से ल है।

क्रमांक १०. A. S B. इसका चित्र डा० वि० स्मिथ ने नही दिया है। इससे भी कठघरे मे एक वृक्ष है। पीछे की ओर शेर खडा है जिसके ऊपर एक कुडल सा बना है। उसके बगल मे जो

---

१. सुभीते के लिये मैने इन सिक्को के चित्र प्लेट न० १ पर दे दिए है। सिक्के आकार मे कुछ छोटे कर दिए गए हैं। मुझे इडियन म्यूजियम से श्रीयुक्त के० एन० दीक्षित की कृपा से विशेष रूप से इन सिक्को के ठप्पे मिल गए थे, जिसके लिये मैं दीक्षित जी को धन्य-वाद देता हूँ।

कुछ लिखा है, उसे डा० स्मिथ ने "त्रय नागस" पढ़ा है। त्रय के पहले यन (?) है। इसका आकार और इस पर के चिह्न वैसे ही हैं, जैसे इसके बादवाले सिक्के में हैं जिसका क्रमांक ११ है और जो प्लेट नं० २३ का १२ वाँ चित्र है। इस सिक्के का चित्र भी मैं यहाँ देता हूँ।

क्रमांक ११. A. S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० १२—कठघरे में वृक्ष है और ब्राह्मी में एक लेख है जिसे डा० स्मिथ ने "रथ यण गिच (f) म त (स) ?" पढ़ा है। पीछे की ओर शेर खड़ा है। उसकी पीठ पर ब्राह्मी अक्षर है जिन्हें डा० स्मिथ ने निश्चित रूप से व पढ़ा है और जिसके नीचे एक और अक्षर है जिसे उन्होंने य पढ़ा है।

क्रमांक १२. I. M., Æ., प्लेट २३, चित्र नं० १३—डा० स्मिथ ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—कठघरे में वृक्ष, वज्र, किनारे पर कुछ लेख के चिह्न। (यह वास्तव में सीधा या सामने का भाग है, उलटा या पीछे का भाग नहीं है।) [पीछे की ओर कठघरे में वृक्ष और अस्पष्ट चिह्न, किनारे पर ब्राह्मी में लेख (?) ग भेमनप (या ह)।]

इन सिक्कों के वर्ग के ठीक नीचे उपविभाग नं० २ में डा० स्मिथ ने आठ और सिक्कों की सूची दी है जिन्हें वे देव के सिक्के कहते हैं, पर उन पर का लेख 'देव' है, या नहीं, इसमें उन्हें कुछ संदेह है (पृ० २०६, २०५, १९९)। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, ये सिक्के वास्तव में नव नाग के हैं। इन सिक्कों पर भी कठघरे के अंदर वैसा ही वृक्ष बना है, जैसा ऊपर बतलाए हुए सिक्कों में है और जिसे उन्होंने तथा मुद्राशास्त्र के दूसरे ज्ञाताओं ने कोसम-चिह्न बतलाया है (प्लेट २३, चित्र नं० १५ और १६)।

इन सिक्को मे से कुछ के पिछले भाग पर तो साँड़ की मूर्ति है और कुछ पर हाथी की। सामने की ओर राजा के नाम के ऊपर एक छोटे फनवाले नाग का चित्र है।

इन सिक्को के नीचे लिखी विशेषताएँ ध्यान मे रखने के योग्य है।

कठघरे के अंदर पॉच शाखाओ वाला जो वृक्ष है, वह चित्र नं० १०, १२, १५ और १६ पर तथा क्रमांक १३ के सिक्को पर समान रूप से पाया जाता है। नं० १२, १५ और १६ के सिक्को का रूप और आकार एक समान है। नं० १० का सिक्का आकार मे तो कुछ बडा है, पर उसका रूप उक्त सिक्को के समान ही है। नं० ११ का सिक्का आकार मे तो बहुत छोटा है, पर उसका भी रूप वैसा ही है। इन सिक्को को देखने से यह निश्चित हो जाता है कि ये सब सिक्के एक ही वर्ग के है। और फिर एक बात यह भी है कि इन सभी सिक्को पर समय या संवत् दिया हुआ है।

क्रमांक १० के सिक्के का चित्र डा० स्मिथ ने नही दिया है, पर मैने उसका ठप्पा बहुत ध्यानपूर्वक देखा है और उसकी सब बातो पर विचार किया है। जिस लेख को डा० स्मिथ ने निश्चयपूर्वक त्रय नागस पढ़ा है, वह स्पष्ट और ठीक है[1]। उस सिक्के के एक ठप्पे का चित्र मै यहाँ देता हूँ। फोटो लेने मे इसका आकार कुछ छोटा हो गया है। इसका वास्तविक आकार वही है जो डाक्टर

---

१ इस सिक्के और C. I M, पृ० २०६ के क्रमाक १२ के ठप्पो के लिये मै इडियन म्यूजियम के श्रीयुक्त एन० मजुमदार को धन्यवाद देता हूँ। यद्यपि अक्षर त्र मेरे फोटोग्राफ मे नही आया है, पर फिर भी वह मेरे ठप्पे पर स्पष्ट रूप से आया है।

स्मिथ के क्रमांक १२, प्लेट २३ के चित्र नं० १३ का है। इस पर भी वही वृक्ष का चिह्न है जो औरों पर है। इससे का त्र कटघरे के नीचे वाले भाग के पास से आरंभ होता है। उससे पहले और कोई अक्षर नहीं है। संभव है कि वहाँ और किसी प्रकार का कोई चिह्न रहा हो, पर इस संबंध में मैं निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकता। डा० स्मिथ ने नागस मे जिस अक्षर को स पढ़ा है, वह संभवतः स्य है। पीछे की ओर शेर के ऊपर सूर्य और चन्द्रमा है—कोई मंडल नहीं है—जो ऊपर की ओर उभड़े हुए है। इसका विशेष महत्त्व यही है कि इससे यह सिद्ध होता है कि संयुक्तप्रांत मे इस प्रकार के नाग सिक्के बनते थे। अब मैं उस स्थान के संबंध मे कुछ कहना चाहता हूँ जहाँ देव (शुद्ध रूप 'नव') वर्ग के सिक्के मिले है। डा० स्मिथ का मत है कि वे कोसम की टकसाल के जान पड़ते हैं, क्योंकि इस वर्ग का एक सिक्का उन्हे कौशांबी से मिला था, और उस पर वृक्ष का जो चिह्न है, उसका संबंध कौशांबी की टकसाल से प्रसिद्ध है। इस वर्ग के जिन सिक्कों के चित्र प्रकाशित हुए है, अब मैं उनके संबंध मे अपने विचार बतलाता हूँ।

क्रमांक ८ और ९ प्लेट के चित्र नं० १० और ११ पर एक ही नाम अंकित है। वह चरज पढ़ा जाता है। नं० ८ के अक्षर भी चरज ही पढ़े जाते हैं। इसमे च और ज के बीच मे जो र है, उसे डा० स्मिथ इसलिये पढ़ना भूल गए थे कि वह दूसरे अक्षरों की अपेक्षा कुछ पतला है। इस सिक्के पर पीछे की ओर प्लेट २३ चित्र नं० १० की दूसरी पंक्ति नागश पढ़ी जाती है। और उसी के पीछे की ओर शेर के ऊपर २० और ८ (२८) के सूचक अंक या

---

१. २० के सूचक चिह्न के पहले एक खंडित अक्षर है जो संभवतः न = संवत् है।

चिह्न है। इस प्रकार यह सिक्का चरज नाग का है और उसके राज्यारोहण सवत् २८ का है। चर मंगल ग्रह का एक नाम है।

क्रमांक ११ (प्लेट मे के चित्र नं० १२) पर लिखा है—(श्री) हय नागश २०, १०। डा० स्मिथ ने इसमे जिसे र पढ़ा है और खड़ी पाई की तरह समझा है, वह संभवतः श्री का एक अंश है, जिसे उन्होने थ पढ़ा है, वह वास्तव मे ह है, और जिसे उन्होने नागि पढ़ा है, वह नाग है। जिसे वह च पढ़ते है, उसे मै २० का चिह्न समझता हूँ और जिसे वह म समझते है, वह १० का सूचक चिह्न है। उसमे कही कोई त और स नही है और इसके संबंध मे स्वय उन्हे भी पहले से सदेह ही था। कठघरे के नीचे वाले भाग के कुछ अश को डा० स्मिथ कोई अक्षर या लेख समझते थे। पीछे की ओर ऊपर वाले जिस चिह्न को डा० स्मिथ ने व पढ़ा था पर जिसके ठीक होने मे उन्हे संदेह था, और उसके ऊपर जिसे उन्होने य पढ़ा था, वह दोनो मिलकर सॉड़ का चिह्न है। इस सॉड के नीचे कोई अक्षर नही है। डा० स्मिथ ने इसके पिछले भाग का ऊपरी सिरा नीचे की ओर करके पढ़ा है। उस पर का सारा लेख इस प्रकार है—श्री हयनागश ३०।

अब हम छोटे और कम दामवाले सिक्के पर विचार करते है जिसका क्रमाक ७ है और जो प्लेट नं० २३ का नवॉ चित्र है। डा० स्मिथ ने इसके सामने वाले भाग पर केवल एक अक्षर न पढ़ा था और पीछेवाले भाग पर अशोक लिपि का केवल ज पढ़ा था। जिसे वह अशोक लिपि का ज कहते है, वह ६ का सूचक चिह्न या अंक है और यह राज्यारोहण-संवत् है। सामने वाले भाग का लेख स य ह पढ़ा जाता है। यह लेख उलटी तरफ से पढ़ने पर ठीक पढ़ा जाता है और सिक्को तथा मोहरो पर के लेखो

के पढ़ने का यह क्रम कोई नया नहीं है। इसे दाहिनी ओर के ह से पढ़ना शुरू करना चाहिए। वह हयस है अर्थात् हय नाग का। इसके छोटे आकार के विचार से इसका मिलान चरज के छोटे सिक्के के साथ करना चाहिए जिससे यह मेल खाता है।

चरज के छोटे सिक्के के पीछे वाले भाग पर समय या संवत् है। डा० स्मिथ ने उसे ज पढ़ा है, पर मैं कहता हूँ कि वह ३० का सूचक चिह्न या अंक है। यह सिक्का कम मूल्य का है और चरज के बड़े सिक्के के बाद बना था।

क्रमांक १२ [प्लेट २३, चित्र नं० १३]—इसके सामनेवाले भाग पर, जिसे डा० स्मिथ ने भूल से पिछला भाग समझ लिया है, (श्री) ब (र्) हिनस लिखा है। बाईं ओर के वृक्ष की पत्तियाँ मोर की दुम के साथ मिली हुई है, अर्थात् यदि नीचे की ओर से देखा जाय तो वे वृक्ष की शाखाएँ जान पड़ती है, और यदि सिक्के का ऊपरी सिरा नीचे कर दिया जाय तो वही शाखाएँ मोर की दुम बन जाती है। यह मोर राजा के नाम बर-हिन का सूचक है। सिक्के के पिछले भाग पर भी वही वृक्ष है और कुछ लेख है जिसका कुछ अंश घिस गया है। टप्पे पर जो कुछ आया है, वह मेरी समझ मे ना ग स है, अर्थात् बीच का केवल ग पढ़ा जाता है और उसके पहले का न तथा बाद का स घिस गया है। जिसे डा० स्मिथ ने वज्र समझा है, वह संभवतः ७ का अंक है और यह अंक सॉड़ की मूर्ति के नीचे है।

इस प्रकार हमे नव नाग और वीरसेन के बाद नीचे लिखे चार राजा मिलते है—हय नाग जिसने तीस वर्ष या इससे कुछ अधिक समय तक राज्य किया था। चरज नाग जिसका शासन-काल भी तीस वर्ष या इससे अधिक है, बर्हिन नाग (सात वर्ष)

और त्रय नाग जिसके शासन-काल की अवधि का अभी तक पता नहीं चला है। हय नाग के सिक्के पर की लिपि सबसे अधिक प्राचीन है और वीरसेन के समय की लिपि से मेल खाती है। उसका समय वीरसेन के समय के ठीक उपरांत अर्थात् सन् २१० ई० के लगभग होना चाहिए। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन सभी राजाओं के सिक्कों पर समय भी दिए हुए हैं और ताड़ का वृक्ष भी है, और प्रो० रैप्सन के अनुसार वीरसेन के सिक्के पर भी वही ताड़ का वृक्ष है। मैंने भी मिलाकर देखा है कि वीरसेन के शिलालेख में जो वृक्ष का चिह्न है, वह भी ऐसा ही है। वह वृक्ष बिलकुल वैसा ही है जैसा भार-शिवों के इन सिक्कों पर है। वीरसेन का समय तो सन् २१० ई० है ही, अब यदि हम बाद के चारों राजाओं का समय अस्सी वर्ष भी मान लें तो उनका समय लगभग सन् २१० से २६० ई० तक होता है। ऐसा जान पड़ता है कि इन चारों में से कुछ राजाओं ने अधिक दिनों तक राज्य किया था, और जिस प्रकार गुप्त सम्राटों में छोटे लड़के राज्याधिकारी हुए थे, उसी प्रकार इनमें कुछ छोटे लड़के ही सिंहासन पर बैठे होंगे। वाकाटक और गुप्त वंशावलियों का ध्यान रखते हुए मैंने भव नाग का समय लगभग सन् ३०० ई० निश्चित किया है। भव नाग वास्तव में प्रवरसेन प्रथम का सम-कालीन था और प्रवरसेन प्रथम उधर समुद्रगुप्त का सम-कालीन था, यद्यपि समुद्रगुप्त के समय प्रवरसेन प्रथम की अवस्था कुछ अधिक थी। इसलिये इन राजाओं के जो समय यहाँ निश्चित किए गए हैं, वे अप्रत्यक्ष रूप से भव नाग के समय को देखते हुए भी ठीक जान पड़ते हैं।

सिक्कों पर दिए हुए लेखों और उनकी बनावट तथा उन पर की दूसरी बातों का ध्यान रखते हुए भार शिवों या मुख्य वंश के नव नागों की सूची इस प्रकार बनाई जा सकती है।

लगभग			
सन् १४०—१७० ई०	१ नव नाग	(सिक्के मिलते हैं)	२७ वर्ष या इससे अधिक समय तक शासन किया।
सन् १७०—२१० ई०	२ वीरसेन नाग	(सिक्के और शिलालेख मिलते हैं)	३४ वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २१०—२४५ ई०	३ हय नाग	(सिक्के मिलते हैं)	३० वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २४५—२५० ई०	४ त्रय नाग	(सिक्के मिलते हैं)	... ...
सन् २५०—२६० ई०	५ बर्हिन नाग	(सिक्के मिलते हैं)	७ वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २६०—२९० ई०	६ चरज नाग	(सिक्के मिलते हैं)	३० वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २९०—३१५ ई०	७ भव नाग	(शिलालेख मिलते हैं)	... ...

यह सूची पुराणों से भी ठीक ठीक मिलती है, क्योंकि उनमें कहा है कि नवनागों के सात राजाओं ने राज्य किया था[1]। अब हम इस बात पर विचार करना चाहते है कि नव नागों की जो और शाखाएँ पद्मावती तथ दूसरे स्थानों मे गई थीं, उनका क्या हुआ और मुख्य वंश भार-शिव के राजाओ की राजधानी कहाँ थी।

§ २७. कुशन सम्राटों का शासन-काल लगभग एक सौ वर्ष है। यह बात मथुरावाले उन शिलालेखों से मालूम होती है जो उनके राज्य-काल के ६८ वे वर्ष तक के मिलते है। कुशन राजाओ के शासन-काल का ६८ वॉ वर्ष वासुदेव के शासन-काल मे पड़ता था और इसके बाद फिर हमे वासुदेव का और कोई समय या संवत् नहीं मिलता[2]। जब भार-शिव लोग फिर से होशंगाबाद और जबलपुर के जगलो से निकले, तब जान पड़ता है कि वे बघेलखंड होकर गंगा तक पहुँचे थे। बघेलखंडवाली सड़क से जो यात्री गंगा

भारशिव कातिपुरी और दूसरी नाग राजधानियाँ

---

१ नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै। विष्णु और ब्रह्मांड पुराण। I. P. T., ५३।

२. J. B. O. R. S. १६, ३११, ल्यूडर्स की सूची नं० ७६, ७७. E. I. १० परिशिष्ट, पृ० ८. राजतरगिणी (C. I. १६६-१७२) मे कहा है कि काश्मीर में तुरुष्को की केवल तीन पीढियो ने शासन किया था, यथा हुष्क (हुविष्क), जुष्क (वासिष्क), और कनिष्क। इसके क्रम लगाने के लिये अंतिम नाम से आरंभ करके पीछे की ओर चलना चाहिए।

की ओर चलते हैं, वे कंतित[1] के उस पुराने किले के पास आकर पहुँचते है जो मिरजापुर और विंध्याचल के कस्बों के बीच मे है। जान पड़ता है कि यह कंतित वही है जिसे विष्णु की कांतिपुरी कहा गया है। इस किले के पत्थर के खंभे के एक टुकड़े पर मैंने एक वार आधुनिक देवनागरी में काति लिखा हुआ देखा था। यह गंगा के किनारे एक वहुत वड़ा और प्रायः एक मील लंबा मिट्टी का किला है जिसमें एक वड़ी सीढ़ीनुमा दीवार है और जिसमे कई जगह गुप्त काल की वनी पत्थर की मूर्त्तियाँ[2] या उनके टुकड़े आदि पाए जाते है। यह किला आजकल कंतित के राजाओं की जमींदारी मे है जो कन्नौज और वनारस के गाहड़वाल राजाओं के वंशज है। मुसलमानों के समय मे यह किला नष्ट कर दिया गया था और तव यहाँ के राजा उठकर पास की पहाड़ियों के विजय-गढ़ और माँडा नामक स्थानों मे चले गए थे जहाँ अव तक दो शाखाएँ रहती है। कंतित के लोग कहा करते है कि गहरवारों से पहले यह किला भर राजाओं का था। ऐसा जान पड़ता है कि यह भर शव्द उसी भार-शिव शव्द का अपभ्रंश है और इसका मत-लव उस भर जाति से नही है जिसके मिरजापुर और विंध्याचल मे शासन होने का कोई प्रमाण नही मिलता। यही वात भर देउल[3]

---

१. मुसलमानी काल के कतित का हाल जानने के लिये देखो A. S. I. २१, पृ० १०८ की पाद-टिप्पणी।

२. यहाँ प्रायः सात फुट लवी सूर्य की एक मूर्ति है जो स्पष्ट रूप से गुप्त काल की जान पडती है। आज कल यह किले के फाटक के रक्षक भैरव के रूप मे पूजी जाती है।

३. A. S. R. खड २१, प्लेट ३ और ४ जिनका वर्णन पृ० ४—७ पर है।

के संबंध मे भी कही जाती है जो किसी समय शिव का बहुत बड़ा मंदिर था जिसमे बहुत बड़ा मंदिर था जिसमे बहुत से नाग (सर्प) राजाओ की मूर्त्तियाँ है। यह मंदिर विंध्य की पहाड़ी पर इलाहाबाद से पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम प्रायः पचीस मील की दूरी पर मौघाट नामक स्थान मे था। यह स्थान भरहुत[1] नामक प्रांत मे है जो भारभुक्ति का अपभ्रंश है और जिसका अर्थ है—भारो का प्रांत। आजकल इस देश मे भर नाम के जो आदिम निवासी बसते है, उनके संबंध मे इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता कि मिर्जापुर या इलाहाबाद के जिले मे अथवा इनके आस-पास के स्थानो मे ऐतिहासिक काल मे कभी उनका शासन था। यदि यह मान लिया जाय कि यह दंत-कथा भार-शिव राजवंश के सबध मे है तो इसका सारा अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। भर देउल की वास्तु-कला और मूर्त्तियो आदि का संबध मुख्यतः नागो से है, और किट्टो (Kittoe) ने लिखा है कि उसके समय यह करकोट नाग का मदिर कहलाता था। और इन दोनो बातो से हमारे इस मत का समर्थन होता है कि इसमे का यह भर शब्द भार-शिव के लिये है। नागौद[2] और नागदेय

१ मैने लोगों को भारहुत और भरहुत कहते हुए भी सुना है। मूलतः यह शब्द भारभुक्ति रहा होगा जिसका अर्थ है—भार प्रात या भारो का प्रात।

२. मै तीन बार इस कस्बे से होकर गुजरा हूँ। यह नागौढ और नागौद कहलाता है। नागौढ शब्द का अर्थ हो सकता है—नागो की अवधि या सीमा। मत्स्य पुराण ११३-१० मे यह 'अवधि' शब्द इसी सीमा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

इन दोनों स्थान-नामों से यह सूचित होता है कि इन पर किसी समय बघेलखंड के नाग राजाओं का अधिकार था; और इसी प्रकार भारहुत और संभवतः भर देउल[1] नामों से भी यही सूचित होता है कि ये भार-शिव राजाओं से संबंध रखते हैं।

कंतित[2] है भी ऐसे स्थान पर बसा हुआ कि भार-शिवों के इतिहास के साथ उसका संबंध बहुत ही उपयुक्त रूप से बैठ जाता है; क्योंकि भार-शिव राजा बघेलखंड से चलकर गंगा-तट पर पहुँचे थे। विष्णुपुराण में कहा है—

नव-नागा पद्मावत्यां कांतिपुर्याम् मथुरायां।

इस संबंध में एक यह बात भी महत्त्व की है कि अन्यान्य पुराणों में कांतिपुरी का नाम नहीं दिया है। इसका कारण यही हो सकता है कि भव-नाग का वंश जाकर वाकाटक वंश में मिल

---

१. इस मंदिर की छत चिपटी थी और इसके बरामदे पर ढालुएँ पत्थर लगे थे। पहले इस पर नुकीली दीवारगीर या ब्रैकेट था जो टूट गया था और फिर से बनाकर ठीक किया गया है। कनिंघम ने इसका जो चित्र दिया है, वह फिर से बने हुए ब्रैकेट का है। इस प्रकार के ब्रैकेट मध्ययुग की वास्तुकला में प्रायः सभी जगह पाए जाते हैं, पर निश्चित रूप से कोई यह नहीं कह सकता कि कितने प्राचीन काल से इसकी प्रथा चली आती थी। वहाँ जो बड़ी ईंटें तथा इसी प्रकार की और कई चीजें पाई जाती हैं, वे अवश्य ही बहुत पहले की हैं।

२. यूल का मत है कि टालेमी ने जिसे किंडिया कहा है, वह आजकल का मिरजापुर ही है। देखो मैक्क्रिंडल का Ptolemy, पृ० १३४।

गया था। पुराणों मे भार-शिवों को नव - नाग कहा है। पहले विदिशा में जो नाग हुए थे, वे अर्थात् शेष से वंगर तक नाग राजा आरंभिक नाग है। पर भूतनंदी के समय से, जब कि नाम के अंत मे नंदी (वृष) शब्द लगने लगा तब अथवा जब सन् १५०-१७० ई० के लगभग उनका फिर से उत्थान हुआ; तब से वे लोग निश्चित रूप से भार-शिव कहलाने लगे। राजा नव और उसके उत्तराधिकारियो के सिक्को मे नागो के आरंभिक सिक्को से मुख्य अंतर यही है कि उनमे आरंभिक सिक्को का दात शब्द नहीं पाया जाता और उसके स्थान पर नाग शब्द का प्रयोग मिलता है। भागवत मे नव नागो का उल्लेख नही है और केवल भूतनंदी से प्रवीरक तक का ही वर्णन है। अतः भागवत के कर्ता के अनुसार भूतनंदी के वंश और प्रवीरक के शासन में ही नव नागो का अंतर्भाव हो जाता है। प्रवीर प्रवरसेन वास्तव में शिशु रुद्रसेन का संरक्षक या अभिभावक था और दूसरे पुराणों के अनुसार ये दोनों मिलकर शासन करते थे। विष्णु पुराण मे, जिसके कर्त्ता के पास कुछ ऐसी सामग्री थी जिसका उपयोग और लोगों ने नही किया था, राजधानियों का क्रम इस प्रकार दिया है—पद्मावती, कातिपुरी और मथुरा। संभवतः इसका अर्थ यही है कि नागो की राजधानी पहले पद्मावती मे थी; फिर वहाँ से उठकर कांतिपुरी और वहाँ से मथुरा गई। आज-कल इस विपय मे जो वाते ज्ञात है, उनसे भी इस मत का समर्थन होता है। भूतनंदी के वंशज राजा शिवनदी के समय तक और उसके बाद प्रायः आधी शताब्दी तक राजधानी पद्मावती मे रही। इसके उपरांत पद्मावती कुशन क्षत्रपो की राजधानी हो गई (§§ ३३, ३४)। कुशन साम्राज्य के अंतिम काल मे, अर्थात् सन् १५० ई० के लगभग, भार-शिव लोग गंगा नदी के तट पर कांतिपुरी मे पहुँचे। काशी मे या उसके

आस-पास उन लोगो ने अश्वमेध यज्ञ[1] किए और वहीं उन लोगो के राज्याभिषेक हुए। काशी के पास का नगवा नामक स्थान, जहाँ आजकल हिंदू-विश्वविद्यालय है, उनके नाम से संबद्ध जान पड़ता है। कांतिपुरी से वे लोग पश्चिम की ओर बढ़े और वीरसेन के समय मे, जिसने बहुत अधिक संख्या मे सिक्के चलाए थे और जिसके सिक्के अहिच्छत्र के पूर्व से मथुरा तक पाए जाते है, उन्होंने फिर पद्मावती और मथुरा पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। पद्मावती वाले सिक्को मे से जो आरंभिक सिक्के हैं और जिनपर वि[2] तथा व (˙) अक्षर अंकित है, वे वीरसेन के है। इन दोनो सिक्को पर पीछे की ओर जो मोर बना है, वह वीरसेन का प्रसिद्ध चिह्न है, और यह वीरसेन भी महासेन ही जान पड़ता है जिसका अर्थ है—देवताओं का सेनापति। फिर भीम नाग और स्कंद नाग ने भी अपने सिक्को पर मोर की मूर्त्ति रखी है[3] जिससे जान पड़ता है कि इन दोनो राजाओं ने भी वीरसेन का ही अनुकरण किया

---

१. जान पड़ता है कि सभवतः अश्वमेध यज्ञ कर चुकने के उपरात जो बच्चा पैदा हुआ था, उसका नाम हय नाग रखा गया था।

२. कनिंघम ने इसे ख पढा है, पर मैं इसे वि मानता हूँ, क्योकि इसकी पाई ऊपर की ओर मुडी हुई है और इकार की मात्रा जान पड़ती है। मै इन्हे उन्हीं सिक्को के वर्ग मे मानता हूँ जिन पर महाराज व लिखा है, क्योकि इन दोनो ही प्रकार के सिक्का का पिछला भाग और उन पर के अक्षर आदि समान ही हैं। (देखिए कनिंघम कृत Coins of Mediaeval India प्लेट २, नं० १३ और १४।)

३. कनिंघम कृत Coins of Mediaeval India प्लेट २, नं० १५ और १६, पृ० २३।

था। यद्यपि स्कंद के साथ तो मोर का सवंध है, पर भीम के साथ उसका कोई संवंध नही है, वीरसेन मथुरा तक, वल्कि उससे भी और आगे इंदौरखेड़ा तक पहुँच गया था, क्योंकि वहाँ भी उसके वहुत से सिक्के जमीन मे से खोदकर निकाले गए हैं[१] जिससे सूचित होता है कि बुंदेलखंड के जिस पश्चिमी भाग पर प्रायः सौ वर्ष पहले नागो को हटाकर कुशनो ने अधिकार कर लिया था, उस पश्चिमी बुंदेलखंड पर भी वीरसेन ने फिर से नाग-वंश का राज्य स्थापित करके उसे अपने अधिकार मे कर लिया था

नव नाग

§ २८. पुराणों मे जो "नव-नाग' पद का प्रयोग किया गया है, वह समझ-बूझकर किया गया है, क्योंकि यदि वे उन्हे भार-शिव कहते अथवा स्वयं अपने रखे हुए वैदिशक अथवा वृप नाग आदि नामो से अभिहित करते तो यह पता न चलता कि ये नामो के ही अंतर्गत थे और इन्होने फिर से अपना नवीन राजवंश चलाया था, और न यही पता चलता कि वीच मे कुशनो का राज्य स्थापित हो जाने के कारण इस वंश की शृखला वीच से टूट गई थी, और उस दशा मे व्यर्थ ही एक गड़वड़ी खड़ी हो जाती। विध्य का अर्थात् वाकाटको के साम्राज्य का वर्णन करने के उपरांत पुराणो मे इस प्रकरण का अंत कर दिया गया है और गुप्तो के राजवंश तथा उनके साम्राज्य का वर्णन आरभ करने से पहले नव-नागो का इतिहास समाप्त कर दिया गया है। ऐसा करने का कारण यह था कि शिशुक रुद्रसेन की स्थिति कुछ विलक्षण थी। वह यद्यपि प्रवरसेन वाकाटक का पोता था, तो भी वह भारशिवो के दौहित्र के रूप मे सिहासन पर वैठा था।

१. कनिंघम A. S. I. खड १२, पृ० ४१-४२।

इस बात का इतना अधिक महत्त्व माना गया था कि बालाघाट में वाकाटकों के जो ताम्रलेख आदि मिले हैं, उनमें वह केवल भार-शिव महाराज ही कहा गया है और यह नहीं कहा गया है कि वह वाकाटक भी था[1]। और जैसा कि हम आगे चलकर (भाग २, § ६४) बतलावेंगे, युद्ध-क्षेत्र में समुद्रगुप्त द्वारा मारा जानेवाला रुद्रसेन था जिसका उल्लेख रुद्रदेव के रूप में आया है। यहाँ 'देव' शब्द का अर्थ महाराज है। इस प्रकार नागों का वंश वाकाटकों के युग में समुद्रगुप्त के समय तक चलता रहा। पुराणों में साफ साफ यह भी बतला दिया गया है कि नाग वंश में नव नागों का कौन सा स्थान था; और यह भी बतला दिया गया है कि उनके राज्य की सीमा कहाँ तक थी। पुराणों में नव-नागों को वि (न्) वस्फाणि और मगध के गुप्तों के बीच में स्थान दिया गया है। यह वि (न) वस्फाणि कुशनों का क्षत्रप था जो मगध और पद्मावती में शासन करता था। मगध के गुप्तों के संबंध में विष्णुपुराण में यह कहा गया है कि उनका उत्थान नव नागों के शासन-काल में हुआ था। यह बात मगध के इतिहास के बीच में जोड़ दी गई है और वाकाटक सम्राटों के इतिहास के बाद मगध के इतिहास का एक नया प्रकरण आरंभ किया गया है। नव नागों का राज्य केवल संयुक्त

---

१. यदि कानून या धर्मशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो रुद्रसेन प्रथम (पुत्रिकापुत्र) के राज्यारोहण के कारण मानो भार-शिव राजवंश ने वाकाटकों को दबाकर उनका स्थान ले लिया था, और इस विचार से यही माना जायगा कि प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के साथ ही साथ वाकाटक राजवंश और उसके साम्राज्य तथा शासन का भी अंत हो गया।

प्रांत मे ही नही था, वल्कि पूर्वी और पश्चिमी बिहार मे भी था, क्योकि वायु तथा ब्रह्मांड पुराण की सभी प्रतियो मे कहा गया है कि उनकी राजधानी मथुरा मे भी थी और चंपा[1] (चपावती-भागलपुर) मे भी। जैसा कि हम आगे चलकर तीसरे भाग मे बतलावेंगे, गुप्तो ने चंपा मे अपना एक अलग राज्य स्थापित किया था और पुराणो मे जहाँ गुप्त साम्राज्य-प्रणाली का वर्णन किया गया है, वहाँ इस बात का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है[2]। वहाँ भार-शिव वाकाटक राज्य को हटाकर गुप्त सम्राट् अपना राज्य स्थापित कर रहा था।

---

१. चपा नाम की केवल दो ही नगरियाँ थी—एक तो अग मे जो आजकल चपानगर कहलाता है और जो भागलपुर से प्रायः पॉच मील की दूरी पर है। यह एक पुराना कस्बा था जिसमें वासुपूज्य के जैन मदिर थे। इस वासुपूज्य का जन्म और मृत्यु चंपा मे ही हुई थी। और दूसरा आज-कल की चबा पहाडियो मे एक कस्बा था।

२. वाकाटक साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य के सबंध मे पुराणो मे वहुत अधिक बातें आई हैं। जान पडता है कि उस समय की घटनाओ आदि का काल-क्रम से जो लेखा तैयार हुआ था, वह वाकाटक देश मे और वाकाटक राजकर्मचारियो द्वारा हुआ था, क्योकि वही और उन्हीं लोगो को दोनो के संबध की सभी बाते ब्योरेवार और सहज में मिल सकती थीं। पुराणो मे आध्रो के करद राज्यो का उल्लेख करके (देखो आगे चौथा भाग) आध्रो की साम्राज्य-प्रणाली का भी कुछ वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है, पर वह वर्णन उतना विवरणात्मक नहीं है। किंतु वाकाटको का इतिहास देते समय पुराणो ने उनके आरंभिक इतिहास तक का उल्लेख किया है और यह बतलाया है कि नागों का साम्राज्य किस प्रकार वाकाटको के साम्राज्य से सम्मिलित हो

नागो की साशन-प्रणाली

§ २९. नागो की शासन-प्रणाली संघात्मक थी जिसमे नीचे लिखे राज्य सम्मिलित थे—(१) नागो के तीन मुख्य राजवंश, जिनमे से एक वंश भार-शिवो का था जो साम्राज्य के नेता और सम्राट थे और जिनके अधीन प्रतिनिधि-स्वरूप शासन करनेवाले और भी कई वंश थे। और (२) कई प्रजातंत्री राज्य भी उस संघ में संमिलित थे। पद्मावती और मथुरा भार-शिवो के द्वारा स्थापित दो शाखाएँ थीं और इन दोनो राजवंशो की दो अलग अलग उपाधियाँ थी। पद्मावती वाला राजवंश टाक-वंश कहलाता था। यह नाम भाव-शतक मे आया है जो गणपति नाग को समर्पित किया गया था (§ ३१) मथुरावाला वंश यदुवंश कहलाता था; और यह नाम कौमुदीमहोत्सव नामक नाटक मे आया है और इसका रचना-काल भी वही है जो भाव-शतक का है। इन दोनो नामो से नव नागो के मूल का भी पता

गया था। उधर आध्रो के इतिहास में भी पुराणो मे उनके मूल से लेकर वर्णन आरभ किया गया है और उनके सम्राट् पद पर आरूढ होने से लेकर मगध के राजसिंहासन तक का वर्णन किया गया है। इस प्रकार पुराणो मे किसी राजवश का इतिहास लिखते समय आलोचनात्मक दृष्टि से उनके मूल तक का वर्णन किया गया है और सम्राटो के वशो का आरभिक इतिहास तक दिया गया है। आध्रो, विंध्यको और नागो के सबध मे उन्होने इसी प्रकार मूल से आरभ करके उनका इतिहास दिया है और यदि पुराणो के कर्त्ता गुप्तो का भी पूरा इतिहास देने पाते तो वे उनके सबंध मे भी ऐसा ही करते। तो भी विष्णु पुराण (देखो आगे तीसरा भाग, § १२२) मे गुप्तो का आरभिक इतिहास देने का भी प्रयत्न किया गया है।

चल जाता है। ये लोग यादव थे और टक्क देश[1] पंजाब से आए थे। मथुरावाले वंश ने कभी अपने सिक्के नहीं बनाए थे। परंतु पद्मावती मे शासन करनेवाले राजवंश ने आदि से अंत तक बराबर अपने सिक्के चलाए थे। इससे सिद्ध होता है कि उनका राजवंश स्वतंत्र था और भार-शिवों के अधीन वे उसी प्रकार थे, जिस प्रकार कोई राज्य किसी साम्राज्य मे होता है। ऐसा जान पड़ता है कि मथुरा मे राज्य करनेवाला वंश और वह वंश जिसमे नाग-दत्त (लहौरवाली मोहर के महाराज महेश्वर नाग का पिता) हुआ था और जिसका राज्य अंबाले जिले के कहीं आस-पास संभवतः स्रुघ्न नाम की पुरानी राजधानी मे था, प्रत्यक्ष रूप से भार-शिवों के ही अधीन और शासन में था। बुलंदशहर जिले के इंद्रपुर (इंदौरखेड़ा) मे या उसके आस-पास भी एक और वंश राज्य करता था। बुलंदशहर मे मत्तिल की मोहर पाई गई थी जिसपर एक नाग चिन्ह (शंखपाल)[2] अंकित था और जिस पर राजन् उपाधि नहीं थी। ग्राउज और फ्लीट ने सिद्ध किया है कि समुद्रगुप्त के शिलालेख मे जिस मत्तिल का उल्लेख है, वह यही

---

१. टक्कों और टक्क देश के सबंध मे देखो कनिंघम A. S. R. खड २, पृ० ६; और उस देश मे यादवों के निवास के सबंध मे देखो उसी ग्रथ का पृ० १४। हेमचद्र ने अपने अभिधान-चिंतामणि (४. २५.) मे वाहीक को ही टक्क कहा हे।

२. देखो गुप्त इतिहास के संबध मे तीसरा भाग § १४०; और Indian Antiquary भाग १८, पृ० २८९ प्लेट, जहाँ एक शख और एक सर्प का आकार बना है। सर्प के शरीर से प्रकाश निकलकर चारो ओर फैल रहा हे।

मत्तिल है[1]। यह प्रांत अंतर्वेदी गंगा और यमुना के बीच के प्रदेश का पश्चिमी भाग कहा गया है, जहाँ एक अलग गवर्नर या शासक राज्य करता था, और इस बात का उल्लेख इंदौर के ताम्रलेखों में है जो सर्वनाग नाम के एक नाग शासक ने, जो समुद्रगुप्त का गवर्नर था, लिखवाए थे।[2] नागदत्त, नागसेन या मत्तिल अथवा उनके पूर्वजों ने अपने सिक्के नहीं चलाए थे और न भार-शिवों के समय में अहिच्छत्र के किसी और गवर्नर या शासक ने ही अपने सिक्के चलाए थे। अहिच्छत्र के अच्युत नामक एक शासक ने ही पहले पहल अपने सिक्के चलाए थे। सिक्कों पर तो उसका नाम अच्युत है और समुद्रगुप्त के शिलालेख में उसे अच्युतनंदी कहा गया है। पर उस समय वह वाकाटकों के अधीन था, जिससे यह सूचित होता है कि वाकाटकों ने कदाचित् लिच्छवियों और गुप्तों के मुकाबले में वहाँ कोशल (अवध प्रांत) के पास ही अपने एक करद राजवंश को प्रतिष्ठित कर दिया था। जहाँ तक भार-शिव राज्य का संबंध है हमें राज्य के केवल दो ही प्रधान केंद्र मिलते हैं—एक कांतिपुरी और दूसरा पद्मावती। वायु और ब्रह्मांड पुराण[3] में चंपावती (भागलपुर) में भी एक केंद्र होने का उल्लेख है; पर जान पड़ता है कि वहाँ का केंद्र अधीनस्थ था, क्योंकि चंपावती के सिक्के नहीं मिलते। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे (§ १३२, १४०), समुद्रगुप्त ने

---

१. Indian Antiquary भाग १८, पृ० २८६।

२. G. I. पृ० ६८।

३ नव नाकास् (नागास्) तु भोक्ष्यन्ति पुरीम् चम्पावतीं नृपाः। T. P. पृ० ५३।

शिलालेख में आर्यावर्त्त के शासक दो भागों में विभक्त किए गए हैं। एक वर्ग या भाग का आरंभ गणपति नाग से होता है। इस वर्ग मे वे राजा आए है, जो समुद्रगुप्त के प्रथम आर्यावर्त्त युद्ध मे मारे गए थे, और दूसरा वर्ग उन राजाओं का है जिन पर दूसरे युद्ध के समय अथवा उसके बाद आक्रमण हुआ था और जो रुद्रदेव अर्थात् रुद्रसेन वाकाटक से आरंभ करके स्थान-क्रम या देश-क्रम से गिनाए गए है। प्रथम वर्ग मे सबसे पहले गणपति नाग का नाम आया है। वाकाटकों के समय मे वह नाग शासकों मे सर्व-प्रधान था, और इस बात का समर्थन भावशतक से भी होता है (§ ३१)। मालवे और राजपूताने के प्रजातत्र और संभवतः पंजाब का कुणिंदो का प्रजातंत्र भी, जिन्होंने भार-शिवों के समय मे अपने अपने सिक्के चलाए थे, इस भार-शिव राज्य-संघ के स्वराज्यभोगी सदस्य थे (§ ४३)।

§ २९ क. पुराणों मे कहा है कि पद्मावती और मथुरा के नागों की, अथवा यदि विष्णु पुराण का मत लिया जाय तो पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा के नागों की सात पीढ़ियों ने राज्य किया था (देखो ऊपर पृ० ५८)। सिक्कों और शिलालेखों के आधार पर नीचे जो कोष्ठक दिया जाता है, उससे यह मत पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाता है।

नागों की शाखाएँ

भार-शिव, कांतिपुरी मे उत्थान लगभग सन् १४० ई०

नव नाग (सिक्के पर २७वॉ वर्ष) (लगभग सन् १४०–१७० ई०)	... ...	नव नाग वंश (भार-शिव) का संस्थापक
वीरसेन (सिक्के पर ३४वॉ वर्ष) (लगभग सन् १७०–२१० ई०)	... ...	मथुरा और पद्मावती की शाखाओं का संस्थापक

पद्मावती (टाक वंश)	कांतिपुरी (भार-शिव वंश)	मथुरा (यदु वंश)
लगभग सन् २१०–२३० ई० भीम नाग	लगभग सन् २१०–२४५ ई० (हय नाग सिक्के पर ३०वॉ वर्ष)	नाम अज्ञात
लगभग सन् २३०–२५० ई० स्कंद नाग	लगभग सन् २४५–२५० ई० त्रय नाग	नाम अज्ञात
लगभग सन् २५०–२७० ई० बृहस्पति नाग	लगभग सन् २५०–२६० ई० वर्हिन् नाग (सिक्के पर ७वॉ वर्ष)	नाम अज्ञात

वाकाटकों के प्रभुत्व का आरंभ लगभग सन् २८४ ई०

५ लगभग सन् २७८-२९० ई० व्याघ्र नाग[1]	लगभग सन् २६ – ९० ई० चरज नाग (सिक्के पर ३०वाँ वर्ष)	. ...
लगभग सन् २९०-३१० ई० देव नाग	लगभग सन् २९०–३१५ ई० भव नाग	लगभग सन् ३१५–३४० ई० कीर्त्तिषेण
लगभग सन् ३१०–३४४ ई गणपतिनाग	[लगभग सन् ३१५–३४४ ई० रुद्रसेन पुरिका मे]	लगभग सन् ३४०–३४४ ई० नागसेन

प्रतिनिधि या गवर्नर के रूप मे शासन करनेवाले नाग वंश

अहिच्छत्र वंश	अंतर्वेदी वंश जिसकी राजधानी संभवतः इंद्रपुर (इंदौरखेड़ा) मे थी।	अज्ञात (?) वंश	चंपावती वंश
ल० सन् ३२४ ३४४ ई० अच्युत नंदी	लगभग सन् ३२८–३४८ ई० मतिल	ल० सन् ३२८-३ ८ ई० नागदत्त ल० सन् ३४८-३६८ ई० महाराज महेश्वर नाग	नाम अज्ञात

१. कनिंघम ने केवल व्याघ्र ही पढा था, पर प्लेट (C M I प्लेट २, चित्र न० २२) में व्याघ्र नाग लिखा मिलता है।

पद्मावती के राजाओं के राज्यारोहण का जो क्रम मैंने ऊपर दिया है, उसके कारण ये है। गणपति नाग अंतिम राजा था, और समुद्रगुप्त का समय हमें ज्ञात है, इससे हमें गणपति नाग के समय का भी ठीक ठीक पता लग जाता है। उसके हजारों ही सिक्के मिलते है। वल्कि सच तो यह है कि जितने अधिक सिक्के गणपति नाग के मिले है, उतने अधिक सिक्के हिंदू काल के और किसी राजा के नहीं मिले है। इसलिये हमें यही कहना पड़ता है कि उसने वहुत अधिक समय तक राज किया था। फिर उसके सिक्के भी कई प्रकार के है। मैंने प्रायः आठ प्रकार के सिक्के गिने है। इसलिये मै कहता हूँ कि उसने पैंतिस वर्षों तक राज्य किया था। भीम नाग के सिक्के ठीक वीरसेन के वाद के हैं और स्कंद नाग के सिक्के भीम नाग के ठीक वाद के है। जान पड़ता है कि गणपति नाग से ठीक पहले देव नाग हुआ था; क्योंकि दोनो ही समय समय पर अपने नामों के साथ "इंद्र" शब्द का प्रयोग करते है, जैसे देवेंद्र; गणेंद्र (A. S. R. १९१५-१६, पृ० १०५)। वृहस्पति नाग और व्याघ्र नाग मे से देव नाग से ठीक पहले व्याघ्र नाग हुआ था, क्योंकि इन दोनो के सिक्कों पर वाकाटक सम्राटों का चक्र-चिह्न है (देखो § ६१ क और १०२[1])।

मथुरावाले वंश ने का अंतिम नाम 'नागसेन' उस उल्लेख से लिया गया है जो समुद्रगुप्त की विजयों से संबंध रखता है। समुद्रगुप्त के शिलालेख के अनुसार, जिसका विवेचन आगे तीसरे भाग मे किया गया है, नागसेन की राजधानी निश्चित रूप से

---

१. साथ ही देखो अंत मे दुरेहा स्तंभ के संबंध में परिशिष्ट।

मथुरा ही जान पडती है। कौमुदी-महोत्सव में कहा गया है कि कीर्त्तिषेण सुंदर-वर्म्मन् का मित्र और कल्याण वर्म्मन् का ससुर था। यह कल्याण वर्म्मन् उक्त सुंदर वर्म्मन् का पुत्र था और इसी ने पाटलिपुत्र पर से चंद्रगुप्त का अधिकार हटाया था। तीसरे भाग में गुप्तों के इतिहास के अंतर्गत इसके समय का विवेचन किया गया है (§ १३३)। उस समय के आधार पर ही कहा गया है कि नागसेन ने केवल चार वर्षों तक और कीर्त्ति-षेण ने लगभग सन् ३१५ से ३४० ई० तक राज्य किया था। सात पीढ़ियाँ पूरी करने के लिये मथुरा में वीरसेन के बाद तीन और राजा भी हुए ही होंगे। हर्ष-चरित में का नागसेन मथुरा में नहीं बल्कि पद्मावती में राज्य करता था और वह संभवतः गुप्तों के अधीन रहा होगा। उसके पद्मावती के सिक्के नहीं मिलते।

अहिच्छत्र वंश के शासन-क्षेत्र का पता एक तो अच्युत के सिक्कों से लगता है और दूसरे समुद्रगुप्त के शिलालेख में आए हुए उसके अच्युत के नाम से लगता है। इस लेख का विवेचन आगे तीसरे भाग में किया गया है। उसके सिक्कों पर भी साम्राज्य संबंधी वही चक्र-चिह्न है (C. I. M. प्लेट २२, ६) जो पद्मावती के देवसेन के सिक्के पर है (C. I. M. प्लेट २, २४)। स्कंदगुप्त के शासन-काल के जो ताम्रलेख इंदौरखेड़ा में मिले हैं और जो अंतर्वेदी के गवर्नर या विषयपति सर्व नाग के खुदवाए हुए हैं (G. I. पृ० ७०), उनके आधार पर मेरा मत है कि अहिच्छत्र वंश का शासन अंतर्वेदी प्रांत में था। मैं यह भी समझता हूँ कि उनकी राजधानी इंद्रपुर (इंदौरखेड़ा में थी, ब्रह्मांडपुराण में उनकी राजधानी सुरपुर में बतलाई गई है जो इंद्रपुर भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त जिस इंदौरखेड़ा नामक

स्थान मे ये ताम्रलेख पाए गए है, वह स्थान भी बहुत प्राचीन है; और इसीलिये इस बात की बहुत अधिक संभावना है कि उक्त वंश की राजधानी वही रही होगी। बहुत कुछ संभावना इसी बात की है कि सर्व नाग भी मत्तिल का एक वंशज था, जिसके संबंध में मैंने आगे तीसरे भाग मे विवेचन किया है (§ १४०)। उसका राजनगर अंबाले जिले मे श्रुघ्न नामक स्थान मे या उसके कहीं आस-पास ही रहा होगा। उसके लड़के की मोहर लाहौर मे पाई गई है (G. I. पृ० २८२) जो अपने समय मे गुप्तो के अधीनस्थ और करद राजा अथवा नौकर की भाँति शासन करता रहा होगा। वायु और ब्रह्मांड पुराण मे यह तो कहा गया है कि चंपावती भी एक राजधानी थी, पर वहाँ के शासकों के नामो का अभी तक पता नहीं चला है।

प्रवरसेन का सिक्का जो वीरसेन का माना गया है

§ ३०. हम यहाँ भार-शिव राजाओ के सिक्को का विवेचन कर रहे है, इसलिये हम एक ऐसे सिक्के पर भी कुछ विचार कर लेना चाहते हैं जो वीरसेन का माना गया है, पर जो मेरी समझ मे वाकाटक सिक्का है और प्रवरसेन प्रथम का है। यह सिक्का भी उसी वर्ग मे है जिस वर्ग के सिक्को का हम विवेचन करते चले आ रहे है। यह सिक्का प्राचीन सनातनी हिंदू ढंग का है। इसकी लिपि तो कुशनों के बाद की है और ढंग या शैली गुप्तो से पहले की है। डा० विंसेट स्मिथ ने इंडियन म्यूजियम के सिक्को की सूची (Coins of Indian Museum) के प्लेट नं० २२ पर चित्र नं० १५ मे यह सिक्का दिखलाया है[1]। इस पर की लिपि को उन्होंने व (?)

---

१. देखो इस ग्रथ मे दिया हुआ तीसरा प्लेट।

रसेनस पढ़ा है। इसमे की ि वाली मात्रा को वे संदिग्ध समझते हैं और यद्यपि वे इसे वीरसेन का ही मानते है, पर फिर भी कहते है कि यह वीरसेन के प्रारंभिक सिक्को के बाद का है[1]। समय के विचार से उन्होंने इन दोनो सिक्को मे जो अंतर समझा है और जो यह निर्णय किया है कि यह किसी दूसरे और बाद के राजा का सिक्का है, वह तो ठीक है, परतु उस पर के नाम को वीरसेन पढ़ने मे उन्होने भूल की है। इस सिक्के पर के लेख को मैं प्रवरसेनस (स्य) मानता हूँ और सिक्के मे बाईं और नीचेवाले कोने से लेख का जो पहला अक्षर है, उसे 'प्र' पढ़ता हूँ। नामके नीचे मै ७६ (७०, ६) भी पढता हूँ। सिक्के पर सामने की ओर एक ओर बैठी हुई स्त्री की मूर्त्ति है जिसके दाहिने हाथ मे एक घड़ा है, जिससे सूचित होता है कि यह गंगा की मूर्त्ति है (देखो § १७)[2]। नीचे की ओर दाहिने कोने पर वाकाटक चक्र भी है जो हमे नचना और जासो मे भी मिलता है (देखो अतिम परिशिष्ट)।

§ ३१. गणपति नाग के वश के इतिहास का पता मिथिला के

---

१ C. I. M. पृ० १६२ और पृ० १६७ की दूसरी पाद-टिप्पणी।

२ इस मूर्त्ति के सिर पर ऐसा मुकुट नहीं है जिसमें से प्रकाश की किरणे चारो ओर निकलकर फैल रही हो, जैसा कि C. I. M. पृ० १६७ मे कहा गया है, बल्कि वह छत्र है जो सिहासन मे लगा हुआ है। साथ ही आगे वाकाटक सिक्को के सबध में देखो § ६१।

एक ऐसे हस्तलिखित काव्य की प्रति से चला है जो स्वयं गणपति नाग के ही शासनकाल में लिखा गया

भाव-शतनक और नागों का मूल निवास स्थान

था और उसी को समर्पित हुआ था। उसमें कवि कहता है कि नाग राजा[1] वाक (सरस्वती) और पद्मालया (पद्मावती) दोनों से ही शृंगरित या सुशोभित है और पद्य में उसमें उसका नाम गजवक्त्रश्री (गज या हाथी के मुखवाले राजा) नाग[2] दिया है। एक और पद्य में वह कहता है कि गणपति को देखकर और सब नाग भयभीत हो जाते हैं[3]। यह राजा धारा पश्चिमी मालवा का स्वामी या अधीश्वर कहा गया है[4]। उसके वंश का नाम टाक कहा गया है और उसका गोत्र कर्पटी बतलाया गया है। न तो उसका पिता जालप ही और न उसका प्रपिता विद्याधर ही राजा था। इससे यह जान पड़ता है कि वह किसी राजा का सगोत्र और बहुत निकट संबंधी होने के कारण सिंहासन पर बैठा था। इस ग्रंथ का नाम भावशतक है जिसमें सौ से कुछ अधिक छंद हैं जिनमें से ९५ छंदों में प्रायः भावों का ही विवेचन है। प्रत्येक छंद स्वतः पूर्ण है और उसमें कवित्व का एक ही विचार या भाव उसी प्रकार आया है, जिस प्रकार अमरु में है। बहुत से छंद शिवजी की प्रशंसा में हैं जो कवि के आश्रयदाता का इष्ट

१-२. जायसवाल कृत Catalogue of Mithila Mss दूसरा खंड, पृ० १०५।

नागराज सम [शत] ग्रंथ नागराज तन्वता
अकारि गजवक्त्र-श्रीनागराजो गिरा गुरु.॥

३-४. पन्नगपतयः सर्वे वीक्षते गणपति भीता. (८०)। धारा-धीशः (८२)।

देवता है। कवि ने अपने आश्रयदाता का स्वभाव उग्र और कठोर बतलाया है और कहा है कि सुंदरी स्त्रियों में उसका मन नहीं रमता और वह स्वभाव से ही युद्धप्रिय और भारी योद्धा है। यह ग्रंथ काव्यमाला नामक संस्कृत पुस्तकमाला के सन् १८९९ वाले चौथे खंड में पृ० ३७ से ५२ तक छपा है[1]। परंतु काव्यमालावाली प्रति के दूसरे श्लोक में राजा का नाम इस प्रकार गलत दिया गया है—गतवक्त्रश्रीर्नागराजः[2]। पर मिथिलावाली हस्तलिखित प्रति में वह नाम इस प्रकार दिया है—गजवक्त्रश्रीर्नागराजः अर्थात् श्री गणपति नागराज, और इसी से मुझे यह पता चला कि यह उल्लेख गणपति नाग के संबंध में है। यह बात प्रायः सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं कि जम्मू के पास तथा पंजाब के और कई स्थानों में टाक नाग रहा करते थे[3]। राजपूताने के चारणों, चंद बरदाई और मुसलमान इतिहास-लेखकों ने उनके राजवंश का उल्लेख किया है। महाभारत में उनके गोत्र कर्पटी का भी उल्लेख मिलता है जहाँ पंजाब राजपूताने के प्रदेश में मालवों के साथ पंचकर्पट भी रखे गए हैं। स्पष्टतः ये सब प्रजा-

---

१ गणपति नाग के चरित्र और स्वभाव आदि के संबंध में देखो छंद सं० ७६, ९९ और ९२ आदि। साथ ही काव्यमालावाली प्रति में देखो छंद सं० १ और ९८-१०० जिनमें गणपति नाग के वंश का वर्णन है।

२. देखो इस पुस्तक में पृ० ८१ की पाद-टिप्पणी ३।

३. कनिंघम A.S.R. खंड २, पृ० १०। मध्य युग में मध्य देश में टक्करिका नाम का एक भट्ट गाँव था जिसके वर्णन के लिये देखो I. A. १७, पृ० २४५।

तंत्री समाज थे[1]। जान पड़ता है कि यह नाग वंश अपने निकट-तम पड़ोसी मालवों के ही संबंधी थे जो मालव करकोट नाग की पूजा करते थे, करकोट नाग के उपासक थे और पंजाब मे चलकर राजपूताने में आ बसे थे। (देखो आगे इस ग्रंथ का तीसरा भाग (§§ १४५-६)

§ ३१ क. नंदी नाग ने जब कुशन काल मे सन् ८० ई० के लगभग पद्मावती और विदिशा का रहना छोड़ा था, तब वे लोग वहाँ से मध्यप्रदेश मे चले गए और वहीं के पहाड़ों में रक्षित रहकर वे लोग पचास वर्ष से अधिक समय तक राज्य करते रहे। इस बात का एक निश्चित प्रमाण है कि मध्य प्रदेश के नागपुर जिले पर उनका अधिकार था। राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज द्वितीय के जो देवलीवाले ताम्रलेख (E. I. खंड ५, पृ० १८८) मध्य प्रदेश की आधुनिक राजधानी नागपुर से कुछ ही मीलों की दूरी पर पाए गए थे और जिन पर शक संवत् ८५२ (सन् ९४०-४१ ई०) अंकित है, उनमे कहा गया है कि दान की हुई भूमि नागपुर-नंदिवर्द्धन के प्रदेश मे है और इन दोनों ही नामों का नंदी नागों से संबंध है। इस लेख से बहुत पहले का भी हमे नंदिवर्द्धन का उल्लेख मिलता है, अर्थात् उन वाकाटकों के समय का उल्लेख मिलता है जो भार-शिव नागों के बाद ही साम्राज्य के उत्तरा-धिकारी हुए थे। प्रभावती गुप्त के पूनावाले ताम्रलेखों मे, जिनका संपादन E.I. खंड १५, पृ० ३९ में हुआ है, नंदिवर्द्धन नगर का

सन् ८० से १४० ई० तक नागो के शरण लेने का स्थान

---

१. देखो मेरा लिखा हुआ 'हिंदू राज्यतंत्र' पहला भाग, पृ० २५७ और महाभारत सभापर्व अ० ३२, श्लोक ७-९।

नाम आया है। जैसा कि मि० पाठक और मि० दीक्षित ने E. I. खंड १५, पृ० ४१ में बतलाया है, राय बहादुर हीरालाल ने यह पता लगा लिया है कि यह नदिवर्द्धन वही कस्बा है जो आजकल नगरधन कहलाता है और जो नागपुर से बीस मील की दूरी पर है[1] कस्बे का नदिवर्द्धन नाम कभी वाकाटकों या भार-शिवों के समय में नहीं रखा गया होगा, क्योंकि उनके समय में तो नंदी-उपाधि का परित्याग किया जा चुका था, बल्कि यह नाम भार-शिवों के उत्थान से भी बहुत पहले रखा गया होगा। जिस समय नाग राजा लोग पद्मावती और विदिशा से चले थे, उस समय उनके नामों के साथ नंदी की वंशगत उपाधि लगती थी। ऐसा जान पड़ता है कि नंदी नागों ने प्रायः पचास वर्षों तक विंध्य पर्वतों के उस पारवाले प्रदेश—अर्थात् मध्य प्रदेश में जाकर शरण ली थी जहाँ वे स्वतंत्रतापूर्वक रहते थे और जहाँ कुशन लोग नहीं पहुँच सकते थे। आर्यावर्त्त के एक राजवंश के इस प्रकार मध्य प्रदेश में जा बसने का बाद के इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था और इसी प्रभाव के कारण भार-शिवों और उनके उत्तराधिकारी वाकाटकों के शासन-काल में दक्षिणापथ के एक भाग के साथ आर्यावर्त्त संबद्ध हो गया था। सन् १०० ई० से सन् ५५० ई० तक मध्य प्रदेश का विंध्यवर्त्ती आर्यावर्त अर्थात् बुंदेलखंड के साथ इतना अधिक घनिष्ठ संबंध हो गया था कि दोनों मिलकर एक हो गए थे और उस समय इन दोनों प्रदेशों में जो एकता स्थापित हुई थी, वह आज तक बराबर चली चलती है। बुंदेलखंड का एक अंश और

---

१. हीरालाल कृत Inscriptions in C. P. & Berar पृ० १०—नागवर्द्धन=नगरधन।

प्राचीन दक्षिणापथ का नागपुरवाला अंश दोनों मिलकर एक हिंदुस्तानी प्रदेश बने रहे हैं और निवासियों, भाषा तथा संस्कृति के विचार से पूरे उत्तरी हो गए हैं और आर्यावर्त्त का विस्तार वस्तुतः निर्मल पर्वत-माला तक हो गया है। साठ वर्षों तक नाग लोग जो निर्वासित होकर वहाँ रहे थे, उसी के इतिहास का यह परिणाम है। एक ओर तो नागपुर से पुरिका होशंगाबाद तक और दूसरी ओर सिवनी से होते हुए जबलपुर तक उन्होंने पूर्वी मालवा से भी, जहाँ से उनका राज्याधिकार हटाया गया था और बघेलखंड रीवाँ के साथ भी अपना संबंध बराबर स्थापित रखा था; और फिर इसी बघेलखड से होते हुए वे अंत मे गंगा-तट तक पहुँचे थे। उनका यह नवीन निवास-स्थान आगे चलकर गुप्तों के समय मे वाकाटकों का भी निवास-स्थान हो गया था; और इसी से अजंटा का वैभव बढ़ा था जो अपने मुख्य इतिहास काल मे बराबर भार-शिवों और वाकाटकों के प्रभाव और प्रत्यक्ष अधिकार में बना रहा। अजंटा की कला मुख्यतः नागर भार-शिव और वाकाटक कला है। सन् २५०-२७५ ई० के लगभग शातवाहनों के हाथ से निकलकर यह अजंटा भार-शिव वाकाटकों के हाथ मे चला आया था।

§ ३२. स्कंदगुप्त के शासन-काल तक कुछ नाग करद राजा थे, क्योंकि इस बात का उल्लेख मिलता है कि स्कंदगुप्त ने नागों के एक विद्रोह का कठोरतापूर्वक दमन किया था[1]। चंद्रगुप्त द्वितीय ने कुबेर नाग नाम की एक नाग राजकुमारी के साथ विवाह किया था जो महादेवी थी और जिसके गर्भ से प्रभावती गुप्त उत्पन्न हुआ था। यदि यह नागकुमारी ध्रुवदेवी नहीं थी तो

१. G. I. पृ० ५६, (जूनागढ पंक्ति) ३।

संभवतः चंद्रगुप्त की दूसरी रानी अवश्य थी। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि कोटा (राजपूताना) में मध्य युगों में करद नाग राजाओं का एक वंश रहता था[२]। राय बहादुर हीरालाल ने बस्तर के जो शिलालेख आदि प्रकाशित किए हैं, उनमें भी नागवंशियों का उल्लेख है, और ये नागवंशी लोग संभवतः, मध्य प्रदेश के उन्हीं नागों के वंशज थे जो अपने नाम के स्मृति-चिह्न के रूप में नागपुर[३] और नगरवर्धन ये दो नाम-स्थान छोड़ गए हैं और जो संभवतः भार-शिवों के अधिकृत स्थानों के अवशिष्ट हैं।

५. पद्मावती और मगध में कुशन शासन

(लगभग सन् ८० ई० से १८० ई० तक)

§ ३३. नव नागों और गुप्तों के उत्थान से पहले का पद्मावती

---

२. I. A. खंड १४, पृ० ४५।

३. नागपुर (आजकल के मध्य प्रदेशवाला) का उल्लेख दसवीं शताब्दी के एक शिलालेख में मिलता है। देखो हीरालाल का Inscriptions in the C. P. & Berar दूसरा संस्करण पृ० १० और E. I खंड ५. पृ० १८८. ग्यारहवीं और उसके बाद की शताब्दियों के नागवंशियों के वर्णन के लिये देखो हीरालाल का उक्त ग्रंथ पृ० २०६, २१० और पृ० १९६ में आया हुआ उसका एक और उल्लेख नगरधन, जैसा कि ऊपर (§ ३१ क) बतलाया जा चुका है, प्राचीन नदिवर्द्धन नगर के ही स्थान पर बसा हुआ है; और इस नगर का उल्लेख प्रभावती गुप्त के पूनावाले ताम्रलेखों और राष्ट्रकूट लेख (देवली का ताम्रलेख) में भी आया है। आजकल यह नगरवन कहलाता है जिसका अर्थ है—नागों का वर्द्धन। इसमें का 'नगर' शब्द नागर के लिये आया है।

और मगध का इतिहास पूरा करने के लिये पुराणों ने वीच में वनस्पर का इतिहास भी जोड़ दिया है।

वनस्पर पुराणों में इस शब्द के कई रूप मिलते हैं, तथा विश्वस्फटि (क), विश्वस्फाणि और विवस्फाटि[1] जिसमें के खरोष्ठी लिपि के न को लोगों ने भूल से श पढा और श ही लिखा है[2]। इस प्रकार की भूल लोगों ने कुणाल के संबंध में भी की है और उसे कुशाल पढ़ा है। यह विस्फाटि और वि (न्) वस्फाणि भी वही है जो सारनाथवाले शिलालेखों के वनस्फर और वनस्पर है। सारनाथ के दो शिलालेखों से हमें पता चलता है (E. I. खंड ८, पृ० १७३) कि कनिष्क के शासन-काल के तीसरे वर्ष में वनस्पर उस प्रांत का क्षत्रप या गवर्नर था जिसमें वनारस पड़ता था। उस समय वनस्फर (वनस्पर) केवल एक क्षत्रप या गवर्नर था। और उसका प्रधान खरपल्लान महाक्षत्रप या वाइसराय था। वाद में वनस्फर भी महाक्षत्रप हो गया होगा। उसका शासन-काल कुछ अधिक दिनों तक था, इसलिये हम यह मान सकते हैं कि उसका समय लगभग सन् ८० ई० से १२० ई० तक रहा होगा। यह वही समय है जो विदिशा के नागों ने अज्ञातवास में वताया था।

§ ३४. इस वनस्पर का महत्त्व इतना अधिक था कि इसके वंशज, जो वुंदेलखंड के वनाफर कहलाते हैं, चंदेलों के समय तक अपनी वीरता और युद्धकौशल के लिये वहुत प्रसिद्ध थे। मूल या उत्पत्ति के विचार से ये लोग कुछ निम्न कोटि के

---

१. पारजिटर कृत Purana Text पृ० ५२ की पाद-टिप्पणी नं० ४५ तथा दूसरी टिप्पणियाँ।

२. उक्त ग्रंथ पृ० ८५।

माने जाते थे और राजपूतों के साथ विवाह-संबंध स्थापित करने मे इन्हे कठिनता होती थी। आज तक ये लोग समाज मे कुछ निम्न कोटि के ही माने जाते है। बुंदेलखंड में उनके नाम से एक बनाफरी बोली भी प्रचलित है। विवस्फाटि ने भागवत के अनुसार पद्मावती मे अपना केंद्र स्थापित किया था और सब पुराणों के अनुसार मगध तक अपने राज्य का विस्तार किया था। पुराणों मे उसकी वीरता की बहुत प्रशंसा की गई है और कहा गया है कि उसने पद्मावती से विहार तक का सारा प्रदेश और बड़े बड़े नगर जीते थे। पुराणो मे यह भी कहा है कि वह युद्ध मे विष्णु के समान था और देखने मे हीजड़ा सा जान पड़ता था। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक (Gibbon) ने हूणो के संबंध मे जो बात कही है; वही बात पुराणों ने बहुत पहले से इन बनाफरो के संबंध मे भी कही है, अर्थात्—इन लोगो के चेहरो पर दाढियाँ प्रायः होती ही नही थीं, इसलिये इन लोगो को न तो कभी युवावस्था की पुरुषोचित शोभा ही प्राप्त होती थी और न वृद्धावस्था का पूज्य तथा आदरणीय रूप ही। अतः ऐसा जान पडता है कि बनस्पर की आकृति हूणों की सी थी और वह देखने मे मंगोल सा जान पड़ता था। उसकी नीति विशेष रूप से ध्यान मे रखने योग्य है। उसने अपनी प्रजा मे से ब्राह्मणो का बिलकुल नाश ही कर दिया था—प्रजाश्च अब्राह्म-भूयिष्ठाः। उसने उच्च वर्ग के हिंदुओ को बहुत दबाया था और निम्न कोटि के लोगो तथा विदेसियों को अपने राज्य मे उच्च पद प्रदान किए थे। उसने क्षत्रियो का भी नाश कर दिया था और एक नवीन शासक-जाति का निर्माण किया था। उसने अपनी प्रजा को अब्राह्मण कर दिया था। जैसा कि

उसकी नीति

हम आगे चलकर बतलावेंगे (§ १४६ ख), कुशनों ने भी बाद में इसी नीति का अवलंबन किया था। वे अपने राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिये समाज पर अत्याचार करते थे और बड़े धर्मांध होते थे—दूसरे धर्मवालों को बहुत कष्ट देते थे। कैवर्त्तों में से, जो भारत के आदिम निवासियों में से एक छोटी जाति है और खेती-बारी करती है और जिसे आजकल केवट कहते हैं, उसने शासकों और राजकर्मचारियों का एक नया वर्ग तैयार किया था; और इसी प्रकार पंचकों में से भी, जो शूद्रों से भी निम्न कोटि के होते हैं और अस्पृश्य माने जाते हैं, उसने अनेक शासक और राजकर्मचारी तैयार किए थे। उसने मुद्रकों को भी बिहार से बुंदेलखंड में बुलवाया था जो पहले पंजाब में रहा करते थे और चकों तथा पुलिंदों या चक-पुलिंदों या पुलिंद यदु लोगों[1] को भी अपने यहाँ बुलाकर रखा था। शासन आदि के कार्यों के लिये उत्तर से पूर्व में प्रथम वर्ग के जो लोग बुलाए गए थे, उनका महत्त्व इस विचार से है कि उससे सूचित होता है कि उसने धन देकर भारत के एक भाग से दूसरे भाग में

---

१. पारजिटर P. T., पृ० ५२, पाद टिप्पणी ४८।

विष्णुपुराण में कहा है—कैवर्त्त यदु (यवु) पुलिंद अब्राह्मणानाम् (न्यान्) राज्ये स्थापयिष्यथि उत्साद्यखिल क्षत्र-जाति।

भागवत में कहा है—करिष्यति अपरान् वर्णान् पुलिंद-यदु,मद्रकान्। प्रजाश्च अब्रह्म भूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः॥

वायुपुराण में कहा है—उत्साद्य पार्थिवान् सर्वान् सोऽन्यान् वर्णान् करिष्यति। कैवर्त्तान् पंचकाश्चैव पुलिंदान् अब्रह्मणानास्तथा॥

दूसरे पाठ—कैवर्त्यानाम् चकाश्चैव पुलिंदान्। और—कैवर्त्तान् य पुमाश्चैव आदि।

आदमियो को बुलाने की नीति का अवलंबन किया था। चक-पुलिंद वास्तव में शक पुलिंद है, क्योंकि भारत मे प्रायः शक से चक शब्द भी बना लिया जाता है, जैसा कि गर्ग संहिता मे[1] किया गया है। उनके साथ यपु या यवु विशेषण लगाया जाता है और वे पुलिंद यपु और पुलिंद अब्राह्मणानाम् कहे गए है[2]। दूसरे शब्दो में यही बात यों कही जाती है कि वे भारतीय पुलिंद नही थे बल्कि अब्राह्मण और शक पुलिंद थे। ये लोग वही पालद या पालक-शाक जान पडते है जिन्होंने स्वयं अपने सिक्के चलाने के कारण और समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त के सिक्को को ग्रहण कर लेने के कारण[3] चौथी शताब्दी तथा पॉचवी शताब्दी के आरंभ मे कुछ विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया है।

§ ३५. इस कुशन क्षत्रप के शासन का जो वर्णन ऊपर दिया गया है, उससे हमे इस बात का बहुत कुछ पता लग जाता है कि भारत मे कुशनो का शासन किस प्रकार का था। काश्मीर के इतिहास राजतरंगिणी मे कुशनो के शासन के संबध मे जो कुछ कहा गया है (१, १, १७४-८५), उससे इस मत की और भी पुष्टि हो जाती है। उन दिनो काश्मीर मे जो नागो की उपासना प्रचलित थी, उसे कुशनो ने बंद कर दिया था और उसके स्थान पर बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। एक बौद्ध धर्म ही ऐसा था जिसके द्वारा विदेशी शक

---

१. J. B. O. R. S. खड १४, पृ० ४०८।

२. पारजिटर P. T. पृ० ५२, ३५ वीं तथा और पाद-टिप्पणियाँ।

३. J. B. O. R. S. खड १८, पृ० २०६. [अफगानिस्तान मे उत्तरी पुलिंद भी थे जो सभवतः आजकल पोविदाह कहलाते हैं। देखो मत्स्यपुराण ११३-४१।]

लोग उस प्राचीन सनातनी और अभिमानी समाज का मुकाबला कर सकते थे जो मनुष्यों के प्राकृतिक तथा जातीय विभागों के आधार पर संघटित हुआ था। ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था के कारण ये म्लेच्छ शासक बहुत ही उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे जिससे उन म्लेच्छों को बहुत बुरा लगता था और इसीलिये उस सामाजिक व्यवस्था के नाश के लिये वे लोग अनेक प्रकार के उपाय करते थे जो उन्हें बहिष्कृत रखती थी। इसके परिणाम-स्वरूप काश्मीर में बहुत बड़ा आंदोलन हुआ था, और इस बात का उल्लेख मिलता है कि राजा गोनर्द तृतीय ने उस नाग उपासना को फिर से प्रचलित किया था जिसका हुष्क, जुष्क और कनिष्क के तुरुष्क अर्थात् कुशन शासन ने नाश कर डाला था। भारतवर्ष में भी ठीक यही बात हुई थी, और बिना इस बात को जाने हम यह नहीं समझ सकते कि भार-शिवों के समय में जो राष्ट्रीय आंदोलन खड़ा हुआ था, उसका क्या कारण था।

कुशनों के पहले के सनातनी स्मृति-चिह्न और कुशनों की सामाजिक नीति

कुशन शासन-काल में हमें केवल बौद्ध और जैन धर्मों के ही स्मृति-चिह्न आदि मिलते हैं। उस समय का ऐसा कोई स्मृति-चिह्न नहीं मिलता जो हिंदू ढंग की सनातनी उपासना से संबंध रखता हो। यद्यपि सब लोग यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि जिस समय बौद्धों के सबसे आरंभिक स्मृति-चिह्न बने थे, उससे बहुत पहले से ही सनातनी और हिंदू लोग अनेक प्रकार स्मृति-चिह्न, भवन और मूर्त्तियाँ आदि बनाया करते थे, तो भी हमें बौद्धों से पहले का सनातनी हिंदुओं का कोई स्मृति-चिह्न या वस्तु, अथवा

तक्षण कला का कोई नमूना या प्रमाण नहीं मिलता[1]। मत्स्य पुराण में मंदिरों तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण के संबंध में हमें बहुत कुछ विस्तृत और वैज्ञानिक विवेचन मिलता है; और हिंदुओं के और भी बहुत से ग्रंथों में इस विषय के उल्लेख भरे पड़े हैं[2] जिनसे यह प्रमाणित होता है कि सन् ३०० ई० से पहले भी इस देश में हिंदू देवताओं और देवियों के बहुत से और अनेक आकार-प्रकार के मंदिर आदि बना करते थे। इन सब प्रमाणों को देखते हुए इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता कि गुप्तों के समय से पहले भी सनातनी हिंदुओं की वास्तु-विद्या और राष्ट्रीय कला अपनी उन्नति के बहुत ऊँचे शिखर पर पहुँच गई थी, और जब भार-शिवों वाकाटकों तथा गुप्तों के समय में उनका फिर से उद्धार होने लगा, तब वैसे अच्छे भवन आदि फिर नहीं बने; और जो बने भी, वे पुराने भवनों आदि के मुकाबले के नहीं थे। स्वयं बौद्धों और जैनों के स्मृति-चिह्नों की अनेक आंतरिक बातों से ही यह बात भली भाँति प्रमाणित हो जाती है। एक उदाहरण ले लीजिए। बौद्धों और जैनों के स्तूपों आदि पर की नकासी में अप्सराओं के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता था और उन पर अप्सराओं की मूर्तियाँ आदि नहीं बननी चाहिए थीं। परंतु वास्तव में यह बात नहीं है और हमें बोध गया

१. इसका एक अपवाद भीटा का पंचमुखी शिवलिंग है (A. S. R १९०९-१०) जिस पर ई० पू० दूसरी शताब्दी का एक लेख अंकित है।

२. श्रीयुक्त वृंदावन भट्टाचार्य ने अपने The Hindu Images नामक ग्रंथ में इन सबका बहुत ही योग्यतापूर्वक संग्रह किया है।

के रेलिंगवाले द्वार पर, मथुरा के जैन स्तूपो पर और नागार्जुनी कोंडा स्तूपों तथा इसी प्रकार के और अनेक भवनो आदि पर ऐसी मूर्त्तियाँ मिलती हैं जिनमे अप्सरा अपने प्रेमी गंधर्व के साथ अनेक प्रकार की प्रेमपूर्ण क्रीड़ा करती हुई दिखाई पड़ती है। अप्सराओ की भावना का बौद्ध और जैन धर्मों मे कहीं पता नहीं है, पर हाँ हिंदुओ की धर्मपुस्तको मे—उदाहरणार्थ मत्स्यपुराण मे—अवश्य है जिनका समय कम से कम ईसवी तीसरी शताब्दी तक पहुँचता है। मत्स्य पुराण मे इस विषय का जो विवेचन है, उसमे पहले के अठारह आचार्यों के मत उद्धृत किए गए है जिससे सिद्ध होता है कि शताब्दियो पहले से इस देश मे इन विषयो की चर्चा होती आई थी[1]। हिंदू ग्रंथो मे इस संबंध मे कहा गया है कि मंदिरो के द्वारो अथवा तोरणो पर गंधर्व-मिथुन या गंधर्व और उसकी पत्नी की मूर्त्तियाँ होनी चाहिएँ[2] और मंदिरों पर अप्सराओ, सिद्धो और यक्षो आदि की मूर्त्तियाँ नकाशी हुई होनी चाहिएँ। मथुरा मे स्नान आदि करती हुई स्त्रियो

---

१. मत्स्यपुराण के अध्याय २५१–२६९ में इस विषय का विवेचन है और वह विवेचन ऐसे १८ आचार्यों के मतों के आधार पर है जिनके नाम उसमें दिए गए हैं (अ० २५१, २४) अ० २७० से वास्तु कला के इतिहास का प्रकरण चलता है (अ० २७०-२७४) और इस इतिहास का अंत सन् २४० ई० के लगभग हुआ है। इन अठारह आचार्यों के कारण यह कहा जा सकता है कि इस विषय के विवेचन का आरंभ कम से कम ई० पू० ६०० में हुआ होगा।

२. मत्स्यपुराण २५०, १३-१४ (विष्णु के संबंध मे)—

तोरणान् चोपरिष्टात् तु विद्याधरसमन्वितम्।
देवदुन्दुभिसंयुक्तं गन्धर्वमिथुनान्वितम्॥

की मूर्त्तियाँ हैं। उनकी मुख्य बातें अप्सराओं की सी ही हैं और उनके स्नान करने की भाव-भंगियों आदि के कारण ही वे जल-अप्सराएँ कही गई हैं। जब प्रश्न यह है कि बौद्धों और जैनों को ये अप्सराएँ कहाँ से मिलीं। बौद्धों और जैनों को गज-लक्ष्मी कहाँ से मिली, और गरुड़ध्वज धारण करनेवाली वैष्णवी ही बौद्धों को कहाँ से मिली ? मेरा उत्तर यह है कि उन्होंने ये सब चीजें सनातनी हिंदू इमारतों से ली हैं। उन दिनों वास्तुकला में इन सब बातों का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि इमारतें बनानेवाले कारीगर आदि उन्हें किसी प्रकार छोड़ ही नहीं सकते थे। जिस समय बौद्धों ने अपने पवित्र स्मृति-चिन्ह आदि बनाने आरंभ किए थे, उस समय कुछ ऐसी प्रथा सी चल गई थी कि जिन भवनों और मंदिरों आदि में इस प्रकार की मूर्त्तियाँ नहीं होती थीं, वे पवित्र और धार्मिक ही नहीं समझे जाते थे; और इसीलिये बौद्धों तथा जैनों आदि को भी विवश होकर उसी ढंग की इमारतें बनानी पड़ती थीं, जिस ढंग की इमारतें पहले देश में बनती चली आ रही थीं। हिंदू मंदिरों पर तो इस प्रकार की मूर्त्तियों का होना योग और परंपरा आदि के विचार से सार्थक ही था, क्योंकि हिंदुओं में इस प्रकार की भावनाएँ वैदिक युग से चली आ रही थीं और हिंदुओं के प्राचीन पौराणिक इतिहास के साथ इनका घनिष्ट संबंध था, और हिंदुओं के अंतिम दिनों तक उनके मंदिरों और मूर्त्तियों आदि में ये सब बातें बराबर चली आई थीं। पर बौद्ध तथा जैन भवनों आदि में इस प्रकार की मूर्त्तियों के बनने का इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं हो सकता कि वे केवल भवनों की शोभा और शृंगागार के लिये बनाई जाती थीं और सनातनी हिंदू भवनों से ही वे ली गई थीं और उन्हीं की नकल पर बनाई गई थीं। कुशन काल से पहले की जो सनातनी इमा-

रते थी, वे पूर्ण रूप से नष्ट हो गई है। पर इन्हे नष्ट किसने किया था ? मेरा उत्तर है कि कुशन शासन ने उन्हे नष्ट कर डाला था। एक स्थान पर इस बात का उल्लेख मिलता है कि पवित्र अग्नि के जितने मंदिर थे, वे सब एक आरंभिक कुशन ने नष्ट कर डाले थे और उनके स्थान पर बौद्ध मंदिर बनाए थे[1]। एक कुशन क्षत्रप की लिखित नीति से हमे पता चलता है कि उसने ब्राह्मणो और सनातनी जातियों का दमन किया था और सारी प्रजा को ब्राह्मणों से हीन या रहित कर दिया था। सन् ७८ ई० मे इस देश मे जो शक शासन प्रचलित था, उसकी विशेषता का उल्लेख अलबेरूनी ने इस प्रकार किया है—

"यहाँ जिस शक का उल्लेख है, उसने आर्यावर्त्त मे अपने राज्य के मध्य मे अपनी राजधानी बनाकर सिंधु से समुद्र तक के प्रदेश पर अत्याचार किया था। उसने हिंदुओं को आज्ञा दे दी थी कि वे अपने आपको शक ही समझे और शक ही कहे, इसके अतिरिक्त अपने आपको और कुछ न समझे या न कहे।" (२, ६)

गर्ग संहिता मे भी प्रायः इसी प्रकार की बात कही गई है—

"शकों का राजा बहुत ही लोभी, शक्तिशाली और पापी था। ....इन भीषण और असंख्य शकों ने प्रजा का स्वरूप नष्ट कर दिया था और उनके आचरण भ्रष्ट कर दिए थे।" (J. B. O. R. S. खंड १४, पृ० ४०४ और ४०८।)

गुणाढ्य ने भी ईसवी पहली शताब्दी में उन म्लेच्छों और विदेशियों के कार्यों का वर्णन किया है जो विक्रमादित्य शालिवाहन द्वारा परास्त हुए थे (J. B. O. R. S. खंड १६, पृ० २९६)।

---

१. J. B. O R. S. १८-/५।

उसने कहा है—

"ये म्लेच्छ लोग ब्राह्मणों की हत्या करते है और उनके यज्ञो तथा धार्मिक कृत्यो मे बाधा डालते है। ये आश्रमो की कन्याओं को उठा ले जाते है। भला ऐसा कौन सा अपराध है जो ये दुष्ट नही करते ?' (कथासरित्सागर १८)।

§ ३६ क—कुशनो के समय के बौद्ध भारत को हिंदू जाति सन् १५०-२०० ई० की जिस दृष्टि से देखती थी, उसका वर्णन
सामाजिक अवस्था पर संक्षेप मे महाभारत के वनपर्व के अध्याय
महाभारत १८८ और १९०[1] मे इस प्रकार किया गया है –

"इसके उपरांत देश मे बहुत से म्लेच्छ राजाओं का राज्य होगा। ये पापी राजा सदा मिथ्या आचरण करेंगे, मिथ्या सिद्धातो के अनुसार शासन करेंगे और इनमे मिथ्या विरोध

---

१ अध्याय १९० मे प्रायः वही बाते दोहराई गई हैं जो पहले अध्याय १८८ मे आ चुकी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आरंभ मे अध्याय १८८ का ही पाठ था जो अध्याय १९० के रूप मे दोहराया गया है और उसके अंत मे कल्कि का नाम जोड़ दिया गया है जो अध्याय १८८ मे नहीं है और जो स्पष्ट रूप से वायु-प्रोक्त पुराण से लिया गया है (अ० १९१, १६)। यद्यपि वायु-प्रोक्त ब्रह्मांड पुराण मे कल्कि का उल्लेख है, पर आज कल के वायुपुराण मे उसका कहीं उल्लेख नहीं है। यह समय लगभग सन् १५० ई० से २०० ई० तक का उन राजाओ के नामो के आधार पर निश्चित किया गया है जिनका अध्याय १८८ मे उल्लेख है।

चलेंगे। इसके उपरांत आंध्र, शक, पुलिंद, यवन (अर्थात् यौन), कांभोज, वाह्लीक और शूर-आभीर लोग शासन करेंगे (अध्याय १८८ श्लोक ३४-३६)। उस समय वेदों के वाक्य व्यर्थ हो जायँगे, शूद्र लोग "भो" कहकर समानता-सूचक शब्दों में (ब्राह्मणों को) संबोधन करेंगे और ब्राह्मण लोग उन्हें आर्य कहकर संबोधन करेंगे (३९)। कर के भार से भयभीत होने के कारण नागरिकों का चरित्र भ्रष्ट हो जायगा (४६)। लोग इहलौकिक बातों में बहुत अधिक अनुरक्त हो जायँगे जिनसे उनके मांस और रक्त का सेवन और वृद्धि होती है (४९)। सारा संसार म्लेच्छ हो जायगा और सब प्रकार के कर्मकांडों और यज्ञों का अंत हो जायगा (१९०-२९)। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य न रह जायँगे। उस समय सब लोगों का एक ही वर्ण हो जायगा, सारा संसार म्लेच्छ हो जायगा और लोग श्राद्ध आदि से पितरों को और तर्पण आदि से प्रेतात्माओं को तृप्त नहीं करेंगे (४९)। वे लोग देवताओं की पूजा वर्जित कर देंगे और हड्डियों की पूजा करेंगे। ब्राह्मणों के निवास-स्थानों, बड़े-बड़े ऋषियों के आश्रमों, देवताओं के पवित्र स्थानों, तीर्थों और नागों के मंदिरों में एड्डक (बौद्ध स्तूप) बनेंगे जिनके अंदर हड्डियाँ रखी रहेंगी। वे लोग देवताओं के मंदिर नहीं बनवावेंगे।"[1] (श्लोक ६५, ६६ और ६७)।

---

१. एड्डकान् पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः।
शूद्राश्च प्रभविष्यन्ति न द्विजाः युगसंक्षये॥
आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च।
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च॥
एड्डकचिन्हा पृथिवी न देवगृहभूषिता।
कुम्भकोणम् वाला संस्करण, पृ० ३१४।

यह वर्णन अनेक अंशों में उस वर्णन से मिलता है जो शक शासन-काल के भारतवर्ष के संबंध में गर्ग संहिता में दिया है। यह वर्णन देखने में ऐसा जान पड़ता है कि किसी प्रत्यक्षदर्शी का किया हुआ है। इस वर्णन में जिन आंध्र, शक, पुलिंद, बैक्ट्रियन (अर्थात् कुशन) और आभीर आदि राजाओं के नाम आए हैं, उनसे सूचित होता है कि यह वर्णन के शासन-काल के अंतिम भाग का है। हम ऊपर यह बात कह आए है कि कुशनों ने हिंदू मंदिर नष्ट कर डाले थे। इस मत की पुष्टि महाभारत में आए हुए निम्नलिखित वाक्यों से भी होती है। समस्त हिंदू जगत् म्लेच्छ बना दिया गया था। सब जातियाँ या वर्ण नष्ट कर दिए गए थे और उनकी जगह केवल एक ही जाति या वर्ण रह गया था। श्राद्ध आदि कर्म बंद हो गए थे और लोग हिंदू देवताओं के स्थान में उन स्तूपों आदि की पूजा करते थे जिनमें हड्डियाँ रखी होती थीं। वर्णाश्रम प्रथा दबा दी गई थी। इस दमन का परिणाम यह हुआ कि लोगों के आचार भ्रष्ट होने लगे। इन्हीं अध्यायों में विस्तारपूर्वक यह भी बतलाया गया है कि लोगों का कितना अधिक नैतिक पतन हो गया था।

शकों के शासन का उद्देश्य ही यह था कि जैसे हो, हिंदुओं का हिंदुत्व नष्ट कर दिया जाय और उनकी राष्ट्रीयता की जड़ खोद दी जाय। शकों ने खूब समझ-बूझकर सामाजिक क्रांति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। उनकी योजना यह थी कि उच्च वर्ग के लोगों और कुलीनों का दमन किया जाय, क्योंकि वही लोग राष्ट्रीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता के रक्षक थे। इस प्रकार वे लोग ब्राह्मणों और क्षत्रियों का सब प्रकार से दमन करते थे। हिंदू राजाओं की सैनिक शक्ति से शक लोग नहीं घबराते

थे, क्योंकि उस पर वे विजय प्राप्त कर ही चुके थे; पर हिंदुओं की सामाजिक प्रथा से उन्हें बहुत डर लगता था। वे जनसाधारण के मन में निरंतर भय उत्पन्न करके और उन्हें बलपूर्वक धर्म-भ्रष्ट करके तथा अपने धर्म में मिलाकर आचार-भ्रष्ट करना चाहते थे। गर्गसंहिता में कहा गया है कि वे सिंधु के एक चौथाई निवासियों को अपनी राजधानी अर्थात् बैक्ट्रिया में ले गए थे। उन्होंने कई बार एक साथ बहुत से लोगों की जो हत्याएँ कराई थीं, उनका उल्लेख गर्ग संहिता में भी है और पुराणों में भी।[१] वे लोग इस देश का बहुत सा धन अपने साथ बैक्ट्रिया लेते गए होंगे। वे धन के बहुत बड़े लोभी हुआ करते थे। उन्होंने बराबर हिंदुओं पर अब्राह्मण धर्म लादने का प्रयत्न किया था। सारांश यह कि उन दिनों हिंदू जीवन एक प्रकार से कुछ समय के लिये बिलकुल बंद ही हो गया था। उत्तर भारत के सनातनी साहित्य में ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं मिलता जो सन् ७८ ई० से १८० ई० के बीच में लिखा गया हो। इस कारण हिंदुओं के लिये यह बहुत ही आवश्यक हो गया था कि इस प्रकार के राजनीतिक तथा सामाजिक संकट से अपने देश को बचाने का प्रयत्न करें।

६ भार-शिवों के कार्य और साम्राज्य

§ ३७. भार-शिवों ने गंगा-तट पर पहुँचकर अपने देश को इस राष्ट्रीय संकट (§३६) से मुक्त करने का भार अपने ऊपर लिया था। प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में जब कोई मानव समाज कोई बड़ा राष्ट्रीय कार्य आरंभ करता है, तब उसके सामने एक ऐसा मुख्य तत्त्व रहता है, जिससे उसके समस्त कार्य

भार-शिवों के समय का धर्म

१ देखो आगे तीसरा भाग § १४८ ज और § १४७.

संचालित होते है। हमे यहाँ यह बात भूल न जानी चाहिए कि उस समय भारत के हिंदू समाज मे भी इसी प्रकार का एक मुख्य तत्त्व काम कर रहा था। वह तत्त्व आध्यात्मिक विचार और विश्वास का है। जो इतिहास लेखक इस तत्त्व पर ध्यान नहीं देता और केवल घटनाओ की सूची तैयार करने का प्रयत्न करता है, वह मानो चिड़ियो को छोड़कर उनके पर ही गिनता है। इस बात मे बहुत कुछ संदेह है कि राष्ट्रीय विचारो और भावनाओं का पूरा पूरा ध्यान रखे बिना वह वास्तविक घटनाओ को भी ठीक तरह से समझ सकता है या नहीं।

§ ३८. अब प्रश्न यह है कि वह कौन सा राष्ट्रीय धर्म और विश्वास था जिसे लेकर भार-शिव लोग अपना उद्देश्य सिद्ध करने निकले थे। हमे तो उस समय सब जगह शिव ही शिव दिखाई देते है। हमे भार-शिवों के सभी कार्यों के सचालक शिव ही दिखाई देते है और वाकाटको के समय के भारत मे भी सर्वत्र उन्ही का राज्य दिखाई देता है। जिन काव्य ग्रथों मे साधारणतः प्रेम-चर्चा होती है और होनी चाहिए, उन दिनो उन काव्यग्रंथो मे भी भगवान शिव की ही चर्चा होती थी। हिंदू राज्य-निर्माताओं की राष्ट्रीय सेवा भी उसी सर्वप्रधान शक्ति को समर्पित होती थी जिसके हाथ मे मनुष्यो का सारा भाग्य रहता है। उस समय राष्ट्र की जैसी प्रवृत्तियां और जैसे भाव थे, उन्हीं के अनुरूप ईश्वर का एक विशिष्ट रूप उन लोगो ने चुन लिया था और उसी रूप को उन्होने अपनी सारी सेवा समर्पित कर दी थी। उस समय उन्होने जो राजनीतिक सेवा की थी, वह सब सहारकर्त्ता भगवान् शिव को अर्पित की थी। भार-शिवों ने उस समय शिव का आवाहन किया था और शिव ने गगा-तट के मैदानो मे वहाँ के निवासियो के द्वारा अपना ताडव नृत्य दिखलाना आरंभ कर दिया था। उस

समय हमें सर्वत्र शिव ही शिव दिखाई पड़ते हैं। उस समय सब जगह सब लोगों के मन में यही विश्वास समा गया था कि स्वयं संहारकर्त्ता शिव ने ही भार-शिव राज्य की स्थापना की है और वही भार-शिव राजा के राज्य तथा प्रजा के संरक्षक हैं। भगवान् शिव ही अपने भक्तों को स्वतंत्र करने के लिये उठ खड़े हुए हैं और वे उन्हें इस प्रकार स्वतंत्र कर देना चाहते हैं कि वे भली भाँति अपने धर्म का पालन कर सकें, स्वयं अपने मालिक बन सकें और आर्यों के ईश्वरदत्त देश आर्यावर्त्त में स्वतंत्रतापूर्वक रह सकें। यह एक ऐसी भावना है जो राजनीतिक भी है और भौगोलिक भी और इसके अनुसार लोग आरंभ से ही यह समझते रहे हैं कि आर्यावर्त्त में हिंदुओं का ही राज्य होना चाहिए, और इसका उल्लेख मानव धर्मशास्त्र (२, २२-२३) तक में है, और यह भावना पतंजलि के समय (ई० पू० १८०[1]) से मेधातिथि [आक्रम्याक्रम्य न चिरं तत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति][2] और बीसलदेव (सन् ११६४ ई०) तक बराबर लोगों के मन में ज्यों की त्यों और जीवित रही है [आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनाभिः][3]। इस पवित्र सिद्धांत का खंडन हो गया था और यह सिद्धांत टूट गया था और इसे फिर से स्थापित करना आवश्यक था। और लोगों का विश्वास था कि भगवान् शिव ही इस सिद्धांत की फिर से और अवश्य स्थापना करेंगे, और वे यह कार्य अपने ढंग से अपना संहारकारक नृत्य आरंभ करके करेंगे।

---

१. J. B. O. R. S. खंड ४, पृ० २०२।

२. टैगोर व्याख्यान—"मनु और याज्ञवल्क्य" पृ० ३१-३२।

३. दिल्ली का स्तंभ I. A. खंड १६, पृ० २१२।

नाग राजा लोग भार-शिव हो गए। उन्होंने वह संहारक राष्ट्रीय नृत्य करने का भार अपने ऊपर लिया और गंगा-तट के मैदानों में बहुत सफलतापूर्वक यह नृत्य किया। उस समय के भार-शिव राजाओं ने वीरसेन, स्कंद नाग, भीम नाग, देव नाग और भव नाग आदि अपने जो नाम रखे थे, उन सबसे यही प्रमाणित होता है कि उन दिनों इसी बात की आवश्यकता थी कि सब लोग शिव के भाव से अभिभूत हो जायँ और उसी प्रकार के उत्तरदायित्व का अनुभव करें। उन्होंने जिस प्रकार बार बार वीर और योद्धा देवताओं के नाम रखे थे और बार बार जो अश्वमेध यज्ञ किए थे, वे स्वयं ही इस बात के बहुत बड़े प्रमाण हैं। भार-शिवों ने अनेक बार बहुत वीरतापूर्वक युद्ध किए और उनके इन प्रयत्नों का फल यह हुआ कि आर्यावर्त्त से कुशनों का शासन धीरे धीरे नष्ट होने लगा।

कुशनों के मुकाबले में भार-शिव नागों की सफलता

वीरसेन के उत्थान के कुछ ही समय बाद हम देखते हैं कि कुशन लोग गंगा-तट से पीछे हटते हटते सरहिंद के आसपास पहुँच गए थे। सन् २२६–२४१ ई० के लगभग कुशन राजा जुनाह यौवन[1] ने सरहिंद से ही प्रथम सासानी सम्राट् अरदसिर के साथ कुछ राजनीतिक पत्र-व्यवहार और संबंध किया था[2]। उस समय तक उत्तर-पूर्वी भारत का पंजाब तक का हिस्सा स्वतंत्र हो गया था। इस

१. J B. O. R. S. खंड १८, पृ० २०१।

२ विंसेंट स्मिथ कृत Early History of India चौथा संस्करण, पृ० २८९ की पाद-टिप्पणी।

प्रांत का बहुत अच्छा प्रमाण स्वयं वीरसेन के सिक्कों से ही मिलता है जो समस्त संयुक्त प्रांत में और पंजाब के भी कुछ भाग में पाए जाते हैं। कुशन राजाओं को भार-शिवों ने इतना अधिक दबाया था कि अंत में उन्हें सासानी सम्राट् शापूर (सन् २३६ और २६९ ई० के बीच में) के संरक्षण में चला जाना पड़ा था, जिसकी मूर्ति कुशन राजाओं को अपने सिक्कों तक पर अंकित करनी पड़ी थी। समुद्रगुप्त के समय से पहले ही पंजाब का भी बहुत बड़ा भाग स्वतंत्र हो गया था। माद्रकों ने फिर से अपने सिक्के बनाने आरंभ कर दिए थे और उन्होंने समुद्रगुप्त के साथ संधि करके उसका प्रभुत्व स्वीकृत कर लिया था। जिस समय समुद्रगुप्त रणस्थल पर आया था, उस समय काँगड़े की पहाड़ियों तक के प्रदेश फिर से हिंदू राजाओं के अधिकार में आ गए थे। और इस संबंध का अधिकांश कार्य दस अश्वमेध यज्ञ करनेवाले भार-शिव नागों ने ही किया था; और उनके उपरांत वाकाटकों ने भी भार-शिव राजाओं की नीति का ही अवलंबन करके उस स्वतंत्रता प्राप्त राज्य की पचास वर्षों तक केवल रक्षा ही नहीं की थी, बल्कि उसमें वृद्धि भी की थी।

§ ३९. भार-शिवों की सफलता का ठीक ठीक अनुमान करने के लिये हमें पहले यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि बैक्ट्रिया के उन तुखारों का, जिन्हें आज-कल हम लोग कुशन कहते हैं, कितना अधिक प्रभाव था। वे ऐसे शासक थे जिनके पास बहुत अधिक रक्षित शक्ति या सेना थी, और वह रक्षित शक्ति उनके मूल निवास-स्थान मध्य एशिया में रहती थी जहाँ से उनके सैनिकों के

कुशनों की प्रतिष्ठा और शक्ति तथा भार-शिवों का साहस

बहुत बडे बडे दल बराबर आया करते थे। इन लोगों का राज्य वंक्षु नदी के तट से लेकर बंगाल की खाड़ी तक[1] यमुना से लेकर नर्मदा तक[2] और पश्चिम में काश्मीर तथा पंजाब से लेकर सिंध और काठियावाड़ तक और गुजरात, सिंध तथा बलोचिस्तान के समुद्र तक भली भाँति स्थापित हो गया था। प्रायः सौ वर्षो तक ये लोग बराबर यही कहा करते थे कि हम लोग दैवपुत्र[3] हैं और हिंदुओं पर शासन करने का हमें ईश्वर की ओर से अधिकार प्राप्त हुआ है और साथ ही इन लोगों के संबंध में यह भी एक बहुत प्रसिद्ध बात थी कि ये लोग बहुत ही कठोरतापूर्वक शासन करते थे। यों तो एक बार थोडी सी यूनानी प्रजा ने भी विशाल पारसी साम्राज्य के विरुद्ध सिर उठाया था और उसे ललकारा था, पर भार-शिवों के एक नेता ने, जो अज्ञात-वास से निकलकर तुखारों की इतनी वड़ी शक्ति के विरुद्ध सिर उठाया था और उसे ललकारा था, वह बहुत अधिक वीरता का काम था।

---

१. वासुदेव के सिक्के पाटलिपुत्र तक की खुदाई में पाए गए थे— A. R. A. S. E. C. १९१३-१४, पृ० ७४। यद्यपि कुशन और पूरी-कुशन सिक्कों का प्रभाव बंगाल की खाड़ी तक था, पर बिहार के बाहर साधारणतः राजमहल की पहाडियों तक ही उनका प्रचार तथा प्रभाव था। ऐसा प्रसिद्ध है कि उड़ीसा पर भी एक बार यवनों का आक्रमण हुआ था, पर यह आक्रमण संभवतः कुशन यवनों का था।

२. भेड़ाघाट में एक कुशन शिलालेख पाया गया है।

३. कनिष्क का पूर्वज बर्हतकीन अपने संबंध में जो जो बातें कहा करता था, उन्हें जानने के लिये देखो अलबेरूनी २, १० (J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० २२५।)

उन यूनानियों पर कभी पारसियों का प्रत्यक्ष रूप से शासन नहीं था; पर जो प्रदेश आज-कल संयुक्त प्रांत और बिहार कहलाता है, उस पर कुशन साम्राज्य का प्रत्यक्ष रूप से अधिकार और शासन था। यह कोई नाम मात्र की अधीनता नहीं थी जो सहज में दूर कर दी जाती और न यह केवल दूर पर टँगा हुआ प्रभाव का परदा था जो सहज में फाड़ डाला जाता। यहाँ तो प्रत्यक्ष रूप से ऐसे बलवान् और शक्तिशाली साम्राज्य-शक्ति पर आक्रमण करना था जो स्वयं उस देश में उपस्थित थी और प्रत्यक्ष रूप से शासन कर रही थी। भार-शिवों ने एक ऐसी ही शक्ति पर आक्रमण किया था और सफलतापूर्वक आक्रमण किया था। जो शातवाहन इधर तीन शताब्दियों से दक्षिण के सम्राट् होते चले आ रहे थे, वे शातवाहन अभी पश्चिम में शक शक्ति के विरुद्ध लड़-झगड़ ही रहे थे कि इधर भार-शिवों ने वह काम कर दिखलाया जिसे अभी तक दक्षिणापथ के सम्राट् पूरा नहीं कर सके थे।

भार-शिव शासन की सरलता

§ ४०. जिस प्रकार शिवजी बराबर योगियों और त्यागियों की तरह रहते हैं; उसी प्रकार भार-शिवों का शासन भी बिलकुल योगियों का-सा और सरल था। उनकी कोई बात शानदार नहीं होती थी, सिवा इसके कि जो काम उन्होंने उठाया था, वह अवश्य ही बहुत बड़ा और शानदार था। उन्होंने कुशन साम्राज्य के सिक्कों और उनके ढंग की उपेक्षा की और फिर से पुराने हिंदू ढंग के सिक्के बनाने आरंभ किए। उन्होंने गुप्तों की सी शान-शौकत नहीं बढ़ाई। शिव की तरह उन्होंने भी जान-बूझकर अपने लिये दरिद्रता अंगीकार की थी। उन्होंने हिंदू प्रजातंत्रों को स्वतंत्र किया और उन्हें इस

योग्य कर दिया कि वे अपने यहाँ के लिये जैसे सिक्के चाहें, वैसे सिक्के बनावें और जिस प्रकार चाहें, जीवन निर्वाह करें। जिस प्रकार शिवजी के पास बहुत से गण रहा करते थे, उसी प्रकार इन भार-शिवों के चारों ओर भी हिंदू राज्यों के अनेक गण रहा करते थे। वस्तुतः वही लोग शिव के बनाए हुए नंदी या गणों के प्रमुख थे। वे केवल राज्यों के संघ के नेता या प्रमुख थे और सब जगह स्वतंत्रता का ही प्रचार तथा रक्षा करते थे। वे लोग अश्वमेध यज्ञ तो करते थे, पर एकराट् सम्राट् नहीं बन बैठते थे। वे अपने देशवासियों के मध्य में सदा राजनीतिक शैव बने रहे और सार्व-राष्ट्रीय दृष्टि से साधु और त्यागी बने रहे।

§ ४१. शिव का उपासक एक संकेत या चिन्ह का उपासक हुआ करता है और बिंदु की उपासना या आराधना करता है। ये शिव के उपासक अवश्य ही बौद्ध मूर्त्तिपूजकों को उपासना की दृष्टि से निम्न कोटि के उपासक समझते रहे होंगे[1]। भार-शिव लोग चाहे बौद्धों को इस प्रकार निम्न कोटि का समझते रहे हों और चाहे न समझते रहे हों, परंतु इतना तो हम अवश्य ही निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि नाग देश में कम से कम इस विचार से तो बौद्ध धर्म का अवश्य ही पतन या ह्रास हुआ होगा कि उसने राष्ट्रीय सभ्यता के शत्रुओं के साथ राजनीतिक मेल रखा था। उन दिनों बौद्ध धर्म मानों एक अत्याचारी वर्ग

---

१. नाग-वाकाटक काल में लंका के बौद्ध लोग भगवान् बुद्ध का दाँत आंध्र से उठाकर लंका ले गए थे (§ १७५)। इससे सूचित होता है कि उन दिनों भारत में बौद्ध उपासना का आदर नहीं रह गया था (मिलाओ § १२६)।

का पोष्य पुत्र बना हुआ था; और जब उस वर्ग के अत्याचारों का निर्मूलन हुआ, तब उसके साथ साथ उस धर्म का भी अवश्य ही पतन हुआ होगा। आरंभिक गुप्तों के समय में बौद्ध धर्म का जो इतना अधिक पतन या ह्रास हुआ था, उसका कारण यही है। भार-शिव राजाओं के समय में उसका यह पतन या ह्रास और भी अधिक बढ़ गया था। बौद्ध धर्म उस समय राष्ट्रीयता के उच्च तल से पतित हो चुका था और उसने अ-हिंदू स्वरूप धारण कर लिया था। उसका रूप ऐसा हो गया था जो हिंदुत्व के क्षेत्र से बाहर था; और इसका कारण यही था कि उसने कुशनों के साथ संबंध स्थापित कर लिया था। कुशनों के हाथ में पड़कर बौद्ध धर्म ने अपनी आध्यात्मिक स्वतंत्रता नष्ट कर दी थी और वह एक राजनीतिक साधन बन गया था। जैसा कि राजतरंगिणी से सूचित होता है, कुशनों के समय में काश्मीर में बौद्ध भिक्षु समाज में उपद्रव और खराबी करनेवाले अत्याचारी और भार-स्वरूप समझे जाते थे। आर्यावर्त्त में भी लोग उन भिक्षुओं को ऐसा ही समझते रहे होंगे। समाज को फिर से ठीक दशा में लाने के लिये शैव साधुता या विरक्ति एक आवश्यक प्रतिकार बन गई थी। शकों ने हिंदू जनता को निर्बल कर दिया था और उस निर्बलता को दूर करने के लिये शैव साधुता एक आवश्यक वस्तु थी। कुशनों के लोलुपतापूर्ण साम्राज्य-वाद का नाश कर दिया गया और हिंदू जनता में नैतिक दृष्टि से जो दोष आ गए थे, उनका निवारण किया गया। और जब यह काम पूरा हो चुका, तब भार-शिव लोग क्षेत्र से हट गए। शिव का उद्देश्य पूरा हो चुका था, इसलिए भार-शिव लोग आध्यात्मिक कल्याण और विजय के लिये फिर शिव की भक्ति में लीन हो गए। अंत तक उन पर कोई विजय प्राप्त नहीं कर

सका था और न कभी उन्होंने अपने आचरणों को भौतिक स्वार्थ से कलंकित ही किया था। वे शंकर भगवान् और उनके भक्तों के सच्चे सेवक थे और इसीलिये वे अपना सेवा-कार्य समाप्त करके इतिहास के क्षेत्र से हट गए थे। इस प्रकार का संमानपूर्ण और शुभ अंत क्वचित् ही होता है और भार शिव लोग ऐसे अंत के पूर्ण रूप से पात्र थे। भार-शिवों ने आर्यावर्त्त मे फिर से हिंदू राज्य की स्थापना की थी। उन्होंने हिंदू साम्राज्य का सिंहासन फिर से स्थापित कर दिया था, राष्ट्रीय सभ्यता की भी प्रस्थापना कर दी थी और अपने देश मे एक नवीन जीवन का संचार कर दिया था। प्रायः चार सौ वर्षों के बाद उन्होंने फिर से अश्वमेध यज्ञ कराए थे। उन्होंने भगवान् शिव की नदी माता गंगा की पवित्रता फिर से स्थापित की थी और उसके उद्गम से लेकर संगम तक उसे पापों और अपराधों से मुक्त कर दिया था और इस योग्य बना दिया था कि वाकाटक और गुप्त लोग अपने मंदिरों के द्वारों पर उसे पवित्रता का चिह्न समझकर उसकी मूर्त्तियाँ स्थापित करते थे[1]। उन्होंने ये सभी काम

१. गंगा की प्राचीनतम पत्थर की मूर्त्ति जानखट नामक स्थान मे है (देखो इस ग्रंथ का दूसरा प्लेट)। इनके बाद की मूर्त्ति यमुना की मूर्त्ति के साथ भूमरा में है, और इसके बाद की मूर्त्तियाँ देवगढ मे मिलती हैं जिनका वर्णन कनिंघम ने *A. S. R.* खंड १०, पृ० १०४ मे पाँचवें मंदिर के अंतर्गत किया है। इन मूर्त्तियो के सिर पर पाँच फनवाले नाग की छाया है। ये मूर्त्तियाँ ठीक उसी प्रकार पाखो के नीचेवाले भाग मे हैं, जिस प्रकार समुद्रगुप्त के एरनवाले विष्णु मंदिर मे है। देवगढ मे का नाग-छत्र अनुपम है और उसके जोड़ का नाग छत्र

कर डाले थे, पर फिर भी अपना कोई स्मारक पीछे नहीं छोड़ा था। वे केवल अपनी कृतियाँ छोड़ गए और स्वयं अपने आपको उन्होंने मिटा दिया।

नाग और मालव

§ ४२. दस अश्वमेध यज्ञ करनेवाले नागों ने—यदि आजकल शब्दों में कहा जाय तो नाग सम्राटों ने—उन प्रजातंत्रों का रक्षण और वर्धन किया था जो समस्त पूर्वी और पश्चिमी मालव में और संभवतः गुजरात, आभीर, सारे राजपूताने, यौधेय और मालव और कदाचित् पूर्वी पंजाब के एक अंश मद्र में फैले हुए थे; और ये समस्त प्रदेश गंगा की तराई के पश्चिम में एक ही सबद्ध और विस्तृत क्षेत्र में थे। इसके उपरांत वाकाटकों के समय में जब समुद्रगुप्त ने रंगमंच में प्रवेश किया था, तब ये सब प्रजातंत्र अवश्य ही स्वतंत्र थे। जान पड़ता है कि मालव प्रजातंत्रों की स्थापना ऐसे लोगों और वर्गों ने की थी जो नागों के सगे संबंधी ही थे। जैसा कि एरन के प्रजातंत्री सिक्कों से सूचित होता है, विदिशा के आस पास के निवासी बहुत आरंभिक काल से ही नागों के उपासक थे। स्वयं एरन या ऐरिकिण नगर का नाम ही

और कहीं नहीं मिलता। पौराणिक दृष्टि से गंगा और यमुना के साथ नाग का कोई संबंध नहीं है। नदी संबंधी भावना का संबंध भारशिवों के समय से है। देखो (§ ३०), और इस मूर्ति के साथ जो नाग रखा गया है, उससे हमारे इस विचार का प्रबल समर्थन होता है। नाग गंगा और नाग यमुना उस नाग सीमा की दोनों नदियों की सूचक हैं जिसे उन लोगों ने स्वतंत्र किया था। नदी संबंधी भावनाओं का जान-बूझकर जो राजनीतिक महत्त्व रखा गया था उसके संबंध में मिलाओ § ८६।

ऐरक के नाम पर पड़ा है जो नाग था और एरन के सिक्कों पर नाग या सर्प की मूर्ति मिलती है। मालवों ने जयपुर के पास कर्कोट नागर नामक स्थान में अपनी राजधानी बनाई थी और यह नाम नाग कर्कोट के नाम पर रखा गया था। यह स्थान आज-कल उनियारा के राजा के राज्य में है जो जयपुर के महाराज का एक करद राज्य है और टोंक से २५ मील पूर्व दक्षिण में स्थित है। राजधानी के नाम कर्कोट नागर में जो नागर शब्द है, स्वयं उसका संबंध भी नाग शब्द के साथ है। यहाँ ध्यान में रखने योग्य महत्त्व की एक बात यह भी है कि नाग राजाओं और प्रजातंत्री मालवों की सभ्यता एक ही थी और संभवतः वे लोग एक ही जाति के थे। राजशेखर कहता है कि टक्क लोग और मरु के निवासी अप-भ्रंश के मुहावरों का प्रयोग करते थे। जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, पद्मावती के गणपति नाग का परिवार टाक वंशी था, जिसका अभिप्राय यह है कि वह परिवार टक्क देश से आया था। इससे हमें पता चलता है कि मालव और नाग लोग एक ही बोली बोलते थे। जान पड़ता है कि जब प्रजातंत्री मालव लोग आरंभ में पंजाब से चले थे, तब टक्क नाग भी उन लोगों के साथ ही वहाँ से चले थे। साथ ही यह भी पता चलता है कि स्वयं नाग लोग भी मूलतः प्रजातंत्री वर्ग के ही थे - पंचकर्पट के ही थे (देखो § ३१)—और वे वस्तुतः पंजाब के रहनेवाले थे जो पीछे से मालवा में आकर बस गए थे।

दूसरे प्रजातंत्र

§ ४३. नाग सम्राट् उस आंदोलन के नेता बन गए थे जो कुशनों के शासन से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये उठा था। नाग काल में मालवों, यौधियों और कुणिंदों (मद्रकों) ने फिर से अपने अपने सिक्के बनाने आरंभ कर दिए थे। यदि इस

विषय मे अधिक सूक्ष्म विचार किया जाय तो बहुत संभव है कि यह पता चल जाय कि उनके इन सिक्कों का नाग सिक्कों के साथ संबंध था; और यह भी पता चल जाय कि उन पर के चिह्न या अंक एक ही प्रकार के थे अथवा वे सब नागों के अधीन थे[1]। मालव प्रजातंत्री सिक्कों का पद्मावती के सिक्कों के साथ जो संबध है, उसका पता पहले ही चल चुका है और सब लोगों के ध्यान मे आ चुका है। डा० विंसेंट स्मिथ कहते है कि उन नाग सिक्कों का परवर्त्ती मालव सिक्कों के साथ घनिष्ट संबंध है[2]। कुछ अंतर के उपरांत मालव सिक्के फिर ठीक उसी समय बनने लगे थे, अर्थात लगभग दूसरी शताब्दी ईसवी मे बनने लगे थे जिस समय पद्मावती के नाग सिक्के बने थे[3]। यौधेय सिक्के भी फिर से ईसवी दूसरी शताब्दी मे ही बनने आरंभ हुए थे[4] और कुणिंद सिक्कों का बनना तीसरी शताब्दी मे आरंभ हुआ था[5], और जान पड़ता है कि इसका कारण यही है कि कुणिंद लोग सबके अंत मे स्वतंत्र हुए थे। यही बात दूसरे शब्दों मे इस प्रकार कही जा सकती है कि

---

१. भार-शिवो के सिक्को मे वृत्त का जो अद्भुत चिह्न मिलता है और उस वृत्त के आस-पास जो और चिह्न बने रहते है (देखो § २६ क–२६) वे उस समय के और भी अनेक प्रजातत्री सिक्को पर पाए जाते हैं।

२. C. I. M. पृ० १६४।

३. रैप्सन I. C. पृ० १२, १३ मिलाओ C. I M. पृ० १७६-७७।

४. C. I. M. पृ० १६५।

५. रैप्सन I C. पृ० १२।

कि योधेयों और मालवों का पुनरुत्थान नागों के साथ ही साथ हुआ था।

नाग साम्राज्य, उसका स्वरूप और विस्तार

§ ४८. कुशन शक्ति को खास धक्का नाग सम्राटों के हाथों लगा था। पर साथ ही यह बात भी प्रायः निश्चित सी है कि इन बड़े बड़े प्रजातंत्रों का एक संघ सा था, और इसलिये नागों को अपने इन युद्धों मे इन प्रजातंत्री समाजों से भी अवश्य ही सहायता मिली होगी। हम कह सकते है कि नाग साम्राज्य एक प्रजातंत्री साम्राज्य था। जान पड़ता है कि मगध मे कोट राजवंश का उत्थान भी इन्हीं नागों की अधीनता मे हुआ था (देखो तीसरा भाग)। गुप्त राजवंश की जड़ भी नाग काल मे ही जमी थी और पुराणों मे इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। (देखो तीसरा भाग § ११०)। यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि नाग लोग भी उत्तर से ही चलकर आए थे और पूर्व से आकर बस गए थे (देखो तीसरा भाग § ११२)। मगध के कोट और प्रयाग के गुप्त भी संभवतः नाग साम्राज्य के अधीनस्थ और अंतर्गत ही थे। वायु और ब्रह्मांड पुराण मे इस बात का उल्लेख है कि बिहार मे नव नागों की राजधानी चंपावती मे थी। नागों ने अपने राज्य का विस्तार मध्य प्रदेश तक कर लिया था, और इस बात का प्रमाण परवर्त्ती वाकाटक इतिहास से और नागवर्द्धन नंदिवर्द्धन तथा नागपुर आदि स्थान-नामों से मिलता है। विंध्य पर्वतों के ठीक मध्य मे पुरिका मे भी उनकी एक राजधानी थी और वही मानों मालवा जाने के लिये प्रवेश-द्वार था। हम यह मान सकते है कि मोटे हिसाब से बिहार, आगरे और अवध के संयुक्त प्रदेश, बुंदेलखंड, मध्य प्रदेश, मालवा, राजपूताना और पूर्वी पंजाब

का मद्र प्रजातंत्र सभी भार-शिवो के साम्राज्य के अंतर्गत थे। कुशनो ने भार-शिव काल के ठीक मध्य मे—अर्थात् सन् २२६-२४१ ई० मे—अर्दशिर की अधीनता स्वीकृत की थी और सन् २३८ से २६९ ई० के बीच मे उन्होने अपने सिक्को पर शापुर की मूर्त्ति को स्थान दिया था। यह भार-शिवो के दबाव का ही परिणाम था। इस प्रकार भार-शिवो के दस अश्वमेध कोरे यज्ञ ही नही थे।

§ ४५. अश्वमेध किसी राजवंश के पुनरुत्थान, राजनीतिक पुनरुत्थान और सनातनी संस्कृति के पुनरुद्धार के सूचक होते है।

नागर स्थापत्य

परंतु इन अश्वमेधो के अतिरिक्त इस बात का एक और स्वतंत्र प्रमाण भी मिलता है कि उस समय सनातनी संस्कृति का पुनरुद्धार और नवीन युग का आरंभ हुआ था। नागर शब्द—जैसा कि कर्कोट नागर आदि शब्दो मे पाया जाता है—निस्संदेह रूप से नाग शब्द के साथ संबद्ध है और उस शब्द का देशी भाषा का रूप है जो यह सूचित करता है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति नाग शब्द से है, और ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार नगरधन शब्द=नागरवर्द्धन (§ ३२) मे है। स्थापत्य शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है नागर शैली, और इसकी व्याख्या केवल इस बात को आधार मानकर नही की जा सकती कि इसका संबंध नगर (शहर) शब्द के साथ है। मत्स्य पुराण मे—जिसमे सन् २४३ ई० तक की अर्थात् गुप्त काल की समाप्ति से पहल की ही राजनीतिक घटनाओ का उल्लेख है—यह शैली-नाम नहीं मिलता। पर हाँ, मानसार नामक ग्रंथ मे यह शैली-नाम अवश्य आया है और वह ग्रंथ गुप्त काल मे अथवा उसके बाद बना था। नागर शैली से जिस शैली का अभिप्राय है, जान पड़ता है कि उस शैली का

प्रचार नाग राजाओ ने किया था ; इस संबंध मे हमे यह भी याद रखना चाहिए कि इस रूप मे नागर शब्द का प्रयोग और स्थानो मे भी हुआ है। गंगा की तराई बुलंदशहर मे रहनेवाले ब्राह्मण नागर ब्राह्मण कहलाते हैं[1] जो मुसलमानो के समय मे मुसलमान हो गए थे; और अहिच्छत्र के पास रहनेवाले जाट लोग नागर जाट कहलाते है[2]। इनमे से उक्त ब्राह्मण लोग नागो के पुरोहित थे; और इस नागर शब्द मे जो 'र' लगा हुआ है, वह नागो के साथ उनका संबंध सूचित करता है। स्थापत्य शास्त्र मे इसी नागर शैली की तरह देशी भाषा मे एक और शैली कहलाती है जिसका नाम वेसर शैली है; और नागर शैली से उसमे अंतर यह है कि उसमे नागर की अपेक्षा फूल-पत्ते और बेल-बूटे आदि अधिक होते हैं। संस्कृत शब्द वेष है जिसका अर्थ है—पहनावा या सजावट। और प्राकृत मे इसका रूप वेस अथवा वेस हो गया है और उसका अर्थ है—फूल-पत्तो या बेल-बूटो से युक्त

---

१. एफ० एस० ग्राउस ने J. B. A. S. १८७९, पृ० २७१ मे लिखा है—"नगर के मुख्य निवासी नागर ब्राह्मणो की संतान हैं जो औरंगजेब के समय मे मुसलमान हो गए हैं और जिनकी यह धारणा है कि हमारे पूर्वज जनमेजय के पुरोहित थे और उन्हींने जनमेजय का यज्ञ कराया था और इसी के पुरस्कार स्वरूप उन्हे इस नगर और इसके आसपास के गाँवो का पट्टा मिला था।"

२ रोज (Rose) कृत Glossary of the Tribes & Castes of the Punjab & the N. W. F. Provinces १९१९, खंड १, पृ० ४८।

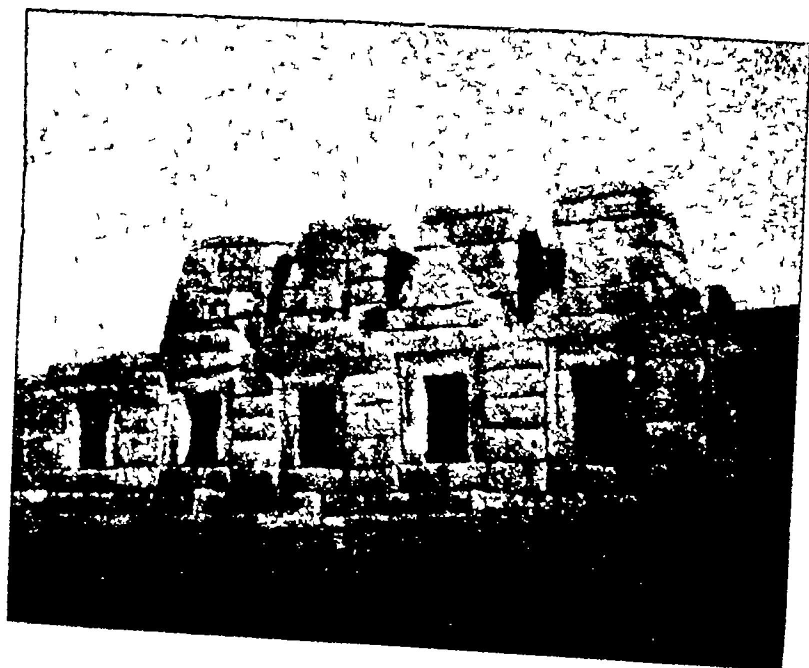
(देखो शिल्प रत्न १६, ५० वेसरम् वेष्य उच्यते') । नागर और वेसर दोनों ही शब्दों मे मूल शब्द नाग और वेष मे देशी भाषा के नियमानुसार उसी प्रकार र अक्षर जोड़ दिया गया है जिस प्रकार ग्रथ (गाँठ) शब्द से बने हुए गट्ठर शब्द मे जुड़ा है। इसी प्रकार नागर मे मूल शब्द नाग है। धार्मिक भवनों या मंदिरों आदि की वह शैली वेसर कहलाती है जिसमे ऊपरी या बनावटी सजावट और वेल-बूटे आदि बहुत होते है। इसके विपरीत नागर वह सीधी-सादी शैली है जो हमे गुप्तो के बनवाए हुए चौकोर मंदिरो, नचना नामक स्थान के पार्वती के वाकाटक मंदिर और भूमरा (भूभरा, देखो परिशिष्ट क) के भार-शिव मंदिर मे मिलती है। वह एक कमरे या कोठरीवाला गृह (निवास-स्थान) था (मत्स्यपुराण २५७, ५१, २५३. २)।

यद्यपि नागो की पुरानी इमारतों की अभी तक अच्छी तरह जाँच-पड़ताल नही की गई है, तो भी हम जानते है कि मालव प्रजातंत्र की राजधानी कर्कोट नागर मे असली वेसर शैली की इमारते भी थीं। कारलेले ने A. S. R. खंड ६, पृ० १८६ मे उस मंदिर का वर्णन किया है जिसकी उसने खुदाई की थी और उसे अद्‌भुत आकृतिवाला बतलाया है। वह लिखता है—

"इस छोटे से मंदिर मे यह विशेषता है कि बाहर से देखने मे प्रायः बिलकुल गोल है अथवा अनेक पार्श्वों से युक्त गोलाकार है, और इसके ऊपर किसी समय संभवतः एक शिखर रहा होगा

---

१. मिलाओ हाथीगुफावाले शिलालेख E. I. २०, पृ० ८०, पंक्ति १३ का विशिक शब्द जो राज या इमारत बनानेवाले के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। हिंदी मे (वेसर) एक गहने का नाम है जो नाक मे पहना जाता है।



खजुराहो मे चौंसठ जोगिनी का मन्दिर

पृ० १०५

और अन्दर पत्थरों के ढोंकों की चुनी हुई एक चौकोर कोठरी रही होगी, क्योंकि इस बात का कोई चिह्न नहीं मिलता कि इसमें कोई खंभेदार सभा-मंडप, ड्योढ़ी या कोई गर्भगृह रहा होगा।"

इस काल में एक शिखर-शैली भी मिलती है। इसमें नागर ढंग की चौकोर इमारत पर चोपहला शिखर होता है[1]। इस शैली का एक बहुत छोटा मंदिर मुझे सूरजमऊ में मिला है। इस मंदिर में पहले शिव-लिंग प्रतिष्ठित था, पर अब वह लिंग बाहर है और यह मंदिर नाग बाबा का मंदिर कहलाता है। कर्कोट नागर में शिखरोंवाले जो छोटे छोटे मंदिर मिले हैं, वे सब किसी एक ही ढंग के नहीं हैं। सूरजमऊ में मैंने जो मंदिर ढूँढ़ निकाला था, उसका नीचेवाला चौकोर भाग गुप्त शैली का था, और ऊपरी या शिखरवाले अंश को देखने से जान पड़ता है कि उसमें एक पर एक कई दरजे थे और पर्वत के शिखर के ढंग पर बने थे। खजुराहो में चौसठ योगिनियों के जो मंदिर हैं, वे सब भी इसी ढंग के हैं। कनिंघम ने चौसठ योगिनियों के मंदिरों का समय राजा ढंग के प्रपिता से पहले का अर्थात् लगभग सन् ८०० ई० का निर्धारित किया है (A. S. R. २१, ५७) और उसका यह निर्धारण बहुत ठीक है। यदि सूरजमऊवाले नाग बाबा के मंदिर[2] और चौसठ योगिनियों के

---

१. नागर ढाँचे के संबंध या नकशे के संबंध में मिलाओ गोपीनाथ रावकृत Iconography २, १, पृ० ९९। नागर चतुरस्र स्यात्। देखो शिल्परत्न १६, ५८।

२. देखो माडर्न रिव्यू (Modern Review) अगस्त १९३२ सूरजमऊ कसबा मध्यभारत में छतरपुर के पास है।

मंदिरों[1] को देखा जाय तो तुरंत ही पता चल जाता है कि नाग बाबा वाला मंदिर बहुत पुराना है। कनिंघम को तिगोवा में इस प्रकार के छोटे-छोटे ३४ मंदिरों की नींवें मिली थीं[2] और ये सब मंदिर पूर्व की ओर तो खुले हुए थे और बाकी तीनों ओर से बंद थे, अर्थात् ये सबके सब बिलकुल सूरजवाले मंदिर की तरह थे लंबाई-चौड़ाई में भी उसके बराबर ही थे। वहाँ की मूर्त्तियों के संबंध में कनिंघम का मत था कि वे गुप्तकाल की बनी हुई हैं और इन मंदिरों का समय भी उसने यही निर्धारित किया था। स्मिथ ने अपने History of India नामक ग्रंथ के प्रकाशन के उपरांत तिगोवावाले मंदिरों के भग्नावशेष के पूर्व-निर्धारित समय में कुछ परिवर्त्तन या सुधार किया था और कहा था कि ये वाकाटक काल के अर्थात् समुद्रगुप्त के समय के हैं[3]। मुझे वहाँ शिखरों के बहुत से चौकोर टुकड़े मिले थे। कर्कोट नागरवाले छोटे छोटे शिखर-मुक्त मंदिर भी कम से कम सन् २५० ई० के लगभग के होंगे, और इसी समय के उपरांत से मालवों का फिर कुछ पता नहीं चलता और इस उजड़े हुए नगर में उस समय के पीछे का कोई सिक्का नहीं मिलता। ये छोटे मंदिर, जिनके भग्नावशेष कर्कोट नगर और तिगोवा में मिले है, ऐसे हिंदू मंदिर हैं जो

---

१ मुझे अभी तक कहीं इनके चित्र नहीं मिले हैं। देखो प्लेट ७ क।

२ A, S. R. ६, ४१-४४।

३ J. R. A. S. १६४, पृ० २२२४। मैं इससे सहमत हूँ। इसमें का बारीक काम वैसा ही है जैसा नचना में है। स्थान का नाम तिगवाँ है।

मन्नत पूरी होने पर बनवाए गए थे और ठीक उसी तरह के हैं, जिस तरह के स्तूप कुशनकाल में मन्नत पूरी होने पर बनवाए जाते थे। इस प्रकार स्थापत्य की दृष्टि से भी ये मंदिर कुशन-काल के ठीक बाद ही बने होंगे। मन्नत पूरी होने पर जो शिखर-वाले मंदिर बनवाए जाते थे, उनकी अपेक्षा साधारण रूप से बनवाए हुए मंदिर अवश्य ही बहुत बडे होते होंगे। शिखर बहुत पुराने समय से बनते चले आते थे। हाथी-गुंफावाले शिलालेख (लगभग १६० ई० पू०) में भी शिखरों का उल्लेख है जहाँ कहा गया है—"ऐसे सुंदर शिखर जिनके अंदर नक्काशी का काम किया है।" यह भी उल्लेख है कि वे शिखर बनाने-वालों को, जिनकी संख्या एक सौ थी, सम्राट खारवेल की ओर से भूमि-संबंधी दानपत्र मिले थे (एपिग्राफिया इंडिका, २०, पृ० ८०, पंक्ति १३)। नागर शिखर एक विशेष प्रकार का और संभवतः बिलकुल नए ढंग का होता था, जिसका बनना नागों के समय अर्थात् भार-शिव राजवंश के शासन-काल में आरंभ हुआ था; और उन्हीं के नाम पर उस शैली को स्थायी और बहुत दूर तक प्रचलित 'नागर' नाम प्राप्त हुआ था। वाकाटक काल में, जो नाग काल के उपरांत हुआ था, हमें नागर शिखर का नमूना नचना के चतुर्मुख शिववाले मंदिर के रूप में मिलता है। वहाँ पार्वती का जो मंदिर है, वह पर्वत के अनुरूप बना था और उसमें वन्य पशुओं से युक्त गुफाएँ भी बनी थीं। परंतु शिव के मंदिर में केवल शिखर (कैलास) ही है। ये दोनों मंदिर एक ही समय में बने थे और दोनों शैलियाँ भी एक ही काल में प्रचलित थीं। इन दोनों का वही समय निश्चित किया गया है जो गुप्त मूर्त्तियों का समय कहलाता है और इसका अभिप्राय यह है कि वे मंदिर गुप्तों के बाद के तो नहीं हैं,

परंतु फिर भी वे गुप्तीय नहीं है।[1] उन पर की मूर्त्तियाँ और बेल-बूटे बनानेवाले कारीगर एक ही थे। चतुर्मुख शिव के मंदिर का शिखर बहुत ऊँचा है और उसके पार्श्व कुछ गोलाई लिए है और उसकी ऊँचाई लगभग ४० फुट है। वह एक ऊँचे चबूतरे पर बना है। उसमें खंभे या सभा-मंडप नहीं है (देखो परिशिष्ट क)।

भूमरा मंदिर

§ ४६ क. भूमरा-मंदिर का पता स्व० श्री राखालदास बनर्जी ने लगाया था। यह मंदिर उन्हें पश्चिमी बघेलखंड की नागौद रियासत के उन्चहरा—गुप्त वाकाटक-काल के शिलालेखों का उच्छ-कल्प—नामक स्थान में मिला था और उन्होंने इसका समय ईसवी पाँचवी शताब्दी निश्चित किया है।[2] यह

---

१. इस चतुर्मुख मंदिर के संबंध मे विद्वानों ने बहुत सी अटकल-पच्चू बातें कही हैं। वे कहते हैं कि चतुर्मुख का शिखरवाला मंदिर संभवतः बाद का बना हुआ है। परंतु वे लोग यह बात भूल जाते हैं कि ये दोनों मंदिर एक ही योजना के अंग हैं और दोनों की मूर्त्तियाँ एक ही छैनी की बनी हैं। दोनों ही मंदिर अपने मूल रूप मे और पहले मसाले से बने हुए वर्त्तमान हैं। वे एक ही योजना के अंग हैं। एक मे पर्वतों मे रहनेवाली पार्वती है और उसकी दीवारें पर्वतों के अनुरूप बनी हैं; और दूसरे मे कैलास के सूचक शिखर के नीचे चतुर्मुख लिंग है। ये मंदिर बिलकुल एकांत मे बने थे और इसीलिये मूर्त्तियों और मंदिरों को तोड़नेवालों के हाथों से बच गए। देखो अंत मे परिशिष्ट।

२. Archaeological Memoir सं० १६, पृ० ३, ७। इनमें भग्नावशेष के चित्र भी हैं; और उस भग्नावशेष में की कुछ वस्तुएँ अब

मंदिर अवश्य ही भार-शिवों का बनवाया हुआ है। यह शैव मंदिर है। नचना के चतुर्मुख शिव की तरह का एक लिंग इस मंदिर में स्थापित किया गया था और इस मंदिर की शैली का अनुकरण समुद्रगुप्त के समय एरन में किया गया था। इस मंदिर में ताड की जो विलक्षण आकृतियाँ है, वही नागों की परंपरागत बातों के साथ इसका संबंध स्थापित करती है। ताड़ नागों का चिह्न था और यह ताड पद्मावती में भी मिला है जो नागों की राजधानियों में से एक थी। भूमरा में तो हमें पूरे खंभे ही ऐसे मिलते है जो ताड के वृक्षों के रूप में गढ़े गए थे (देखो प्लेट ४), और खंभों का यह एक ऐसा रूप है जो और कहीं नहीं मिलता। हम तो इसे नाग (भार-शिव) कल्पना ही कहेंगे। सजावट के लिये ताड़ के पत्ते (पंखे) के कटावों का उपयोग किया गया है। उसमें मनुष्यों की जो मूर्त्तियाँ है, वे भी बहुत सुंदर और आदर्श रूप है। वे मूर्त्तियाँ बहुत ही जानदार है और उनके सभी अंगों से सजीवता टपकती है। न तो कहीं कोई ऐसी बात है जो बिलकुल आरंभिक अवस्था की सूचक हो और न कोई ऐसा चिह्न है जो पतन काल का बोधक हो। वे बिलकुल खास ढंग की बनी है, उनके बनाने में विशिष्ट कल्पना से काम लिया गया है और वे विशेष रूप से गढी गई है। ये सब मूर्त्तियाँ उसी तरह की है जिस तरह की हमें मथुरा में प्रायः मिलती है। यहाँ हमें वह असली और पुरानी हिंदू कला मिलती है जो सीधी भरहुत की कला से निकली थी, और भरहुत वहाँ से कुछ ही मीलों पर है। भरहुत यों तो भूमरा से पहले का है, पर भरहुत को देखने से यह पता चलता है कि

कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम या अजायबखाने में चली गई है। इसके समय के लिये देखो अंत में परिशिष्ट क।

वह पहले की एक और प्रकार की हिंदू कला के पतन-काल का बना है। अब तक यह पता नहीं चलता था कि भारत की राष्ट्रीय सनातनी कला के साथ उदयगिरि-देवगढ़वाली गुप्तीय कला का क्या संबंध है, पर भूमरा के मंदिरों को देखने से स्पष्ट पता चल जाता है कि यह उन दिनों की संयोजक शृंखला है। राष्ट्रीय सनातनी कला केवल बघेलखंड और बुंदेलखंड में ही बची हुई दिखाई पड़ती है जहाँ कुशनों का शासन उस कला का यथेष्ट रूप से नाश नहीं कर पाया था। भार-शिव और वाकाटक संस्कृति में बहुत थोड़ा अंतर है, क्योंकि वाकाटक संस्कृत उसी भार-शिव संस्कृत का परंपरागत रूप या शेपांश है; और इसलिये हम कुछ निश्चयपूर्वक यह बात मान सकते हैं कि भार-शिवों के समय में राष्ट्रीय रूपदात्री कला का पुनरुद्धार हुआ था; और इस बात की पुष्टि जानखट के भग्नावशेषों से होती है जिनका पहले से और स्वतंत्र अस्तित्व था। भार-शिवों से पहले जो शिखर बनते थे, वे चौकोर मीनार के रूप में होते थे, जैसा कि पाटलिपुत्र में मिले हुए उस धातु-खंड से सूचित होता है जिस पर बोध गया का चित्र बना है और जिस पर ईसवी पहली या दूसरी शताब्दी का एक लेख अंकित है। साथ ही सन् १५० ईसवी के लगभग की बनी हुई और मथुरा में मिली हुई शिखर-मंदिरों की उन दोनों मूर्तियुक्त प्रकृतियों से भी, जिनकी ओर डा० कुमारस्वामी ने ध्यान आकृष्ट किया है, यही बात सूचित होती है[1]। भार-शिव और वाकाटक शिखर चौकोर मंदिर के ऊपर

---

१ History of Indian & Indonesian Art, प्लेट १६।

चौकोर मीनार के रूप मे होते हैं और उस मीनार पर कुछ उभार होता है। कुशनों के उपरांत नए ढंग का यह शिखर अवश्य ही भार-शिव काल मे बनना आरंभ हुआ था, और इसी शैली को हम नागर शिखर कह सकते है।

§ ५७. गुप्तों के समय में आकर पत्थर के मंदिरों मे यह शिखर-शैली पुरानी और परित्यक्त हो जाती है। पर हाँ, गुप्त काल मे ईंटों और चूने के जो मंदिर आदि बनते थे, उनमे इस नागर शैली की अवश्य प्रधानता रहती थी[1]। मध्य-कालीन स्थापत्य मे स्तंभ और शिखर का चौकोर और गोल बनावट का अर्थात् नागर और वेसर शैलियों का संमिश्रण पाया जाता है और नागर शैली की कुछ प्रधानता रहती है।

§ ४८. चित्र-कला की भी एक नागर शैली थी। देखने मे तो उसका भी नाग काल से ही संबंध सूचित होता है, पर अभी तक हम लोग उसे पूरी तरह से पहचान नहीं सकते है। और अजंता में अस्तरकारी पर बने हुए जो हमारे पुराने चित्र बने है, यदि उनमे किसी समम आगे चलकर इस शैली का कुछ विशिष्ट रूप से स्पष्टीकरण हो जाय और उसका पता चल जाय तो मुझे कुछ भी आश्चर्य न होगा। अजंता सन् २५० ईसवी के लगभग नाग साम्राज्य मे सम्मिलित हुआ था।

नागर चित्र-कला

---

१. मिलाओ कौंच नामक स्थान के ईंटों के बने हुए गुप्त मंदिर के सबंध मे कनिंघम का लेख A. S. R. १६, प्लेट १७, पृ० ५२।

§ ४६. यह बात निश्चित है कि नागों ने प्राकृत भाषा का तिरस्कार नहीं किया था। अपने सिक्कों पर वे प्राकृत का व्यवहार करते थे। राजशेखर यद्यपि बाद में हुआ है, तो भी उसने लिखा है कि टक्क लोग अपभ्रंश-भाषाओं का व्यवहार करते हैं। कुशनों के आने से पहले भी प्राकृत ही राज-भाषा थी और उनके बाद भी वही बनी रही। राजनीतिक क्षेत्र में वे प्रजातंत्रवादी थे और भाषा के संबंध में भी वे प्रजा के बहुमत का ध्यान रखते थे।

भाषा

§ ४६ क. इसी प्रकार यह भी बतलाया जा सकता है कि लिपि का नाम नागरी क्यों पड़ा। मैं समझता हूँ कि लिपि का यह नाम नाग राजवंश के कारण पड़ा है, क्योंकि शीर्ष-रेखा लगाकर अक्षरों को लिखने की प्रथा इन्हीं के समय में चली थी: और इसके अस्तित्व का प्रमाण हमें पृथिवीषेण प्रथम के समय से नचना और गंज के शिलालेखों में मिलता है[1]। वाका-

नागर लिपि

---

१. एपिग्राफिया इंडिका खंड १७, पृ० ३६२ में जो यह एक नई बात कही गई है कि नचना और गंज के शिलालेख पृथिवीषेण द्वितीय के हैं, उससे मैं जोरदार शब्दों में अपना मत-भेद प्रकट करता हूँ। मैंने उनकी लिपियों का बहुत ध्यानपूर्वक मिलान किया है और यह स्थिर करना असभव है कि वे ईसवी चौथी शताब्दी के बाद के हैं। इन लेखों के काल के संबंध में फ्लीट का जो मत था, वह बिलकुल ठीक था। पृथिवीषेण द्वितीय के प्लेटों से यह बात स्पष्ट रूप में प्रकट होती है कि नचनावाला पृथिवीषेण उससे बहुत पहले हुआ था। (वाकाटक शिलालेखों के संबंध में देखो § ६१ क।)

टक शिलालेखों में अक्षर ऊपर की ओर संदूक-नुमा शीर्ष रेखा से घिरे हुए मिलते है, पर सन् ८०० ई० के लगभग नागरी लिपि मे वह एक सीधी रेखा के रूप मे हो गई थी। जान पड़ता है कि नागरी नाम का प्रयोग उस लिपि के लिये होता था जो ईसवी चौथी शताब्दी मे तथा पांचवीं शताब्दी के आरंभ मे प्रचलित थी और जिसमे अक्षरों की शीर्षरेखा संदूकनुमा होती थी। यह बात भी विशेष रूप से ध्यान मे रखने की है कि इस सदूकनुमा लिपि का सबसे अधिक प्रचार भी ठीक उन्ही के स्थानों मे था, जिन स्थानो मे नागो का शासन सबसे प्रबल था, अर्थात् बुंदेलखंड और मध्य प्रदेश मे ही इस लिपि का विशेष प्रचार था। मध्य प्रदेश मे हमे नाग काल के पहले का एक कुशन शिलालेख भेड़ाघाट मे मिलता है जो साधारण ब्राह्मी लिपि मे है। इसलिये विलक्षण संदूकनुमा लिपि का प्रचार कुशनो के उपरांत और वाकाटकों के पहले हुआ था। हम निश्चित रूप से और दृढ़तापूर्वक कह सकते है कि उसका प्रचार नाग काल में हुआ था।

§ ५०. गंगा और यमुना की मूर्त्तियों और नाग काल के साथ उनके संबध का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वाकाटक काल मे भी इस प्रकार की मूर्त्तियाँ बराबर मिलती है (§ ८६); और आगे गुप्त कला मे भी उसके उपरांत चंदेल कला में भी इस प्रकार की मूर्त्तियाँ देखने मे आती है[1]।

गगा और यमुना

1. कनिंघम A. S R. २१, ५६. कनिंघम ने जिस फाटक का उल्लेख किया है, वह आजकल खजुराहो के म्यूज़ियम या अजायबघर के द्वार पर लगा है।

§ ५१. इसके उपरांत जो दूसरा बड़ा अर्थात् गुप्त काल आया, उसमे हमें सामाजिक बातो मे सहसा एक परिवर्त्तन दिखाई देता है। गुप्त शिलालेखो मे हमें यह लिखा मिलता है कि गौ और सॉड़ पवित्र है और इनकी हत्या नही होनी चाहिए। इस प्रकार की धारणा का आरंभ संभवतः नाग काल मे हुआ था। कुशन लोग गौओ और सॉड़ो की हत्या करते थे[२]। पर भार-शिवो के लिये सॉड़ एक पवित्र चिह्न के रूप मे था और यहाँ तक कि वे स्वयं अपने आपको भी नंदी मानते थे। संभवतः उनके कारण उनके सारे साम्राज्य में सॉड़ पवित्र माना जाने लगा था और यही से मानो उनका काल उस पिछले राजनीतिक काल से अलग होता था, जिसमे कुशनो की पाकशाला के लिये आम तौर पर सॉड़ मारे जाते थे। गुप्त काल में राजाओ को इस बात का गर्व रहता था कि हम सॉड़ो और गौओ के रक्षक है; और इस प्रकार वे कुशनो के शासन के मुकाबले मे स्वयं अपने शासन की एक विशेषता दिखलाते थे। आधुनिक हिंदुत्व की नींव नाग सम्राटों ने रखी थी, वाकाटको ने उस पर इमारत खड़ी की थी, और गुप्तो ने उसका विस्तार किया था।

गौ की पवित्रता



२. देखो आगे गुप्तो के प्रकरण मे कुशनो के शासन का विवरण (§ १४६ ख।)

दूसरा भाग

वाकाटक राज्य (सन् २४८–२८४ ई०)

वाकाटक साम्राज्य (सन् २८४–३४८ ई०) और परवर्त्ती वाकाटक काल (सन् ३४८–५५० ई०) के संबंध में एक परिशिष्ट[1]

वाकाटकललामस्य क्रमप्राप्तनृपश्रियः—वाकाटक मोहर।

७. वाकाटक

§ ५२. वाकाटक शिलालेखों आदि से नीचे लिखी बातें भली भाँति सिद्ध होती हैं। समुद्रगुप्त की विजयों से प्रायः एक सौ वर्ष पहले वाकाटक नाम का एक राजवंश हुआ था। इस राजवंश का पहला राजा विंध्यशक्ति[2] नाम का एक ब्राह्मण था। इन राजाओं का गोत्र विष्णुवृद्ध था और यह भारद्वाजों का एक उपविभाग है। इस राजवंश का दूसरा

वाकाटक और उनका महत्त्व

---

१ वाकाटकों का परवर्त्ती इतिहास (सन् ३४८–५५० ई०) इसमें इसलिये सम्मिलित कर लिया गया है कि एक तो उसका सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व था और दूसरे और कहीं उसका वर्णन भी नहीं हुआ था।

२. जान पड़ता है कि यह उसका असली नाम नहीं था, बल्कि राज्याभिषेक के समय धारण किया हुआ अभिषेक-नाम था, और उस देश के नाम पर रखा गया था जिस देश में उसकी शक्ति का उदय हुआ था।

राजा प्रवरसेन था और उसके उपरांत जितने राजा हुए, उन सबके नामों के अंत में सेन शब्द रहता था। विंध्यशक्ति का पुत्र प्रवरसेन था और आगे इसका उल्लेख प्रवरसेन प्रथम के नाम से होगा। इसने केवल चार अश्वमेध यज्ञ ही नहीं किए थे, बल्कि भारत के सम्राट् की उपाधि भी धारण की थी। इसने इतने अधिक दिनों तक राज्य किया था कि इसका सबसे बड़ा लड़का गौतमी-पुत्र सिंहासन पर बैठ ही नहीं सका और इसका पोता रुद्रसेन प्रथम इसका उत्तराधिकारी हुआ। इसका पुत्र गौतमीपुत्र एक ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, जैसा कि स्वयं उसके नाम से ही स्पष्ट है। परंतु स्वयं गौतमीपुत्र का विवाह भव नाग नामक एक भार-शिव क्षत्रिय राजा की कन्या के साथ हुआ था। उसकी इसी क्षत्राणी पत्नी के गर्भ से रुद्रसेन का जन्म हुआ था जो प्रवर-सेन प्रथम का पोता और भव नाग का नाती था। हमें इसको रुद्रसेन प्रथम कहना पड़ेगा, क्योंकि प्राचीन हिंदू धर्मशास्त्र के अनु-सार उसी वंश में यह नाम और भी कई राजाओं का रखा गया था और यह एक ऐसी प्रथा थी जिसका अनुकरण गुप्तों ने भी किया था। रुद्रसेन का पुत्र पृथिवीषेण प्रथम था और उसके समय तक इस राजवंश को अस्तित्व में आए १०० वर्ष हो चुके थे। यथा -

वर्ष-शतम् अभिवर्द्धमान-कोप-दंड-साधन[1]।

अर्थात्—जिसके कोप और दंड-साधन—शासन के साधन—एक सौ वर्ष तक बराबर बढ़ते गए थे,

इस पृथिवीषेण ने—जिसकी राजनीतिक बुद्धिमत्ता, वीरता और उत्तम शासन की बहुत प्रशंसा की गई है—कुंतल के राजा

१. चमक, दूदिया और बालाघाट के प्लेट (देखो § ६१ क।)

को अपने अधीन किया था। यह कुंतल देश कर्नाटक देश और कदंब राज्य का एक अंग था और इस कदंब राज्य के संबंध की बातें हम आगे चलकर बतलावेंगे। पृथिवीषेण प्रथम के पुत्र रुद्र-सेन द्वितीय का विवाह चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की कन्या से हुआ था जिसका नाम प्रभावती गुप्त था। इस प्रभावती गुप्त का जन्म सम्राज्ञी कुबेर नागा के गर्भ से हुआ था जो नाग वंश की राजकुमारी थी। जब प्रभावती गुप्त के पति रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु हुई, तब वह अपने अल्पवयस्क पुत्र युवराज दिवाकरसेन की अभिभावक बनकर राज्य का शासन करती थी। जिस समय राजमाता प्रभावती गुप्त ने पूनावाले दानपत्र प्रस्तुत किए थे, उस समय उसके पुत्र दिवाकरसेन की अवस्था तेरह वर्ष की थी। दिवाकरसेन के उपरांत उसका जो दूसरा पुत्र दामोदरसेन-प्रवरसेन गद्दी पर बैठा था, उसके अभिभावक के रूप में भी प्रभावती ने कुछ दिनों तक शासन किया था। इस दामोदरसेन-प्रवरसेन ने भी १९ वर्ष की अवस्था में एक घोषणापत्र निकाला था जो हम लोगों को मिला है[1]। इस दोहरे नाम दामोदरसेन-प्रवरसेन से सिद्ध होता है कि इन राजाओं में दो नाम रखने की प्रथा थी। एक नाम तो राज्याभिषेक से पहले का होता था और दूसरा नाम राज्याभिषेक के समय रखा जाता था, जिसे चंपा (कंबोडिया) के शिलालेख में अभिषेक नाम कहा गया है[2]। इसी प्रकार गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के भी दो नाम थे—एक देवगुप्त और दूसरा चंद्रगुप्त[3]। दामोदरसेन-प्रवरसेन ने २५ वर्ष की अवस्था में राज्याधिकार

---

१. पूने के दूसरे प्लेट। I. A. ५३, पृ० ४८

२. डा० आर० सी० मजुमदार कृत Champa (चंपा) नामक अँगरेजी ग्रंथ, पृ० १२७।

३. J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० ३८।

अपने हाथ मे लिया होगा, क्योंकि शास्त्रों मे राज्याभिषेक की यही अवस्था बतलाई गई है[1]। इस प्रकार अपने दो पुत्रों के अल्पवयस्क रहने की दशा मे प्रभावती गुप्त ने संभवतः २० वर्षों तक अभिभावक रूप मे राज्य किया होगा। न तो कभी प्रभावती गुप्त ने और न वयस्क होने पर उसके पुत्र ने ही गुप्त संवत् का व्यवहार किया था। अतः हम निश्चयपूर्वक यह मान सकते है कि उस समय वाकाटकों की ऐसी स्थिति हो गई थी कि चंद्रगुप्त द्वितीय और उसके उत्तराधिकारियो के शासन-काल मे वाकाटक राज्यों मे गुप्त सवत् का व्यवहार करने की आवश्यकता ही नही होती थी। यद्यपि समुद्रगुप्त के उपरांत वाकाटक लोग गुप्तो के साम्राज्य मे थे, तो भी वे लोग पूरे स्वतंत्र राजा थे। अजंता के शिलालेखों और वालाघाट के दानपत्रों से यह भी स्पष्ट है कि इन लोगो के निजी करद राजा भी थे और वे स्वयं ही युद्ध तथा संधि करते थे। उन्होने त्रिकूट, कुंतल और आंध्र आदि देशो के राजाओं पर विजय प्राप्त की थी और उन्हे अपना करद राजा बनाया था। उनका राज्य बुंदेलखंड की पश्चिमी सीमा से, जहाँ से बुंदेलखंड शुरू होता है अर्थात् अजयगढ़ और पन्ना से, आरंभ होता था और समस्त मध्य प्रदेश तथा बरार मे उनका राज्य था। त्रिकूट देश पर भी उन्ही का राज्य था जो उत्तरी कोकण मे स्थित था और वे समुद्र तक मराठा देश के उत्तरी भाग के भी स्वामी थे। वे कुंतल अर्थात् कर्नाटक और आंध्र देश के पड़ोसी थे। वे विंध्य की सारी उपत्यका और विंध्य तथा सतपुड़ा के बीच की तराई पर, जिसमे मैकल पर्वतमाला भी सम्मिलित थी, प्रत्यक्ष रूप से शासन करते थे। अजंता घाटी से होकर दक्षिण जाने का जो मार्ग था, वह भी उन्ही के अधिकार में था। उनके साम्राज्य मे

१. हिंदू-राज्यतंत्र, दूसरा भाग, § २४२।

दक्षिण कोशल, आंध्र, पश्चिमी मालवा और उत्तरी हैदराबाद (§ ७३ पाद-टिप्पणी) संमिलित था। और भार-शिवों से उत्तराधिकार में उन्होंने जो कुछ पाया था, वह इससे अलग था। इस प्रकार उनके प्रत्यक्ष शासन में बहुत बड़ा राज्य था जो समुद्रगुप्त के शासन-काल में कम हो गया था, पर उसके बादवाले शासन-काल में वह सब उन्हें फिर से वापस मिल गया था। बल्कि बहुत कुछ संभावना तो इसी बात की जान पड़ती है कि वह सब अंश उन्हें स्वयं समुद्रगुप्त के शासन-काल में ही वापस मिल गया था, क्योंकि कदंब का जो नया राज्य स्थापित हुआ था, उसके साथ पृथिवीषेण प्रथम ने युद्ध किया था और वहाँ के राजा को अपना अधीनस्थ बना लिया था (§§८२, २०३)।

§ ५३. जब तक पुराणों की सहायता न ली जाय और भार-शिव साम्राज्य के अधीनस्थ भारत का इतिहास न देखा जाय, तब तक उनके इतिहास के अधिकांश का कुछ पता ही नहीं चलता इन्हीं दोनों की सहायता से अब हम यहाँ वाकाटक इतिहास की बातें बतलाते हैं। वास्तव में यह भारत का प्रायः अर्द्ध शताब्दी का इतिहास है जिसे हमें वाकाटक काल कहना पड़ता है। एक तो काल के विचार से इसका महत्त्व बहुत अधिक है और दूसरे इसलिए इसका महत्त्व है कि इससे परवर्त्ती साम्राज्य-काल अर्थात् गुप्त साम्राज्य के उदय और प्रगति से संबंध रखनेवाली बहुत सी बातों का पता चलता है। सीमा तथा विस्तार की दृष्टि से भी और संस्कृति की दृष्टि से भी गुप्तों ने केवल उसी साम्राज्य पर अधिकार किया था जो प्रवरसेन प्रथम स्थापित कर चुका था। यदि पहले से वाकाटक साम्राज्य न होता तो फिर गुप्त साम्राज्य भी न होता।

§ ५४. प्रवरसेन प्रथम वह पहला राजा था जिसने प्राचीन सनातनी सम्राटों की उपाधि "द्विरश्वमेधयाजिन्" (दो अश्वमेध यज्ञ करनेवाले) का परित्याग किया था। प्रायः पाँच सौ वर्ष पूर्व आर्यावर्त्त के सम्राट् पुष्यमित्र शुंग ने तथा दक्षिणापथ के सम्राट् श्री सातकर्णि प्रथम ने यह उपाधि कई सौ वर्षों के उपरांत फिर से धारण करना आरंभ किया था। सम्राट् प्रवरसेन ने चार अश्वमेध यज्ञ किए थे साथ ही बृहस्पति सव भी किया था जो केवल ब्राह्मण ही कर सकते थे। इसके अतिरिक्त उसने कई वाजपेय तथा दूसरे यज्ञ भी किये थे। भार-शिव लोग सम्राट् की उपाधि नहीं धारण करते थे, परंतु प्रवरसेन ने सम्राट् की उपाधि भी धारण की थी और वह इस उपाधि का पूर्ण रूप से पात्र भी था, क्योंकि उसने दक्षिण पर भी अपना अधिकार जमाया था (§§८२, १७६) और ऐसी सफलता प्राप्त की थी, जैसी मौर्य सम्राटों के उपरांत तब तक और किसी ने प्राप्त नहीं की थी। हमें पता चलता है कि उत्तरी दक्षिणापथ का बहुत बड़ा अंश उसके साम्राज्य के अंतर्गत आ गया था।

पुराण और वाकाटक

§ ५५. यद्यपि यह बात देखने में विलक्षण सी जान पड़ती है, पर फिर भी यह तो संभव है कि भारतीय इतिहास की आधुनिक पाठ्य पुस्तकों में अब तक वाकाटक साम्राज्य के संबंध में एक भी पंक्ति न लिखी गई हो, पर यह संभव नहीं था कि पुराणों में राजाओं और राजवंशों के जो विवरण दिए गए हैं, उनमें विंध्यशक्ति और प्रवरसेन के राजवंश का उल्लेख न हो। चार चार अश्वमेध यज्ञ करना कोई मामूली बात नहीं थी; और न किसी व्यक्ति का सम्राट् की उपाधि धारण करना और अपने आपको मांधाता तथा वसु का सम-कक्ष

बनाना ही कोई सामान्य व्यापार था। जिन पुराणों ने भारत में राज्य करनेवाले विदेशी राजकुलों तक का वर्णन किया है, वे प्रवरसेन और उसके वंश को कभी भूल नहीं सकते थे और वास्तव में बात भी यही है कि वे उन्हें भूले नहीं हैं। तुखार अर्थात् कुशन राजवंश के पतन का उल्लेख करने के उपरांत तुरंत ही उन्होंने विंध्यकों के राजवंश का उल्लेख किया है और इस वंश के मूल पुरुष का नाम उन्होंने विंध्यशक्ति दिया है और उसके पुत्र का नाम प्रवीर बतलाया है। कहा गया है कि यह नाम बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित है और इसका शब्दार्थ है—बहुत बड़ा वीर। पुराणों में उसके वाजपेय यज्ञों का भी उल्लेख है, और वायु पुराण के एक संस्करण में, जो वस्तुतः मूल ब्रह्मांड पुराण है[1], वाजपेय शब्द के स्थान में वाजिमेध शब्द मिलता है जिसका अर्थ अश्वमेध ही है और यह शब्द भी बहुवचन में रखा गया है—वाजिमेधैश्च[2]। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इस शब्द का अर्थ यह है कि उसने तीन या इससे अधिक अश्वमेध यज्ञ किए थे। उसका शासन-काल ६० वर्ष बतलाया गया है। यद्यपि यह काल बहुत विस्तृत है, तो भी एक तो वाकाटक शिलालेखों से और दूसरे इस बात से इसका समर्थन होता है कि अश्वमेध यज्ञ एक तो बहुत दिनों तक होते रहते हैं और दूसरे बहुत दिनों के अंतर पर

---

१. पारजिटर द्वारा संपादित वायु पुराण का मत डा० हालवाले ब्रह्मांड पुराण के मत से पूरी तरह से मिलता है। आजकल ब्रह्मांड पुराण का जो मुद्रित संस्करण मिलता है, वह संशोधित संस्करण है। ब्रह्मांड पुराण की हस्तलिखित प्रति इतनी दुर्लभ है कि न तो वह मि० पारजिटर को ही मिल सकी और न मुझे ही।

२. पारजिटर कृत Purana Text पृ० ५०, टिप्पणी ३५।

होते हैं; और इसलिये चार अश्वमेध यज्ञ करने में ४०-५० वर्ष अवश्य ही लगे होंगे। तीन बातों से इस सिद्धांत का पूर्ण रूप से समर्थन होता है—(१) विंध्यशक्ति और प्रवीर के उदय का समय जो पुराणों में गुप्तों से पहले और तुखारों के बाद आता है; (२) इस राजवंश के मूल पुरुष के नाम दोनों स्थानों में एक ही है; और (३) वाजिमेधों और प्रवीर के बहुकाल-व्यापी शासन का उल्लेख। और इसके साथ वह पारस्परिक संबंध भी मिला लीजिए जो पुराणों में नाग राजवंश और प्रवरसेन में उसके प्रपौत्र के द्वारा स्थापित किया गया है और जिसका मैंने अभी ऊपर विवेचन किया है इस प्रकार जब ये दोनों एक ही सिद्ध हो जाते हैं, तब हमें पुराणों में वाकाटकों का वह सारा इतिहास मिल जाता है जो स्वयं शिलालेखों में भी पूरा पूरा नहीं मिलता।

§ ५६. इस बात में कुछ भी संदेह नहीं है कि वाकाटक लोग ब्राह्मण थे। उन्होंने बृहस्पति सव किए थे जो केवल ब्राह्मणों के लिये ही हैं और ब्राह्मण ही कर सकते हैं। बृहस्पति सव के इस विशिष्ट रूप के संबंध में कभी कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ—कभी यह नहीं माना गया कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त और लोग भी बृहस्पति सव कर सकते हैं। उनका गोत्र विष्णुवृद्ध भी ब्राह्मणों का ही गोत्र है और जो अब तक महाराष्ट्र प्रदेश के ब्राह्मणों में प्रचलित है[1]। इसके अतिरिक्त विंध्यशक्ति को स्पष्ट रूप से द्विज या ब्राह्मण कहा गया है—द्विजः प्रकाशो भुवि विंध्य-

वाकाटकों का मूल निवास-स्थान

---

१. इस सूचना के लिये मैं प्रो० डी० आर० भांडारकर का अनुगृहीत हूँ।

शक्तिः[१]। अब इनके मूल निवास-स्थान को लीजिए। पुराणों में इसे विंध्यक या विंध्य देश का राजवंश कहा गया है जिससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये लोग विंध्य प्रदेश के रहने वाले थे, और आगे विचार करने से उनके ठीक निवास-स्थान का भी पता चल जाता है। विंध्यक या वाकाटक लोग किलकिला नदी के तट के या उसके आस-पास के प्रदेश के रहने वाले थे (किलकिलायाम्)। कुछ लोग यही समझते होंगे कि यह वही नदी है जो नक्शों में केन के नाम से दी गई है; पर इसमें कल्पना के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता, क्योंकि मेरे मित्र (अब स्व०) राय बहादुर हीरालाल ने स्वयं किलकिला देखी है जो पन्ना के पास एक छोटी नदी है और जो अपने स्वास्थ्यनाशक जल के लिये बदनाम है[२]। इस प्रकार हम फिर उसी अजयगढ़ और पन्नावाले प्रदेश में आ पहुँचते हैं जहाँ वाकाटकों के सबसे प्राचीन शिलालेख मिले हैं और यह वही गंज-नचना का प्रांत है। विदिशा के नागों और प्रवीरक का उल्लेख करते समय भागवत पुराण में इन सबको एक ही वर्ग में रखकर "किलकिला के राजा लोग" कहा है। इसका अभिप्राय यही है कि उक्त पुराण पूर्वी मालवा, विदिशा

---

१. A. D. S. R खंड ४, पृ० १२५ और १२८ की पाद-टिप्पणी, प्लेट ५७।

२. इस नदी का पूरा विवरण मुझे सतना (रीवाँ) के श्रीयुक्त शारदा प्रसाद ने लिख भेजा है जिसमें मुझे पता चला कि मैंने इस नाले को दो बार बिना उसका नाम जाने ही, उसकी तलाश में, पार किया था। यह नाला पन्ना से होकर बहता है। नागौद से पन्ना जाते समय इसे पार करना पड़ता है। यह एक सँकरा नाला है। देखो पृ० १४ की पाद-टिप्पणी।

और किलकिला को एक ही प्रदेश मानता है या पूर्वी मालवा को भी किलकिला के ही अंतर्गत रखता है। इस प्रकार सभी संमतियों के अनुसार इस राजवंश का स्थान बुंदेलखंड में ठहरता है।

§ ५७. अब हमें वाकाटक शब्द के इतिहास पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। वाकाटकानाम महाराज श्री अमुक-अमुक आदि जो पद मिलते हैं, उनका यह अभिप्राय नहीं है कि अमुक-अमुक नाम के राजा वाकाटक जाति के राजा थे; बल्कि इसका अभिप्राय केवल यही है कि अमुक-अमुक महाराज वाकाटक राजवंश के थे। बहुवचन रूप वाकाटकानाम का अभिप्राय ठीक उसी प्रकार केवल "वाकाटक राजवंश का" है[1] जिस प्रकार कदंबों के संबंध में कदंबानाम् का और उनके सम-कालीन पल्लवों के संबंध में पल्लवाण[2] (प्राकृत शब्द है जिसका अभिप्राय है पल्लवों का) का अभिप्राय होता है। "भारद्वायो पल्लवाण शिवखंड वमो" में "पल्लवों का" पद बिलकुल स्वतंत्र है[3]। इस प्रकार वाकाटक किसी जाति का सूचक नाम नहीं है, बल्कि वह एक वैयक्तिक वंश नाम है। वाकाटक शब्द का अर्थ है—वाकाट या वाकाट नामक स्थान का निवासी; जैसा कि समुद्रगुप्त के शिलालेख में महाकातारक कोशलक और पैष्टापुरक आदि शब्दों से महाकांतार का, कोशल का, और पिष्टापुर का रहने वाला सूचित होता

---

१. I. A. खंड ६, पृ० २८।

२. E. I. खंड १, पृ० ५।

३. पृथिवीषेण द्वितीय के बालाघाट वाले प्लेटों का संपादन करते समय कीलहार्न ने इस बात पर जोर दिया था। E. I. खंड ६, पृ० २६६।

है[1]। वंश-नाम त्रैकूटक ठीक इसी के समान है। मुझे ओड़छा राज्य के सबसे उत्तरी भाग में चिरगाँव से छः मील पूर्व झाँसी के जिले में बागाट नाम का एक पुराना गाँव मिला था। उसके पास ही बिजौर नाम का एक और गाँव है और प्रायः बागाट के साथ उसका भी नाम लिया जाता है। लोग बिजौर-बागाट कहा करते हैं। वह ओड़छा की तहरौली तहसील में है। यह कयना और ढुगरई नाम की दो छोटी छोटी नदियों के बीच में है जो आगे जाकर बेतवा में मिलती हैं। यह ब्राह्मणों का एक बड़ा और बहुत पुराना गाँव है और इसमें अधिकतर भागौर ब्राह्मण रहते हैं। लोगों में प्रायः यही माना जाता है कि महाभारत के सुप्रसिद्ध ब्राह्मण वीर द्रोणाचार्य का यह गाँव है। वहाँ दो बड़ी गुफाएँ हैं। लोग मुझसे कहते थे कि वे प्रायः २५ गज चौड़ी और ३० गज लंबी हैं। मैंने यह भी सुना था कि वहाँ बहुत सी मूर्त्तियाँ हैं। उन मूर्त्तियों का जो वर्णन मैंने सुना था, उससे मुझे ऐसा जान पड़ता था कि वे मूर्त्तियाँ गुप्त काल की हैं। आज तक कभी कोई पुरातत्त्ववेत्ता उस स्थान पर नहीं गया है। यदि वहाँ अच्छी तरह खोज और खुदाई आदि की जाय तो वहाँ अनेक शिलालेख तथा मूल्यवान् अवशेष मिल सकते हैं।

§ ५७ क. जान पड़ता है कि पुराणों के अनुसार जिस ब्राह्मण का पहले-पहल राज्याभिषेक हुआ था, जो इस राजवंश का मूल पुरुष था और जिसने अपना उपयुक्त नाम विंध्यशक्ति रखा था, उसने अपने राजवंश की उपाधि के लिये अपने नगर या गाँव का नाम चुना था। अमरावती में एक यात्री का लेख मिला है जिसमें

---

१ G. I. पृ० २३४।

एक सामान्य नागरिक ने ई० पू० सन् १५० के लगभग अपने आपको वाकाटक अर्थात् वाकाट का निवासी बतलाया है[1] और इससे सिद्ध होता है कि वाकाट एक बहुत पुराना कसबा था। संभव है कि उस समय भी वहाँ के ब्राह्मणों को इस बात का गर्व रहा हो कि हमारा कसबा द्रोणाचार्य का निवास-स्थान है और द्रोणाचार्य भी वाकाटकों की तरह भारद्वाज ब्राह्मण ही थे।

§ ५८. प्राचीन पुराणों में विध्यक जाति का वर्णन नहीं है; परंतु मत्स्यपुराण के एक स्थान के पाठ की भूल के कारण विष्णु पुराण भी गड़बड़ी में पड़ गया है। मत्स्यपुराण में जहाँ आंध्रों की सूची समाप्त हो गई है और उनके सम-कालीन राजवंशों का उल्लेख आरंभ हुआ है, वहाँ अध्याय २७२,

किलकिला यवनाः अशुद्ध पाठ है

श्लोक २४ में लिखा है—तेषुत्सन्नेषु कालेन ततः किलकिला नृपाः। इस पंक्ति के साथ मत्स्य पुराण में इस प्रकरण का अंत हो गया है और आगे २५ वें श्लोक से यवन-शासन का वर्णन आरंभ हुआ है जिससे वहाँ कुशन शासन (यौन, यौवन) का अभिप्राय है[2]। इस वर्णन की पहली पक्ति को विष्णुपुराण ने किलकिला राजाओं के वर्णन के साथ मिला दिया है; और मत्स्यपुराण की दूसरी पक्ति यह है—भविष्यन्तीह यवना धर्मतो कामतोर्थतः। विष्णु पुराण के कर्त्ता ने इन दोनों पक्तियों का अन्वय इस प्रकार किया है—तेपुच्छन्नेषु कैलकिला यवना भूपतयो भविष्यन्ति मूर्द्धाभिषिक्तस् तेषां विध्यशक्तिः। इस विषय में भागवत में विष्णुपुराण का अनुकरण नहीं किया गया है और विष्णुपुराण के टीकाकार ने

---

१. E. I. खंड १५, पृ० २६७, २७ वाँ शिलालेख।

२. J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० २०१।

एक दूसरा पाठ दिया है और उसकी शुद्ध व्याख्या इस प्रकार की है कि विंध्यशक्ति उस पाठ के अनुसार क्षत्रिय अर्थात् हिंदू राजा था। टीकाकार ने दूसरा पाठ इस प्रकार दिया है—विंध्यशक्ति-मूर्द्धाभिषिक्त इति पाठे क्षत्रिय मुख्य इत्यर्थः। इस दूसरे पाठ से यह नहीं सूचित होता कि विंध्यशक्ति भी कैलकिल यवनों में से था। यह भूल बिलकुल स्पष्ट है और इसलिये हुई है कि यवनाः शब्द को मत्स्यपुराणवाली दूसरी पंक्ति के कैलकिलाः शब्द के साथ मिला दिया गया है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह संगत पाठ नहीं है, बल्कि योंही रख दिया गया है। विष्णु पुराण की सभी प्रतियों में टीकाकार को यह उल्लेख नहीं मिला था कि कैलकिल लोग यवन थे। कुछ प्रतियों में उसे यह पाठ बिलकुल मिला ही नहीं था, जैसा कि मि० पारजिटर को भी 'ज' (h) वाली विष्णुपुराण प्रति में नहीं मिला था[1]। जान पड़ता है कि जब आगे चलकर फिर किसी ने विष्णुपुराण का पाठ दोहराया और मत्स्यपुराण के पाठ के साथ उसका मिलान किया, तब उसने पाठ की उस भूल का सुधार किया जिसमें कैलकिलों को यवनों के साथ मिला दिया गया था। प्रकट यही होता है कि मूल प्रति में इस स्थान पर यवनों का उल्लेख नहीं था और वह बाद में मिलाया गया था।

§ ५९. पुराणों में विंध्यशक्ति के उदय का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि विंध्यशक्ति किलकिला के राजाओं में से था। यह बात स्पष्ट है कि यहाँ पुराणों का अभिप्राय नागों से है जिनका उस समय किलकिला के साथ बहुत संबंध था, क्योंकि उनका

विंध्यशक्ति

---

१. P. T. पृ० ४८, पाद-टिप्पणी ८२।

नाम विदिशा वृप से बदलकर किलकिला वृप हो गया था, जैसा कि वायुपुराण में कहा है। यथा—

तच्छन्नेन च कालेन ततः किलकिला-वृपाः।
ततः कि (कै) लकिलेभ्याश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति॥

× × × ×

वृपान् वैदेशकाश्चापि भविष्यांश्च-निबोधत[1]।

भागवत में इसी प्रकार परवर्ती नागों का वर्णन किया गया है और किलकिला के राजाओं का वर्णन भूतनंदी से आरंभ करते हुए कहा गया है—

किलकिलायां नृपतयो भूतनन्दोथ वंगिरिः।
शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता यशोनन्दिः प्रवीरकः[2]॥

पुराणों में प्रवीर का किलकिला वृपा के अंतर्गत अर्थात् पूर्वी बुंदेलखंड और बघेलखंड के भार-शिवों के साथ रखा है।

जो यह कहा गया है कि किलकिला के राजाओं में से विंध्यशक्ति एक राजा हुआ था, उसका अभिप्राय यह है कि वह किलकिला के राजाओं के माने हुए करद राजाओं में या उनके संघ के एक खास सदस्यों में से था। वाकाटकों के जो राजकीय लेख आदि हैं, उनमें विंध्यशक्ति का नाम और

---

१. वायुपुराण, श्लोक ३५८—३६०। मिलाओ ब्रह्माण्डपुराण, श्लोक १७८, १७६।

२. श्लोक ३२, ३३. भागवत में इस बात का उल्लेख छोड़ दिया गया है कि यशःनंदी और प्रवीर के बीच में और राजा भी हुए थे।

दिया गया है और अपने स्वतंत्र राजाओं के वंश का प्रवरसेन से आरंभ किया गया है. और इसी से यह बात प्रमाणित होती है कि राष्ट्रीय संघटन की दृष्टि से विंध्यशक्ति एक अधीनस्थ राजा था। केवल अजंता की गुफा वाले शिलालेख में (गुफा नं० १६) वंश का जो इतिहास (क्षितिपानु-पूर्वी) दिया गया है, उसी में कहा गया है कि वाकाटक वंश का संस्थापक विंध्यशक्ति था—वाकाटकवंशकेतुः। इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि विंध्यशक्ति, जिसकी शक्ति बड़े बड़े युद्धों में विजय प्राप्त करने से बढ़ी थी और जिसने अपने बाहुबल से एक नये राज्य की स्थापना की थी, जो वाकाटक वंश का केतु था और जो जन्म भर कट्टर ब्राह्मण बना रहा (चकार पुण्येषु परं प्रयत्नम्), वस्तुतः किलकिला के वृषों का एक सेनापति था। उसने अपने वंश की उपाधि के लिये अपने मूल निवास-स्थान का जो नाम चुना था, उससे सूचित होता है कि वह एक सामान्य नागरिक था और किसी राजवंश में उसका जन्म नहीं हुआ था। विंध्य तथा अपने निवास-स्थान वाकाट के साथ अपना संबंध स्थापित करने में उसे देशभक्ति-जन्य आनंद होता था। स्वयं विंध्यशक्ति भी एक गढ़कर बनाया हुआ नाम मालूम होता है। जान पड़ता है कि आंध्र तथा नैषध विदुर देशों में उसने बहुत से स्थानों पर विजय प्राप्त करके उन्हें अपने अधिकार में किया था (§§७५, ७६ क)।

§ ६०. जिस राजधानी में प्रवरसेन प्रथम राज्य करता था, वह चनका थी (§ २४); और पुराणों के वर्णन से यह प्रकट होता है कि वह नगरी पहले से ही वर्तमान थी, प्रवरसेन की बसाई हुई नहीं थी। जान पड़ता है कि यदि नागों ने उस नगरी

की स्थापना नहीं की थी तो वह कम से कम विंध्यशक्ति की स्थापित की हुई अवश्य थी (§ २४ पाद-टिप्पणी)। आजकल

राजधानी

गंज-नचना नाम का जो पुराना और किले-बंदी वाला कसबा है, वही मेरी समझ में पुराना चनका या कांचनका नाम का स्थान है जहाँ वाकाटक लोग राज्य करते थे। वह सामरिक दृष्टि से जिस स्थान पर और जिस ढंग से बना है, उससे यही सूचित होता है कि वह किसी नवीन शक्ति का बनवाया हुआ था और नवीन धारण किए हुए 'विंध्यशक्ति' नाम की भी इससे सार्थकता हो जाती है, जिससे सूचित होता है कि विंध्य ही उसकी वास्तविक शक्ति थी। जनरल कनिंघम ने गंज-नचना की स्थिति का जो वर्णन किया है, वह इस प्रकार है—

"नाचना नाम का छोटा गाँव गंज नामक कसबे के पश्चिम में दो मील की दूरी पर है और यह गंज कसबा पन्ना से दक्षिण-पूर्व २५ मील और नागोद से दक्षिण-पश्चिम १५ मील की दूरी पर है।.........जिस स्थान को नचना कहते हैं, वह बहुत सी ईंटों से ढका हुआ है, और गंज से नचना को जो सड़क जाती है, उस पर ईंटों की बनी हुई इमारतों के बहुत से खँडहर हैं। लोग कहते हैं कि कूथर (नचना के किले का पुराना नाम) प्राचीन काल में बहुत बड़ा नगर था और वहाँ उस देश के राजा की राजधानी थी। नचना वाले स्थान को लोग अब तक प्राय कूथर कहते हैं।.........यह भी कहा जाता है कि कूथर के किले से सनना या गोरैना नाला तक एक सुरंग है। यह नाला नचना से होता हुआ बहता है और गंज से १५ मील दक्षिण-पश्चिम किमान या केन नदी में मिलता है। यह स्थान एक घाटी के द्वार पर पड़ता है और बाहरी आक्रमण के समय पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की

और पीछे हटकर विंध्य की पहाड़ियों में अपनी रक्षा के लिये जाकर रहने का इससे अच्छा स्थान है[1]।"

इस स्थान की पहचान पार्वती और चतुर्मुख शिव के उन दोनों मंदिरों से होती है जिनका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं और जिनके द्वारों पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं। गंगा और यमुना की मूर्तियाँ बनाने की कल्पना विशेष रूप से वाकाटकों की है जो उन्होंने भार-शिवों से प्राप्त की थी। यह स्थान पृथिवी-षेण प्रथम के तीन शिलालेखों के लिये भी प्रसिद्ध है। भारतीय स्थापत्य और तक्षण कला के इतिहास में ये मंदिर अनुपम हैं और इन्हीं से उस कला का आरंभ होता है जिसे हम लोग गुप्त कला कहते हैं। ये सभी लेख संस्कृत में हैं।

८. वाकाटकों के संबंध में लिखित प्रमाण और उनका काल-निर्णय

§ ६१. सिक्कों से हमें दो वाकाटक सम्राटों के नाम मिलते हैं—एक तो प्रवरसेन प्रथम और दूसरा रुद्रसेन प्रथम जो प्रवरसेन प्रथम का पोता और उत्तराधिकारी था, (§ ५२ पाद-टिप्पणी)। प्रवरसेन प्रथम के पिता विंध्यशक्ति का कोई सिक्का नहीं मिलता। विंध्यशक्ति वस्तुतः भार-शिव नाग सम्राटों का अधीनस्थ राजा था और संभवतः उसने अपने सिक्के बनवाए ही नहीं थे। वाकाटक सम्राटों के जिन दो सिक्कों का ऊपर उल्लेख किया गया है और जिनके बनवाने वालों का निर्णय हमने किया है, उन पर पहले

---

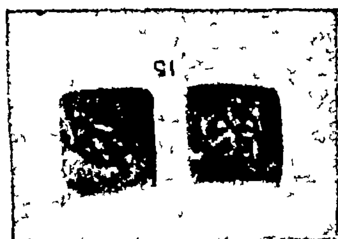
१. कनिंघम A. S. R. खंड २१, पृ० ९५। इसका शुद्ध रूप नाचना है, नाचना नहीं।

कभी किसी ने ध्यान ही नहीं दिया था. क्योंकि अब तक या तो वे ठीक तरह से पढ़े ही नहीं गए थे और या बिलकुल ही नहीं पढ़े गए थे। हमने अभी प्रवरसेन प्रथम के सिक्के का विवेचन किया है (§ ३०) जो संभवतः अहिच्छत्र की टकसाल मे बना था। रुद्रसेन प्रथम के उत्तराधिकारी वस्तुतः गुप्तों के अधीन थे; और गुप्तों का यह नियम था कि वे अपने किसी अधीनस्थ राजा को सिक्के बनाने ही नहीं देते थे। परंतु ऐसा जान पड़ता है कि रुद्रसेन प्रथम के पुत्र और उत्तराधिकारी पृथिवीषेण प्रथम के संबंध मे इस नियम का पालन नहीं किया गया था और उसे अपवाद रूप से मुक्त कर दिया गया था और उसने अपने पुत्र रुद्रसेन द्वितीय का विवाह चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या से किया था। जान पडता है कि उसका सिक्का भी हम लोगों को मिल चुका है। डा० विंसेंट स्मिथ ने अपने Catalogue of the Coins in Indian Museum नामक ग्रंथ में[1], प्लेट नंबर २० पर दिया है और जिस पर पीछे की ओर सॉड की एक बहुत अच्छी मूर्ति बनी है, वह सिक्का पृथिवीषेण प्रथम का ही है। इस सिक्के के सामनेवाले भाग पर वही प्रसिद्ध वृक्ष बना है जो कोसम की टकसाल मे बने हुए भार-शिव सिक्कों पर पाया जाता है; और उस पर एक पर्वत की भी आकृति बनी हुई है। इस पर का लेख ब्राह्मी लिपि मे है। डा० स्मिथ (पृ० १५५) ने इसे पवतस पढ़ा था जिसका अर्थ उन्होंने लगाया था—पर्वत का। परंतु इसमें का पहला अक्षर प नहीं है, बल्कि पृ है और ऋ की मात्रा अक्षर के नीचे है। दूसरा अक्षर संयुक्त अक्षर है और उसमें गुप्तीय थ (जिसके मध्य मे एक स्पष्ट बिंदु है) के नीचे आधा

1. साथ ही देखो इस ग्रंथ का तीसरा प्लेट।

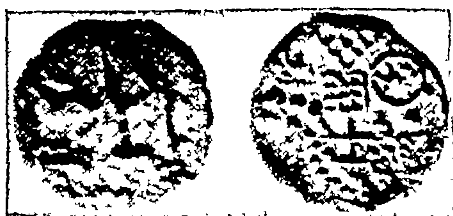
वाकाटक सिक्के

प्रवरसेन का सिक्का



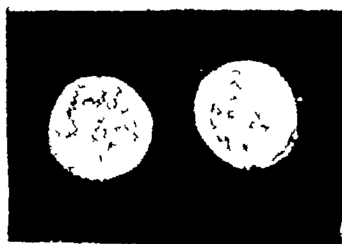
C. I M Pl XXII.

रुद्र (सेन प्रथम) का सिक्का



C. I M. XX.5,

पृथ्वीषेण का सिक्का



C. I. M Pl XX. 4.

च भी है। ऊपर की ओर ि का चिह्न भी है यह थ (व्) ी पढ़ा जाना चाहिए। जिस अक्षर को डा० स्मिथ ने त पढ़ा है, वह प है और उसके ऊपर े की मात्रा है। इसके बाद का अक्षर ण है। इस प्रकार का पूरा नाम पृथ (व्) ीपेण अर्थात् पृथिवीपेण जान पड़ता है। नीचे की ओर दाहिने कोने पर रेलिंग के पास एक अंक है जो ६ के समान है और जिसका अर्थ यह है कि यह सिक्का उसके शासन-काल के नवें वर्ष में बना था। इसमें का ण टेढ़ा या झुका हुआ और वैसा ही है, जैसा गुप्त लेखों में पाया जाता है. और यह अक्षर भी तथा बाकी दूसरे अक्षर भी उन अक्षरों से मिलते हैं जो आरंभिक गुप्त काल में लिखे जाते थे।

इसी वर्ग (कोसम के सिक्के) में डा० स्मिथ ने उसी प्लेट नं० २० में ५ वीं संख्या पर एक और सिक्के का चित्र दिया है। इस सिक्के पर का लेख उनसे पढ़ा नहीं गया था। इस पर भी वही पाँच शाखाओंवाले वृक्ष की आकृति बनी है, पर वह अधिक कल्पनामय और रूढ़ रूप में है और उसपर भी पर्वत का वैसा ही चिह्न बना है, जैसा कि पृथिवीपेण प्रथम के सिक्के (आकृति नं० ४) पर है[1]। जान पड़ता है कि यह पर्वत विंध्य ही है। इस पर भी वही वाकाटक चक्र बना है जो दुरेहा के स्तंभ और गज तथा नचना के वाकाटक शिलालेखों और साथ ही प्रवरसेन प्रथम के ७६ वें वर्ष के सिक्के पर अंकित है (§ ३०)। इस

---

१ यह सिक्का बड़ा है, इसलिये इस पर पर्वत भी बड़ा है पर इसकी आकृति ठीक वैसी ही है, जैसी ४ नंबर वाले सिक्के पर है। मैंने इन सिक्कों के जो चित्र दिए हैं, वे उनके मूल आकार से कुछ छोटे। इन पर के लेख पढ़ने के लिये मैंने इनके ठप्पों से काम लिया था।

सिक्के पर पीछे की ओर एक ध्वज की ओर मुख किए हुए वैसा ही दुर्बल साँड़ बना है, जैसा पल्लव मोहरों पर है (S. I. I. २, पृ० ५२१)[1]। इसके ऊपरी भाग पर मकर का सिर बना है जो गंगा का वाहन तथा चिह्न है[2]। साँड़ के ऊपर एक और आकृति है जो एक पद-स्थल पर स्थित है और जिसके मुख के चारों ओर प्रभा-मंडल है जो संभवतः शिव की मूर्ति है। यह मूर्ति भी प्रायः वैसी ही है जैसी पल्लव मोहर पर है। पीछे की ओर चक्र के ऊपर एक किनारे लेख है जो 'रुद्र' पढ़ा जाता है। र का ऊपरी भाग संदूकनुमा है और द के ऊपर की रेखा कुछ मोटी है। पर्वत के दाहिने भाग में १०० का अंक है। मैं समझता हूँ कि यह रुद्रसेन का सिक्का है जो संवत् १०० में बना था। यह सिक्का अपनी बनावट, गंगा के चिह्न, पर्वत, वृक्ष, साँड और चक्र के कारण प्रवरसेन प्रथम और पृथिवीषेण प्रथम के सिक्कों (देखो § ३०) के ही समान है।

---

१. इसमें साँड़ ध्वज की ओर चला जा रहा है, परन्तु पल्लव मोहर पर वह शांत खड़ा है। इसमें और पहले की पल्लव मोहर पर—जिसका उल्लेख E. I. खंड ८, पृ० १४४ में है—[illegible] खड़ा हुआ है और साथ ही मकरध्वज भी है।

२. मैं समझता हूँ कि ब्रैकेट के आकार का जो मकरध्वज है, उसका नाम मकर-तोरण था। संयुक्त प्रांत में ब्रैकेट को अब तक टोंटी या तोड़ी कहते हैं। पटने के म्यूज़ियम में काँसे का बना हुआ एक पुराना मकर-तोरणवाला [illegible] है जिसके ऊपर एक [illegible] है। यह बक्सर के पास मिला था।

शेष वाकाटकों के सिक्के नहीं है।

§ ६१ क. मिलान के सुभीते के लिये मैं वे सब वाकाटक अभिलेख, जो अब तक प्रकाशित हो चुके है, काल-क्रम के अनुसार लगाकर नीचे दे देता हूँ।

वाकाटक शिलालेख

पृथिवीषेण प्रथम—(क, ख, ग) पत्थर पर खुदे हुए तीन छोटे उत्सर्ग संबंधी लेख। तीनों का विषय एक ही है। पृथिवीषेण प्रथम के शासन-काल मे व्याघ्रदेव ने नचना और गंज मे जो मदिर वनवाए थे, उन्हीं के निर्माण का इनमे उल्लेख है। यह व्याघ्रदेव या तो पृथिवीषेण के परिवार का था अथवा उसका कोई कर्मचारी या करद राजा था। इन शिलालेखों पर राजकीय चक्र का चिह्न है। G. I पृ० २३३ नं० ५३ और ५४ नचना का। E. I. खंड १७, १२ (गंज)।

प्रभावतीगुप्ता—(घ) राजमाता प्रभावती गुप्ता (चंद्रगुप्त द्वितीय और महादेवी कुबेर नागाकी पुत्री) युवराज दिवाकरसेन की माता के अभिलेख पूनावाले प्लेट मे है और जो १३ वे वर्ष मे तैयार कराए गए थे। यह दान नागपुर जिले मे नदिवर्धन ने किया था (E. I. १५, ३६)।

प्रवरसेन द्वितीय—(ङ) प्रवरसेन द्वितीय के चमकवाले प्लेट। यह रुद्रसेन द्वितीय और प्रभावती गुप्ता का पुत्र था और प्रभावती गुप्ता देवगुप्त की कन्या थी। ये प्लेट १८ वे वर्ष मे प्रवरपुर मे तैयार हुए थे। ये प्लेट वरार के एलिचपुर जिले के चमक नामक स्थान मे मिले थे और भोजकट राज्य के चमक (चर्नाक) नामक स्थान से सबंध रखते हैं (G. I. पृ० २३५)।

(च) सिवनीवाले प्लेट जो मध्य प्रदेश के सिवनी नामक स्थान मे मिले थे। ये प्रवरसेन द्वितीय के हैं और उसके शासन-काल के १८वे वर्ष के हैं। ये एलिचपुर जिले की एक संपत्ति के विषय मे है (G. I. पृ० २४३)।

(छ) दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय के शासन-काल के १९ वे वर्ष के पूनावाले[1] दूसरे प्लेट के लेख जो राजमाता प्रभावती गुप्ता महादेवी ने, जो रुद्रसेन द्वितीय की रानी और महाराज श्री दामोदरसेन की माता थी, तैयार कराए थे। यह दान रामगिरि (मध्यप्रदेश में नागपुर के पास रामटेक) मे किया गया था। (I. A. खंड ५३, पृ० ४८)।

(ज) प्रवरसेन द्वितीय के दूदियावाले प्लेट जो २३ वे वर्ष मे प्रवरपुर में प्रस्तुत कराए गए थे और मध्य प्रदेश के छिंदवाड़ा जिले में मिले थे। E. I. खंड ३, पृ० २५८।

(झ) प्रवरसेन द्वितीय के पटना म्यूज़ियमवाले प्लेट। ये खंडित हैं और इन पर कोई समय नहीं दिया गया है। ये प्लेट मध्य प्रदेश के जबलपुर से पटने आए थे। J. B. O. R. S. खंड १४, पृ० ४६५।

पृथिवीषेण द्वितीय—(ञ) बालाघाटवाले प्लेट जो महाराज श्री नरेन्द्रसेन के पुत्र और प्रवरसेन द्वितीय के पौत्र पृथिवीषेण द्वितीय के हैं। पृथिवीषेण द्वितीय की माता कुंतल के राजा (कुंतलाधिपति) की कन्या महादेवी अजिझता भट्टारिका थी।

---

१. इन्हें रिद्धपुरवाले प्लेट कहना चाहिए। देखो रा० ब० हीरालाल कृत Inscriptions in C. P. & Berar. १९३२, पृ० ११०. रिद्धपुर अमरावती से ३५ मील है।

इन पर के लेख मसौदे के रूप मे है जो बाकी सादे अश पर एक दान के संबंध मे खोदे जाने के लिये तैयार किए गए थे। पर इनमे किसी दान का उल्लेख नहीं है। ये मध्य-प्रदेश के बालाघाट जिले मे पाए गए थे। E. I. १६, २६६।

देवसेन--(ट) अजंता के गुहा-मंदिर का शिलालेख नं० १३ (घटोत्कच गुहा) राजा देवसेन के मत्री हस्तिभोज का लिखवाया हुआ और देवसेन वाकाटक[1] के शासन-काल मे खुदवाया हुआ (वाकाटके राजति देवसेने)। यह मत्री दक्षिणी ब्राह्मण था जिसकी वंशावली उसमे दी गई है। यह गुहा-मंदिर उसने बौद्ध-धर्म के लिये उत्सर्ग किया था। A. S W. I. ४, १३८।

हरिषेण— (ठ) अजंता का शिलालेख (बुह्लर का तीसरा लेख) जो गुहा-मंदिर न० १६ मे है। यह देवसेन के पुत्र हरिषेण के शासन-काल का है। देवसेन ने अपने पुत्र हरिषेण के लिये राजसिहासन का परित्याग कर दिया था। यह देवसेन प्रवरसेन द्वितीय के एक पुत्र का, जिसका नाम नहीं मिलता, पुत्र था। इस शिलालेख के पहले भाग मे श्लोक १ से १८ तक वंश का इतिहास (क्षितिपानुपूर्वी) है। वाकाटक राजवश के राजाओं की यह आनुपूर्वी या राजसिहासन पर बैठनेवाले राजाओं का क्रम विंध्यशक्ति से आरंभ होता है। दूसरे भाग श्लोक १९ से ३२ तक मे स्वयं उस मदिर का उल्लेख है जिसका आशय यह है कि मंत्री वराहदेव ने, जो देवसेन के मंत्री हस्ति-

---

१ बुह्लर ने भूल से इसे कुछ परवर्त्ती काल का बतलाया है।

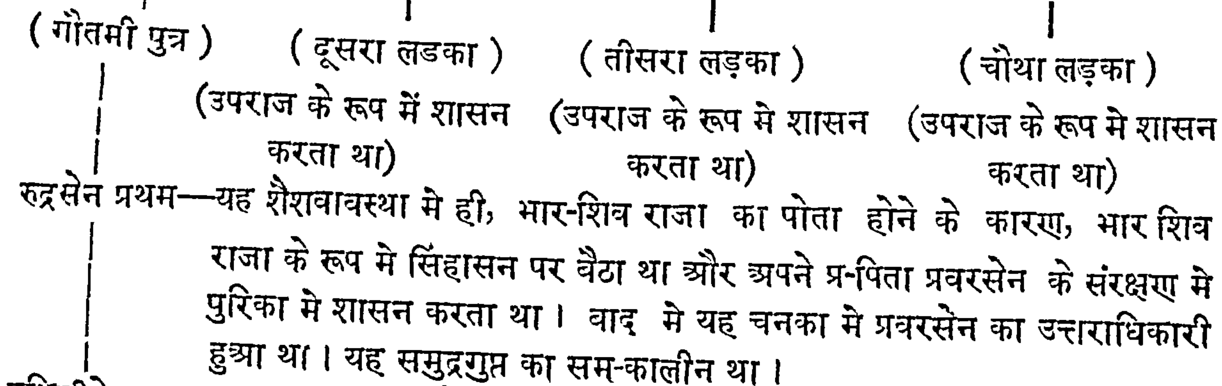
भोज का पुत्र था, यह गुहा-मंदिर या चैत्य बनवाकर बौद्धों के पूजन-अर्चन के लिये उत्सर्ग कर दिया था। A. S. W. I. ४, १२४।

(ड) अजंता के गुहा-मंदिर का शिलालेख, जो बुहलर का चौथा लेख है, राजा हरिषेण के किसी अधीनस्थ और करद राजा के वंश के लोगों का बनवाया हुआ है। इसमें उनकी दस पीढ़ियों तक की वंशावली दी है और कहा गया है कि यह गुहा-मंदिर (नं० १७) बनवाकर भगवान् बुद्धदेव के नाम पर उत्सर्ग किया गया था। इस पर हरिषेण के शासन-काल का वर्ष दिया है जिसने अपनी प्रजा के हित के काम किए थे (परिपालयति क्षितींद्र-चंद्रे हरिषेणे हितकारिणी प्रजानाम्)। A. S. W. I. ४, १३० ठ (1) २१, A. S. W. I. ४, १२८।

इनके अतिरिक्त दो और अभिलेख हैं जो, मेरी समझ में, वाकाटकों के हैं और जिनका वर्णन आगे चल कर किया जायगा[1]।

§ ६०. शिलालेखों और पुराणों के आधार पर वाकाटकों की जो वंशावली बनती है, वह यहाँ दी जाती है। इस वंशावली में जिन लोगों के नाम गोल कोष्टक के अंदर दिए गए हैं, वे वाकाटक राजा के रूप में सिंहासनासीन नहीं हुए थे।

वाकाटक वंशावली



रुद्रसेन प्रथम—यह शैशवावस्था मे ही, भार-शिव राजा का पोता होने के कारण, भार शिव राजा के रूप मे सिंहासन पर बैठा था और अपने प्र-पिता प्रवरसेन के संरक्षण मे पुरिका मे शासन करता था। बाद मे यह चनका मे प्रवरसेन का उत्तराधिकारी हुआ था। यह समुद्रगुप्त का सम-कालीन था।

पृथिवीषेण प्रथम—यह समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय का सम-कालीन था और इसने कुन्तल के राजा पर विजय प्राप्त की थी।

रुद्रसेन द्वितीय—इसका विवाह प्रभावती गुप्ता के साथ हुआ था जो चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा महादेवी कुबेर नागा की पुत्री थी।

(दिवाकरसेन—यह तेरह वर्ष की अवस्था में या उसके उपरान्त युवराज रहने की दशा में ही मर गया था)

दामोदरसेन-प्रवरसेन (प्रवरसेन द्वितीय) शिलालेखों से पता चलता है कि इसने मध्य प्रदेश के प्रवरपुर में कम से कम २३ वर्ष तक राज्य किया था। जान पड़ता है कि यह एक नई राजधानी थी जो उसी के नाम पर स्थापित हुई थी।

नरेंद्रसेन—(अजंतावाले शिलालेख में इसका नाम नहीं है। यह ८ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा था।) बालाघाटवाले प्लेटों में इसका नाम नरेंद्रसेन दिया है। इसने महादेवी अज्झिता भट्टारिका के साथ विवाह किया था जो कुंतल के राजा की कन्या थी। कोशला मेकला और मालव के करद राजा इसके आज्ञानुवर्ती थे।

पृथिवीषेण द्वितीय
(इसने अपने डूबे हुए वंश का उद्धार किया था)

देवसेन—भोगप्रिय (भोगेषु यथेष्टचेष्टाः) और रूपवान् राजा जिसने अपने पुत्र हरिषेण के लिए सिंहासन का परित्याग कर दिया था।

हरिषेण—इसने कुंतल, अवंती, कलिंग, कोशल, त्रिकूट, लाट और आंध्र देशों पर विजय प्राप्त की थी। इसी के मंत्री हस्तिभोज ने अजंता का गुहा-मंदिर नं० १६ बनवाया था और बौद्ध भिक्षुओं को अर्पित किया था।

देवसेन और उसके पुत्र पृथिवीषेण द्वितीय के उत्तराधिकारी के संबंध में कुछ भ्रम उत्पन्न हो गया है; और इसका कारण दो लेख है। पहला तो अजंता की १६ नं० वाली गुफा का शिलालेख है जो हरिषेण के शासन-काल में उत्कीर्ण हुआ था और दूसरा पृथिवीषेण द्वितीय का ताम्रपत्रवाला मसौदा है। परंतु इनके शब्दों को ठीक ठीक रूप में लाने पर भ्रम या गड़बड़ी दूर हो जाती है; और आगे चलकर परवर्त्ती वाकाटकों के इतिहास में मैंने इस विषय का विवेचन किया है।

§ ६३. शिलालेख में देवसेन का जो वर्णन है और जो उसके पुत्र के शासन-काल में उत्कीर्ण हुआ था, उसके बिलकुल ठीक होने का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि उस समय के राजकर्मचारियों और कवियों ने भी उसके ठीक होने का उल्लेख किया है। स्वरूपवान् राजा 'जिसके पास उसकी सब प्रजा उसी प्रकार पहुँच सकती थी, जिस प्रकार एक अच्छे मित्र के पास' प्रायः भोग-विलास में ही अपना सारा जीवन व्यतीत करता था। वह अपने पुत्र के लिये राज्य छोड़कर अलग हो गया था। उसने अपने सामने अपने पुत्र का राज्याभिषेक कराया था और इसके उपरांत वह अपना सारा समय भोग-विलास में ही बिताने लगा था।

शिलालेखों के ठीक होने का प्रमाण

§ ६४. शिलालेखों आदि के अनुसार वाकाटक इतिहास में एक निश्चित बात यह है कि चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में ही पृथिवीषेण प्रथम और रुद्रसेन द्वितीय हुए थे। एक और बात, जिसका पता प्रयाग के समुद्रगुप्तवाले शिलालेख से चलता है, यह है कि समुद्रगुप्त के सम्राट् होने से पहले ही सम्राट् प्रवरसेन का देहांत हो चुका था, क्योंकि उस शिलालेख में प्रवरसेन का नाम नहीं मिलता। समुद्रगुप्त ने गंगा-यमुना के दोआब के आस-पास के 'वन्य प्रदेश' के राजाओं को अपना शासक या गवर्नर और सेवक बनाया था[1], जिसका

वाकाटक इतिहास में एक निश्चित बात

---

1. G. I. पृ० १३।

निस्संदेह रूप से अर्थ यही है कि बुंदेलखंड और बघेलखंड उसकी अधीनता मे आ गए थे। अब प्रश्न यह होता है कि उस समय विंध्य प्रदेश मे कौन सा वाकाटक राजा था जिसके अधीनस्थ और करद राजाओ को समुद्रगुप्त ने छीनकर अपने अधीन कर लिया था। उसने जो प्रदेश जीते थे, वे प्रवरसेन के बाद जीते थे, और चौथा वाकाटक राजा पृथिवीषेण प्रथम सारे वाकाटक देश पर राज्य करता था और उसके लड़के का विवाह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की कन्या के साथ हुआ था। इसलिये समुद्रगुप्त का समकालीन वही वाकाटक राजा होगा जो प्रवरसेन के बाद और पृथिवीषेण से पहले हुआ था; और वह राजा रुद्रसेन प्रथम था जिसे हम निश्चित रूप से वही रुद्रदेव कह सकते है जो समुद्रगुप्त की सूची मे आर्यावर्त का प्रधान राजा था (§ १३६)।

वाकाटक इतिहास के संबंध मे पुराणो के उल्लेख

§ ६५. परंतु वाकाटको के इतिहास के संबंध मे हमे और बहुत सी बाते तथा सहायता पुराणों से मिलती है। पुराणों मे कहा है कि विंध्यशक्ति के वंशजो ने ९६ वर्ष तक राज्य किया था और यह भी कहा है कि इनमे से ६० वर्षों तक शिशु राजा तथा प्रवरसेन प्रवीर का राज्य रहा, और इसलिये विंध्यशक्ति के राज्य के लिये ३६ वर्ष बचते है। दूसरे शब्दो मे हम यही बात यो कह सकते है कि पुराणो मे रुद्रसेन प्रथम से ही इस राजवंश का अंत कर दिया जाता है। इसलिये हम दृढतापूर्वक कह सकते है कि रुद्रसेन को समुद्रगुप्त का मुकाबला करना पड़ा था और इसी मे उसका लोप हो गया। वायु पुराण और ब्रह्मांड पुराण मे कहा गया है कि

साम्राज्य (भूमि[1]) ९६ वर्षों के उपरांत दूसरे के हाथ में चली गई थी। वायुपुराण में जहाँ ६० वर्षों का उल्लेख है, वहाँ क्रिया बहुवचन में है, जिससे पता चलता है कि ६० वर्ष का उल्लेख दोनों के संबंध में है। उसकी क्रिया (भोक्ष्यन्ति) द्विवचन में नहीं बल्कि बहुवचन में है जो प्राकृत के नियमों के अनुसार है, जैसा कि मि० पारजिटर ने बतलाया है (P. T. पृ० ५०, टिप्पणी ३१)। भागवत में न तो शिशु राजा का उल्लेख ही है और न उसकी गिनती ही हुई है। जान पड़ता है कि प्रवरसेन की मृत्यु होते ही समुद्रगुप्त ने तुरंत अपना यह अभियान आरंभ कर दिया था और प्रयाग या कौशांबी के युद्धक्षेत्र में रुद्रसेन प्रथम की शक्ति टूट गई थी, और इसी युद्ध में उसके साम्राज्य-संघ के प्रमुख राजा अच्युत और नागसेन की तथा संभवतः गणपति नाग की भी मृत्यु हो गई थी[2]।

§ ६६. इस प्रकार पुराणों में विंध्यक राजवंश का जो अंत वर्णन किया गया है, पर गुप्तों के संबंध में उनमें जो उल्लेख मिलता है, उससे जान पड़ता है कि उनका वंश तब तक बराबर चला चलता था, क्योंकि गुप्त राजाओं को उन्होंने बिना पूरा हिसाब दिए ही छोड़ दिया है और यह नहीं बतलाया है कि सब मिलाकर उन्होंने कितने दिनों तक राज्य किया था। पुराणों में जो यह कहा है कि विंध्यक वाकाटक सम्राटों ने सब मिलाकर ९६ वर्ष तक राज्य किया था, उसका समर्थन वाकाटक शिलालेखों से भी होता है जिनमें पृथिवीषेण प्रथम के शासन के संबंध में

लिखा है—"जिसके उत्तराधिकारी पुत्र और पौत्र बराबर होते चले गए थे और जिसके कोश तथा दंड या शासन के साधन बराबर सौ वर्षों तक बढ़ते गए थे" (फ्लीट कृत G. I. पृ० २४)। कोसम के सिक्कों में से रुद्र का जो सिक्का है, उस पर वाकाटकों का विशिष्ट चक्र है और उस पर १०० वॉ वर्ष अंकित है (§ ६१)। इस प्रकार रुद्रसेन ने अपने राजवंश के शासन के एक सौ वर्ष पूरे किए थे और उसने चार वर्षों तक राज्य किया था।

§ ६७. विष्णुपुराण और भागवत में दो जोड़ दिए हैं। उनमें से एक तो १०० वर्ष है और दूसरा कुछ अनिश्चित है [५६, ६ या ६० (?)] है और वहाँ का पाठ कुछ ठीक नहीं है। विष्णुपुराण की हस्तलिखित प्रतियों में है—वर्ष-शतम् षट्, वर्षाणि और वर्ष-शतम् पचवर्षाणि, और भागवत में है—वर्ष-शतम् भविष्यंति अधिकानि षट्[1]। जान पड़ता है कि वर्ष शतम् लिखने के उपरांत कुछ और भी लिखा गया था जो अब साफ साफ पढ़ा नहीं जाता। विष्णुपुराण में वर्षशतम् के उपरांत फिर वर्षाणि शब्द को दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं थी। विष्णुपुराण के सपादकों या प्रतिलिपि करने वालों के सामने दो अंक थे। एक तो शिशुक और प्रवीर के लिये ६० वर्ष का और दूसरा विध्यशक्ति के वंश के लिये १०० या ९६ वर्षों का। ९६ और ६० को मिलाकर उन्होंने वर्षशतानि पच कर दिया या षट् कर दिया, और जान पड़ता है कि १०० और ५६ या १०० और ६० को घटाकर १०६ कर दिया गया। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उन्होंने न तो वायु पुराण और ब्रह्मांड पुराण का ६० वाला अंक लिया, और न उनका ९६ वाला अंक लिया बल्कि उन दोनों की जगह उन्होंने १०६ या १५६ पढ़ा।

१. P. T. ५०, टिप्पणी ३०।

इसलिये हम यह मान लेते हैं कि १०० अथवा ९६ वर्षों तक तो वाकाटकों का स्वतंत्र शासन रहा और ६० वर्षों तक प्रवरसेन तथा रुद्रसेन ने शासन किया। 'स्वयं रुद्रसेन प्रथम ने, सम्राट् के रूप में नहीं बल्कि राजा के रूप में, संभवतः चार वर्षों तक शासन किया था; (और यही वह चार वर्षों का अंतर है जो पुराणों के दो वर्गों में मिलता है—वर्षशतम् या १०० वर्ष और ९६ वर्ष)'[1]।

§ ६८. इसके अतिरिक्त पुराणों में राज्य-क्रम की एक और महत्त्वपूर्ण बात मिलती है। वे सन् २३८ या २४३ ई०[2] के लगभग शातवाहनों के शासन का अंत करके और उनके सम-कालीन मुरुंड-तुखारों का वर्णन (लगभग २४३ या २४७ ई०[3]) समाप्त करके विन्ध्यशक्ति के उदय का वर्णन आरंभ करते हैं। इसलिये यदि हम यह मान लें कि विन्ध्यशक्ति का राज्य सन् २४८ ई० में आरंभ हुआ था तो पुराणों और शिलालेखों के आधार पर हमें नीचे लिखा क्रम और समय मिलता है—

१. विन्ध्यशक्ति	... ...	सन् २४८—२८४ ई०
२. प्रवरसेन प्रथम	... ...	२८४—३४४ ,,
३. रुद्रसेन प्रथम	... ...	३४४—३४८ ,,
४. पृथिवीषेण प्रथम	... ...	३४८—३७५ ,,
५. रुद्रसेन द्वितीय	... ...	३७५—३९५ ,,
६. प्रभावती गुप्ता (क) दिवाकरसेन की अभिभाविका के रूप में		३९५—४०५ ,,

और (ख) दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय की अभिभाविका के रूप मे ... ४०५—४१५ ई०

७. प्रवरसेन द्वितीय, वयस्क होने पर ४१५—४३५ „

८. नरेंद्रसेन (८ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा था) ... ... ४३५—४७० „

९. पृथिवीषेण द्वितीय ... ... ४७०—४८५ „

१०. देवसेन (इसने सिंहासन का परित्याग किया था) ... ... ४८५—४९० „

११. हरिषेण ... ... ४९०—५२० „

आरंभिक गुप्त इतिहास से मिलान

§ ६९. ऊपर जो क्रम दिया गया है, वह मुख्यतः पुराणो के आधार पर है और ज्ञात ऐतिहासिक घटनाओ से अर्थात् चंद्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त के शासन-काल से इसका मिलान या समर्थन हो जाता है। सिक्को के अनुसार भी और कौमुदी-महोत्सव के अनुसार भी चंद्रगुप्त ने लिच्छवियों की सहायता से पाटलिपुत्र पर अधिकार प्राप्त किया था। मगध मे जो राजवंश शासन करता था, वह अवश्य ही भार-शिवो के साम्राज्य का अधीनस्थ रहा होगा, क्योंकि उस साम्राज्य का अस्तित्व सन् २५० ई० के लगभग आरंभ हुआ था और उस राजवंश को चंद्रगुप्त प्रथम ने राज्यच्युत कर दिया था। चंद्रगुप्त प्रथम ने सन् ३२० ई० से लिच्छवियों के नाम से अपने सिक्के बनाने आरंभ किये थे[1], और इसका अभिप्राय यह है

१. मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उसके पहले के सिक्के उन्हीं सिक्को में मिलते हैं जिन्हे पाचाल सिक्के कहते हैं और जिनके चित्र कनिंघम

कि उस समय से उसने भार-शिवों और उनके उत्तराधिकारी प्रवरसेन प्रथम का प्रभुत्व मानना छोड़ दिया था और उनका खुलकर विरोध किया था। उसके सिक्के लगभग सौ तरह के (उसके कोशल और मगध दो प्रांतों में) हैं और इनके लिये उसका शासनकाल लगभग बीस वर्ष रहा होगा। इससे भी कौमुदी-महोत्सव के इस कथन का समर्थन होता है कि सुंदरवर्म्मन् का छोटा बच्चा किसी प्रकार अपनी दाई के साथ बचकर निकल गया था और विन्ध्य पर्वत में जा पहुँचा था और पाटलिपुत्र नगर की सभा या कौंसिल ने उसे वहाँ से बुलवाकर उसका राज्याभिषेक किया था। और हिंदुओं के धर्मशास्त्रों के अनुसार राज्याभिषेक २५ वर्ष की अवस्था पूरी कर लेने पर होता है। कौमुदी-महोत्सव और समुद्रगुप्त के शिलालेख दोनों से ही यह बात प्रमाणित होती है कि समुद्रगुप्त से पहले एक बार पाटलिपुत्र पर से गुप्त राजवंश का अधिकार हटा दिया गया था। समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्कों के बीच की शृंखला टूटी हुई है और इसका पता

इस बात से भी चलता है कि चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्के कभी गुप्त सम्राटो के सिक्कों के साथ नहीं मिले है। समुद्रगुप्त के व्याघ्र रूपवाले जो सिक्के मिले है, उनसे सूचित होता है कि उसने कुछ दिन एक छोटे राजा के रूप मे, साकेत मे रहकर अथवा बनारस और साकेत के बीच मे रहकर, बिताए थे। इन सिक्को पर केवल 'राजा समुद्रगुप्त' लिखा है। तब तक उसने न तो गरुड़ध्वज का ही अगीकार किया था और न उन दूसरे चिह्नो का ही जो उसके उन सिक्को पर मिलते है जो उसके सम्राट् होने की दशा मे बने थे इन सिक्को पर, पीछे की ओर, एक शिशुमार पर खड़ी हुई गंगा की मूर्त्ति है। वाकाटको के समय मे गंगा और यमुना दोनों साम्राज्य के चिह्न थे। भारशिव सिक्को पर और प्रवरसेन के सिक्कों पर भी, गंगा की मूर्त्ति मिलती है जान पड़ता है कि जिस समय समुद्रगुप्त एक करद और अधीनस्थ राजा के रूप मे था, उस समय उसने वाकाटक सम्राटो का गगावाला चिह्न अपने सिक्कों पर रखा था। आगे चलकर जब वह सम्राट् हुआ था, तब उसने जो सिक्के बनवाए थे, उन पर यह गगा का चिह्न नहीं मिलता। व्याघ्र रूपवाले सिक्के बहुत ही कम मिलते है, तो भी उनके जो नमूने मिले है, उनसे हम यह तो निश्चयपूर्वक कह सकते है कि इन सिक्को के दो वर्ग थे अथवा ये दो बार अलग अलग बने थे। व्याघ्र शैलीवाले सिक्को पर समुद्रगुप्त, अपने प्रपिता की तरह, सम्राट् पद के उपयुक्त जिरह-बक्तर आदि नहीं पहने है; और इससे भी यही सूचित होता है कि वाकाटको के अन्यान्य करद तथा अधीनस्थ राजाओं की तरह उस समय समुद्रगुप्त भी संयुक्त प्रांत के सामान्य सनातनी हिंदू राजाओ की तरह रहता था। यदि हम यह मान लें कि चद्रगुप्त प्रथम सन् ३२० से ३४० ई० तक राज्य करता था और राजा समुद्रगुप्त के व्याघ्र

द्वितीय के समय मे लिच्छवि-राजधानी मे गुप्तो की ओर से एक प्रांतीय शासक रहने लगा था और उसकी उपाधि "महाराज" थी। इस प्रकार लिच्छवीप्रजातंत्र दबा दिया गया था; और जिस समय लिच्छवियो का दौहित्र भारत का सम्राट् हुआ था उससे पहले ही उनके प्रजातंत्र का अंत हो चुका था। इसके बाद हमे पता चलता है कि लिच्छवी-शासक नेपाल चले गए थे जहॉ उन्होने सन् ३३०-३५० ई० के लगभग एक राज्य स्थापित किया था[1]। इससे यही प्रबल परिणाम निकलता है कि जिन लिच्छवियो के संरक्षण मे चद्रगुप्त प्रथम के सिक्के बने थे, उन्हे वाकाटक सम्राट् ने सन् ३४० ई० के लगभग परास्त करके क्षेत्र से हटा दिया था। इसलिये समुद्रगुप्त के हिस्से वाकाटक राजवंश से राजनीतिक बदला चुकाने का बहुत बडा काम आ पडा था और यह बदला चुकाने मे उसने कोई बात उठा नहीं रखी थी। इस प्रकार जो यह सिद्ध होता है कि सन् ३४४ ई० मे या उसके लगभग प्रवरसेन की मृत्यु और समुद्रगुप्त का उदय हुआ था, उसका पूरा पूरा मिलान सभी ज्ञात तत्त्वों से हो जाता है।

लिच्छवियो का पतन-काल

६. वाकाटक साम्राज्य

§ ७० ऊपर वाकाटकों का जो काल-क्रम हमने निश्चित किया है, वह चंद्रगुप्त द्वितीय के ज्ञात समयो से मिलता है। चंद्रगुप्त द्वितीय ने एक नई नीति यह ग्रहण की थी कि जो राज्य किसी समय उसके वंश के शत्रु थे, उनके

चद्रगुप्त द्वितीय और परवर्ती वाकाटक

---

१. फ्लीट कृत G. I. की प्रस्तावना, पृ० १३५।

साथ वह विवाह-संबंध स्थापित करना था; और इसी का यह परिणाम हुआ था कि उसने अपनी कन्याओं का विवाह वाकाटक शासक रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया था और कदंब-राजा की एक कन्या का विवाह अपने वंश के एक राजकुमार के साथ किया था[1]। स्वयं उसने भी कुबेर नागा के साथ विवाह किया था जो एक नाग राजकुमारी थी और जो प्रभावती गुप्ता की माता थी। ध्रुवदेवी भी और कुबेर नागा भी क्रमशः गुप्त और वाकाटक लेखों में महादेवी कही गई हैं। यदि ध्रुवदेवी, जिसके पूर्वजों का पता नहीं है, यही कुबेर नागा नहीं है, तो यही कहा जा सकता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने सिंहासन पर बैठने के उपरांत शीघ्र ही उसके साथ विवाह किया था और तब ध्रुवदेवी के उपरांत कुबेर नागा महादेवी हुई होगी। जब नाग राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न एक राजकुमार उस वाकाटक राजवंश में चला गया, जो नागों का उत्तराधिकारी था, तब गुप्तों और वाकाटकों की पुरानी शत्रुता का अंत हो गया। इसके उपरांत वाकाटक फिर धीरे धीरे प्रबल होने लगे और नागों के अधीन उन्हें जितनी स्वतंत्रता मिली थी, उतनी और किसी दूसरे राज्य को नहीं मिली थी। प्रभावती की मृत्यु के उपरांत और गुप्त साम्राज्य का पतन हो जाने पर नरेंद्रसेन की अधीनता में वाकाटक लोग फिर बरार-मराठा-प्रदेश के, जिसमें कोंकण भी संमिलित था, सर्व-प्रधान राजा हो गए और उनका साम्राज्य कुंतल, पश्चिमी मालवा, गुजरात, कोशल, मेकल और आंध्र तक हो गया। हरिषेण के समय में भी उनके राज्य की यही सीमा बनी रही। पश्चिम में और दक्षिण में कदंब राज्य के कुंतल देश तक गुप्तों का ही राज्य था,

1. The Kadamba Kula. पृ० [illegible]।

वह पूरी तरह से नरेंद्रसेन और हरिषेण के अधिकार में आ गया था। इस विस्तृत प्रभुत्व का महत्व उस समय स्पष्ट हो जायगा, जब हम वाकाटक-सरकार का सविस्तार वर्णन करेंगे, जिसका पुराणों में पूरा पूरा वर्णन है और उसी के साथ जब हम यह भी वर्णन करेंगे कि गुप्तों ने दक्षिण में किस प्रकार और कहाँ तक विजय प्राप्त की थी और समुद्रगुप्त की अधीनता में किस प्रकार वहाँ का पुनर्वटन हुआ था। और इन सब बातों का भी पुराणों में पूरा पूरा उल्लेख है।

वाकाटक-साम्राज्य-काल

§ ७१. वाकाटक-काल के तीन मुख्य विभाग हैं—(१) साम्राज्य-काल (२) गुप्तों के समय का काल और (३) गुप्तों के बाद का काल (नरेंद्रसेन से लेकर हरिषेण के समय तक और संभवतः उसके उपरांत भी)।

§ ७२. वाकाटक-साम्राज्य का आरंभ प्रवरसेन प्रथम के शासन काल से होता है और रुद्रसेन प्रथम के शासन के साथ उसका अंत होता है। परंतु समुद्रगुप्त के प्रथम युद्ध के कारण (§१३२) रुद्रसेन प्रथम को इतना समय ही नहीं मिला था कि वह अपने वाकाटक प्र-पिता का सम्राट् पद ग्रहण कर सकता। सम्राट् प्रवरसेन के सिक्के पर संवत् ७६ अंकित मिलता है जिससे जान पड़ता है कि उसने अपने राज्य का आरंभ अपने पिता के समय से ही मान लिया था; क्योंकि स्वयं उसने केवल ६० वर्षों तक ही शासन किया था। समुद्रगुप्त ने भी गुप्त राज्य-वर्षों की गणना करते समय[१] इसी प्रकार अपने पिता के

---

१ मिलाओ G. I. पृ० ९५—अब्द-शते गुप्त-नृप-राज्य-भुक्तौ।

राज्याभिषेक के काल से आरंभ किया था और प्रवरसेन प्रथम के उदाहरण का अनुकरण किया था।

वाकाटक-साम्राज्य-संघटन

§ ७२. वाकाटकों की साम्राज्य-संघटन की प्रणाली यह थी कि वे अपने पुत्रों तथा संबंधियों को अपने भिन्न भिन्न प्रांतों के शासक नियुक्त करते थे और यह प्रणाली उन्होंने नाग साम्राज्य से ग्रहण की थी। विशेषतः इस विषय में पुराणों में बहुत सी बातें दी हुई हैं। उनमें कहा है कि प्रवरसेन के चार लड़के प्रांतों के शासक नियुक्त हुए थे: तीन वंश ऐसे थे, जिनके साथ उनका विवाह-संबंध स्थापित हुआ था और एक वंश उनके वंशजों का था जो इन चार केंद्रों से शासन करते थे—माहिषी, मेकला, कोसला और विदूर[1]। यहाँ माहिषी से अभिप्राय उसी माहिष्मती से है जो नर्मदा के किनारे नीमाड़ के अँगरेजी जिले और इंदौर राज्य के नीमाड़ जिले के बीच में है[2]। यह पश्चिमी मालवा प्रांत की राजधानी थी। बरार के आस-पास के प्रदेशों का तीसरे वाकाटक-काल में फिर उसी प्रकार विभाग हुआ था—कोसला, मेकला और

मालव[1]। इन सभी प्रांतो के संबंध मे पुराणों में यह बतलाया गया है कि इनमे कौन कौन से शासक थे और उन्होंने कुल कितने दिनो तक शासन किया था, जिसका अभिप्राय यही होता है कि इनका अंत भी वाकाटक-साम्राज्य-काल के अंत के साथ ही साथ अर्थात् समुद्रगुप्त की विजय के समय आकर होता है।

वाकाटक प्रात, मेकला आदि

§ ७३. क—इन चार प्रांतीय राजवंशो मे से मेकला मे शासन करने वाले राजवंश को वायु-पुराण मे विशेष रूप से विंध्यको के वंशजो का वंश कहा गया है। यथा—

मेकलायाम् नृपाः सप्त भविष्यन्तीः सन्ततिः[2]।

भागवत मे और विष्णुपुराण की कई प्रतियो में भी मेकल के इन राजाओं को, जिनकी संख्या सात थी, सप्तांध्र या

---

१ बालाघाट के प्लेट E. I. खंड ६, पृ० २७१। प्रो० कील हार्न ने समझा था कि कोसला और मेकला रूप अशुद्ध हैं और इसीलिये उन्होने इनके स्थान पर कोसला और मेकल शब्द रखे थे। परतु पुराणो के मूल पाठ से सूचित होता है कि शिलालेखो मे इन शब्दो के जो रूप दिए हैं, वही ठीक हैं और वाकाटको के समय मे इनके यही नाम थे।

२. P. T. पृ० ५१, टिप्पणी १७। अधिकाश हस्तलिखित प्रतियो और उन सब प्रतियो मे, जिन्हे विलसन और हाल ने देखा था, यही पाठ मिलता है। (V. P. ४, पृ० २१४-१५.) इनका सत्तमाः पाठातर अशुद्ध और निरर्थक है।

(आंध्र देश के सात राजा) कहा गया है[1]। जान पड़ता है कि मेकल का प्रांत आज-कल की मैकल पर्वत-माला[2] के दक्षिण से आरंभ होकर एक सीधी रेखा में आज-कल की बस्तर रियासत को पार करता हुआ चला गया था जहाँ से आंध्र देश आरंभ होता है। इसके पूर्व में कोसला का प्रांत था अर्थात् उड़ीसा और कलिंग के करद राज्यों का प्रांत था। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि रायपुर से बस्तर तक के प्रदेश में बराबर नागों की बस्ती के चिह्न मिलते हैं, और वहाँ दसवीं शताब्दी से लेकर इधर के परवर्त्ती नागवंशों के शिलालेख आदि बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं। शेष मध्य प्रदेश के साथ साथ यह प्रांत भी नाग-साम्राज्य का एक अंश था। आगे चलकर जब दक्षिणी इतिहास का विवेचन किया जायगा और पल्लवों के संबंध की बातें बतलाई जायँगी (§ १७२ और उसके आगे) तब यह भी बतलाया जायगा कि ये नाग लोक विंध्यकों अथवा विंध्यशक्ति के वंशजों की किस शाखा के थे। यहाँ केवल इतना बतला देना यथेष्ट है कि विंध्यक लोग आंध्र देश के शासक थे, उनके मेकल प्रांत में आंध्र भी सम्मिलित था और इस वंश की एक शाखा वहाँ करद और अर्धानन्थ वंश के रूप में बस गई थी जिसने सात पीढ़ियों तक राज्य किया था। शेष तीनों वंशों के शासक कुल इस वर्णन के अंतर्गत आते हैं—विवाह-संबंध द्वारा स्थापित राजवंश (वैवाहिकाः)[3]। नैषध प्रांत पर एक ऐसे

राजवंश का अधिकार था जो अपने आपको नल का वंशज बत-
लाता था। उनकी राजधानी विदूर मे थी जो आज-कल का बीदर

जिनमे वैवाहिकाः (इसे भूल से वाह्लीकाः पटा था) भी सम्मिलित थे और विंध्यशक्ति के वशज भी थे (मिलाओ टीकाकार—तत्पुत्राः विंध्य-शक्त्यादीना पुत्राः)। विष्णुपुराण का पाठ इस प्रकार है—तत्पुत्रास्त्रयो-दशैव वाह्लीकाः त्रयः ततः पुष्यमित्रपद्ुमित्रपद्‌ममित्रास त्रयोदशा। मेकलाश्च (विलसन कृत V. P. ४, २१३)। इसमे संततिः शब्द का सवध मूलत. मेकलो से था और त्रय पुष्यमित्रवर्ग के 'दश' अक का (§ ७४) प्रयोग उन राजाओं के लिये किया गया था जो वायुपुराण के पाठ मे विंध्यशक्ति के वाद और मेकलो के पहले थे। अर्थात् इन दोनो शब्दो को उसने तीन वाह्लीकों (वस्तुतः वैवाहिको) और दस पुष्यमित्रो, पद्ुमित्रो और पद्ममित्रो के साथ मिला दिया था। और जब इस प्रकार तेरह की सख्या पूरी हो गई, तब मेकलों के सवध में, जो वास्तव में वशज थे, लिख दिया—और मेकल भी (मेकलाश्च)। भागवत में भी विष्णुपुराण का ही अनुकरण किया गया और उसका कर्त्ता १३ सतानो का उल्लेख करके रह गया। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि विष्णुपुराण के कर्त्ता को मेकलो के बाद और उनके साथ 'सतति' शब्द मिला था।

विष्णुपुराण ने सप्त को कोशला के साथ मिला दिया—सप्तकोस-लाया। (टीकाकार ने भी यही पाठ ठीक मान लिया था।) विलसन की हस्तलिखित प्रति मे भी यही पाठ मिला था। (देखो जे० विद्या-सागर का संस्करण पृ० ५८४. विलसन ४, २१३-१४)। भूमिका मे वायुपुराण इसे पंचकोसलाः कहता है—वैदिशाः पचकोशलाः; पर मेकलाः कोसलाः का उल्लेख वह अलग करता है (पारजिटर कृत P. T. पृ० २)। इन दोनो के मिलाने पर सप्तकोसलाः के सात प्रात

जान पड़ता है और जो निजाम राज्य की पुरानी राजधानी है। वैदूर्य सतपुड़ा पर्वत है। महीषी के शासकों के दो वर्ग थे—एक तो महिषियों के स्वामी थे जो राजा कहलाते थे और दूसरे पुष्य-मित्र थे जिनके साथ दो और समाज थे और जो राजा नहीं कह-लाते थे। ये भी उन्हीं महीषियों अर्थात् पश्चिमी मालवा के निवा-सियों के अंतर्गत हैं जिसे परवर्त्ती वाकाटक शिलालेखों आदि में मालव कहा है। ये प्रजातंत्री महीषी लोग संभवतः इसी राजा के अधीन थे जो वाकाटकों के करद और अधीनस्थ थे।

महीषी और तीन भिन्न प्रजातंत्र

§ ७४. अब हम इन केंद्रों पर अलग अलग विचार करते हैं। महीषी के एक राजा का नाम सुप्रतीक नभार दिया है जो शाक्य-मान का पुत्र था[1]। वह महीषियों का राजा और देश का स्वामी था[2]। इस राजा के सिक्के भी मिले हैं। उन सिक्कों पर लिखा है—महाराज श्री प्र (ति) तकर। प्रो० रैप्सन ने, जिन्होंने इन सिक्कों के चित्र प्रकाशित किए थे[3], बतलाया था कि ये सिक्के नागों के सिक्कों के अंतर्गत हैं[4]। पुराणों

पूर्व हो जाते हैं। महाभारत में भी इस प्रांत के दो विभागों का उल्लेख है जिनके नाम के साथ कोसल है (सभापर्व ३१, १३)। (कोसल का राजा, वेणा तट का राजा, कान्तारक और पूर्वी कोसलों का राजा)।

१—२. सुप्रतीको नभारस्तु गत्वा भोगपतिं विराटि।
शाक्यमानभवो राजा महीषीणाम् महीपतिः॥

की आज-कल की हस्तलिखित प्रतियों मे यह नाम इस प्रकार लिखा मिलता है—सुप्रतीकन भार (=भारशिव)। इसमे का न भूल से र के बदले मे पढा गया है, जैसा कि पौरा को भूल से मौना पढ़ा गया है और जिसका उल्लेख विष्णुपुराण के टीकाकार ने किया है[1]। इसका शुद्ध पाठ था—सुप्रतीकर भार। कहा गया है कि इसने ३० वर्षों तक राज्य किया था। इस क्षेत्र में, जो महीषी केंद्र के अंतर्गत था, तीन जातियाँ बसती थीं जिन तीनो के नामो के अंत मे 'मित्र' शब्द था। विष्णुपुराण मे उनके नाम इस प्रकार दिए गए हैं—पुष्यमित्र पढुमित्र पद्ममित्रास्त्रयः। भागवत में लिखा है—पुष्यमित्र (अर्थात् राष्ट्रपति) राजन्य जो एक प्रकार के प्रजातत्री राष्ट्रपति का पारिभाषिक नाम है[2]। विष्णुपुराण मे जो तीन जातियों या समाजो के नाम दिए गए हैं और ब्रह्मांड पुराण मे जो त्रिमित्रो का उल्लेख है[3], उससे हमे यह मानना पड़ता है कि उनका राज्य तीन भागो मे विभक्त था और उनमे एक के वाद एक इस प्रकार दस राजा गद्दी पर बैठे थे। वायुपुराण मे जो 'त्रयोदशाः' पद आया है, उसका यह अर्थ हो सकता है कि

मे ि की मात्रा या चिह्न प्रायः छूटा हुआ मिलता है। उस समय भ और त में बहुत कम अतर होता था और उनकी आकृति इतनी मिलती थी कि भ्रम हो सकता था।

१ विद्यासागर का सस्करण, पृ० ५८४।

२. देखो जायसवाल कृत हिंदू-राज्यतत्र, पहला खड, पहला भाग, पृ० ५६।

३. ब्रह्माड पुराण में जो पट्त्रिमित्राः दिया है, उसके सबध में यह माना जा सकता है कि पट्ट त्रिमित्राः को भूल से इस रूप मे पढकर लिखा गया है।

इन तीनों राज्यों में दस शासक या दस राष्ट्रपति हुए थे। दूसरी हस्तलिखित प्रतियों में त्रयोदश के स्थान पर तथैव च' पाठ है; और उससे यह भी सूचित हो सकता है कि महीषी के मुख्य शासकों की तरह उन्होंने भी तीस वर्षों तक राज्य किया था। इनके राज्य का कोई अलग स्थान नहीं बतलाया गया है और इसी लिये हम समझते हैं कि वे पश्चिमी मालवा में थे। परवर्ती अर्थात् गुप्त काल में ये लोग आवन्त्य कहे गए हैं जो या तो आभीरों के अधीन थे और या उनके संघ में थे (§ १४५ और उसके आगे)। यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि कुमारगुप्त के समय में पुष्यमित्र लोग इतने बलवान् हो गए थे कि उन्होंने उस सम्राट् पर बहुत भीषण आक्रमण किया था। यहाँ प्रजातंत्री राष्ट्रपतियों या राजन्यों के राज्यारोहण का उल्लेख है, इसलिये उनकी दस की संख्या का अर्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्रपति या राजन्य तीन वर्ष तक शासन करता था। जान पड़ता है कि इस मालवा प्रांत पर वाकाटकों ने सन् ३००–३५० ई० के लगभग अधिकार प्राप्त किया था।

मेकला

§ ७५. मेकला में ७० वर्षों में[2], अर्थात् लगभग सन् २७५ से ३४५ ई० तक, सात शासक हुए थे। जान पड़ता है कि यह प्रदेश वाकाटकों के हाथ में विन्ध्यशक्ति के समय में आया था। मेकला के शासक, जो विन्ध्यक वंश की एक शाखा में से थे, आंध्र देश के राजा थे[3]। आंध्र देश के इतिहास ने, जो आगे

दक्षिण भारत के इतिहास के अंतर्गत दिया गया है, इस काल का पूरा पूरा समर्थन होता है जो हमे पुराणो से इन शासको के संबंध मे मिलता है।

§ ७६. वाकाटकों के समय मे कोसला मे एक के बाद एक इस प्रकार नौ शासक हुए थे, पर भागवत के अनुसार इनकी संख्या सात ही है। ये लोग मेघ कहलाते थे। संभव है कि ये लोग उड़ीसा तथा कलिंग के उन्ही चेदियो के वंशज हो जो खारवेल के वंशधर थे और जो अपने साम्राज्य-काल मे महामेघ कहलाते थे। अपनी सात या नौ पीढ़ियो के कारण ये लोग मूलतः विंध्यशक्ति के समय तक, जब कि आंध्र पर विजय प्राप्त की गई थी, अथवा उससे भी और पहले भारशिवो के समय तक जा पहुँचते है। विष्णुपुराण के अनुसार कोसला प्रदेश के सात विभाग थे (सप्त कोसला)। पुराणो मे कहा गया है कि ये शासक बहुत शक्तिशाली और बहुत बुद्धिमान् थे। गुप्तो के समय मे मेघ लोग हमे फिर कौशांबी के शासको या गवर्नरो के रूप मे मिलते है जहाँ उनके दो शिलालेख मिले है[1]।

कोसला

§ ७६ क. बरार (नैषध देश) और उसकी राजधानी विदूर (उत्तरी हैदराबाद का बीदर) नल-वंश के अधिकार मे थी और इस वंशवाले बहुत वीर तथा बलवान् थे। कदाचित् विष्णुपुराण को छोड़कर और कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि इनमे कितने राजा हुए थे और विष्णुपुराण की अधिकांश

नैषध या बरार देश

---

[1] E. I. १९२५ पृ०, १५८।

जान पड़ता है कि भार-शिवों के सेनापति के रूप में विंध्यशक्ति ने उन सबका अंत कर दिया था। नैषध वंश का अंत समुद्रगुप्त की विजय के समय हुआ था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनमें क्रम से नौ राजा सिंहासन पर बैठे थे या इससे कम।

पुरिका और वाकाटक साम्राज्य

§ ७७. संभवतः पुरिका के अधीन नागपुर, अमरावती और खानदेश की सरकार रही होगी। प्रवीर पुरिका और चानका दोनों का ही शासक था अर्थात् पश्चिमी मध्यप्रदेश और बुंदेलखंड दोनों ही उसके स्व-राष्ट्र विभाग के अधीन थे। मालवा प्रांत नाग वंश के अधीन था जिसकी राजधानी माहिष्मती में थी। पूर्वी और दक्षिणी बघेलखंड, सरगुजा, बालाघाट और चाँदा सब मेकला के शासकों के अधीन थे और उड़ीसा का पश्चिमी विभाग तथा कलिंग कोसला के शासकों के अधीन थे। यदि प्रांतीय गवर्नरों के अधीनस्थ प्रदेशों का ऊपर दिया हुआ नकशा हरिषेण की सूची (कुंतल-अवंती-कलिंग-कोसल-त्रिकूल-लाट-आंध्र[1] ......) से मिलाया जाय तो यह पता चलेगा कि कुंतल बाद में मिलाया गया था जिस पर स्वामित्व के अधिकार की स्थापना पृथ्वीषेण प्रथम के समय से लेकर आगे बराबर कई बार की गई थी। लाट देश माहिष्मती साथ आरंभिक वाकाटक काल में मिलाया गया होगा। सन् ५०० ई० के लगभग तो वह अवश्य ही उन लोगों के अधीन था।

---

१. § ६१ क।

आरंभ भार-शिवों के अंतिम समय में और वाकटकों के आरंभिक समय में हुआ होगा। ये लोग यादव थे और शिलालेख में कहा गया है कि ये लोग देश के उस विभाग में युग (कलियुग) के आरंभ से ही बसे हुए थे। महाभारत सभापर्व, १४, श्लोक २५ और उसके आगे इस बात का उल्लेख है कि उस समय यादव लोग मथुरा छोड़कर चले गये थे, और उनके इस देशांतर-गमन से शिलालेख की उक्त बात का समर्थन भी होता है। जिस समय यादव लोग मथुरा, शूरसेन और उसके आस-पास के प्रदेश छोड़कर पंजाब में जा बसे थे, उसी समय शाल्व और कुणिंद लोग भी मथुरा से चलकर पंजाब में जा बसे थे। जान पड़ता है कि टक्क लोग, जो बाद में शाल्व देश से चलकर मालवा में जा बसे थे, सिंहपुर के यादव और मथुरा के यादव नाग सब एक ही बड़ी यादव जाति की शाखाओं में से थे और इसी से यह रहस्य भी खुल जाता है कि मथुरा के प्रति इन लोगों का इतना अधिक प्रेम क्यों था। इस प्रकार सिंहपुर का वंश भार-शिवों के वंश से संबद्ध था। वाकाटकों ने भी यह संबंध बनाए रखा था। जान पड़ता है कि नाग सम्राटों ने कुशनों को पीछे हटाने के लिये ही सिंहपुर राज्य की स्थापना की थी और इस काम में यह राज्य किले का काम देता था। सिंहपुर के आरंभिक राजाओं के संबंध में शिलालेख में कहा है कि उनमें आर्यव्रतता और वीरता यथेष्ट थी। भार-शिवों की तरह वे लोग भी शैव थे। उनका राज्य कम से कम युवानच्वंग के समय (सन् ६३१ ई०) तक अवश्य वर्तमान था, क्योंकि उसने इसका उल्लेख किया है। जान पड़ता है कि गुप्तों ने इस राज्य को इसलिये बना रहने दिया था कि एक तो यहाँ के राजवंश का महत्त्व अधिक था और दूसरे भार-शिवों के समय में कुशनों को उत्तरी आर्यावर्त्त से

इस संरक्षण की आवश्यकता केवल हिंदू सम्राट प्रवरसेन प्रथम के भय से ही थी।

§ ८०. जब समुद्रगुप्त क्षेत्र मे आया और उसने रुद्रसेन को परास्त किया, तब उसने वाकाटकों का सारा साम्राज्य, जिसमे उत्तरवाला माद्रकों का राज्य भी संमिलित

वाकाटक और पूर्वी पजाब

था, एक ही हल्ले मे अपने अधिकार में कर लिया। माद्रकों ने भी तब बिना युद्ध किए चुपचाप उसकी अधीनता स्वीकृत कर ली थी, और इससे यह बात सूचित होती है कि वे लोग भी वाकाटकों के साम्राज्य के अतर्गत और अंग ही थे। जालंधर मे यादवों के जो नए राजवंश का उदय हुआ था, उसका कारण यही था कि पूर्वी पंजाब मे भी वाकाटक साम्राज्य था। इसी बात से यह पता भी चल जाता है कि परवर्त्ती भार-शिव काल और वाकाटक काल मे माद्रक देश और पूर्वी भारत के साथ क्यो घनिष्ठ संबध था और आदान-प्रदान आदि क्यो होता था। जो गुप्त लोग सन् २५०–२७५ ई० के लगभग बिहार मे पहुँचे थे वे, जैसा कि हम आगे चलकर (§ ११२) बतलावेंगे, मद्र देश से ही आए थे। मद्र देश के साथ जो यह संबंध था, उसी के कारण इतनी दूर पाटलिपुत्र मे भी चंद्रगुप्त प्रथम के समय कुशन शैली के सिक्के ढलते थे जिससे मुद्राशास्त्र के एक ज्ञाता (मि० एलन) इतने चक्कर मे पड गए है कि वे यह मानने के लिये तैयार ही नहीं है कि चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्के स्वयं उनके बनवाए हुए ही हैं; बल्कि वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि ये सिक्के उसके बाद उसके लडके ने पजाब पर विजय प्राप्त करने के उपरात बनवाए थे[1]।

१. एलन-कृत Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasties, पृ० ६४ और उसके आगे।

भार-शिव काल में जो फिर से सिक्के बनने लगे थे और कुशनों के इतिहास तथा जालंधर राज्य की स्थापना के संबंध में जो बातें बतलाई गई हैं, उनका ध्यान रखते हुए इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि वाकाटक-साम्राज्य में माद्रक देश भी संमिलित था।

§ ८१. यही बात राजपूताने और गुजरात की रियासतों के संबंध में भी कही जा सकती है। समुद्रगुप्त के शिलालेख में पश्चिमी और पूर्वी मालवा के जिन प्रजातंत्री

राजपूताना और गुजरात

वहाँ कोई क्षत्रप नहीं था

समाजों की सूची दी है, उनमें आभीरों का नाम सबसे पहले आया है और मालव-आर्जुनायन - यौधेय - माद्रकवाले वर्ग में मालवों का नाम सबसे पहले आया है। मालव से माद्रक तक का

मि० एलन के इस सिद्धांत के संबंध में यह बात ध्यान में रखने की है कि कोई हिंदू कभी अपने पिता और माता का विवाह करने का विचार भी न करेगा। चंद्रगुप्त प्रथम के इन सिक्कों पर यह अंकित है कि चंद्रगुप्त अपनी पत्नी के साथ प्यार कर रहा है और इस प्रकार के सिक्के स्वयं चंद्रगुप्त प्रथम के बनवाए हुए हो सकते हैं।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, अपने पाटलिपुत्र वाले सिक्कों से पहले चंद्रगुप्त प्रथम ने जो सिक्के बनवाए थे, उनके चित्र कनिंघमकृत Coins of Ancient India प्लेट ७ के अंक १-२ पर दिए हुए हैं। ये सिक्के उस समय बनवाए गए थे जिस समय वह भार-शिव वाकाटक साम्राज्य के अधीन था। इन सिक्कों पर त्रिशूल अंकित है जो भार-शिवों का चिह्न था। कनिंघम का मत है कि उस पर रुद्रगुप्तस लिखा है (पृ० ८१)। पर इसका पहला अक्षर च है और इसका समर्थन इस बात से होता है कि उस च के ऊपर अनुस्वार है। अंतिम अक्षर स नहीं बल्कि स्य है।

वर्ग दक्षिण मे उत्तर की ओर अर्थात् दक्षिणी राजपूताने से एक के बाद एक होता हुआ पंजाब तक पहुँचता है और आभीरोवाला वर्ग सुराष्ट्र से आरंभ होकर गुजरात तक पहुँचता है जिसमे मालवो के दक्षिण के पासवाला प्रदेश भी संमिलित है; और इस वर्ग के देश पश्चिम से पूर्व की ओर एक सीधी रेखा मे है (§ १४५)। जैसा कि हम आगे चलकर इस ग्रंथ के दूसरे भाग मे बतलावेगे, यह ठीक वही स्थिति है जो पुराणो मे आगे चलकर इसके बादवाले गुप्त साम्राज्य के काल के आरंभ मे सुराष्ट्र-अवंती के आभीरो की बतलाई गई है। वाकाटक काल मे काठियावाड़ या गुजरात मे शक क्षत्रप बिलकुल रह ही नहीं गए थे। वे लोग वहाँ से निकाल दिए गए थे और पुराणो के अनुसार वे लोग केवल कच्छ और सिध मे ही बच रहे थे (तीसरा भाग § १४८)। प्रजातंत्री भारत ने, जिसने भार-शिव काल मे अपने सिक्के फिर से बनवाने आरंभ किए थे बिना किसी युद्ध के समुद्रगुप्त को सम्राट् मान लिया था। बाते तो सब हो ही चुकी थी, अब तो उनके लिये उन्हे मान लेना भर बाकी रह गया था, और इस प्रकार उन्होने वे बाते मान भी ली थी। जब गुप्त सम्राट् ने वाकाटक सम्राट् का स्थान ग्रहण किया, तब प्रजातंत्री भारत ने स्वभावतः उसी प्रकार गुप्तो का प्रभुत्व मान लिया, जिस प्रकार उन्होंने वाकाटको का प्रभुत्व मान लिया था। उन्होने स्वीकृत कर लिया कि गुप्त सम्राट् ही भारत के सम्राट् हैं।

दक्षिण

§ ८७. उस समय के दक्षिण भारत का इतिहास इस ग्रथ में अलग (देखो चौथा भाग) दिया गया है, परंतु वाकाटको और गुप्तो का इतिहास तथा दक्षिण के साथ उनके संबध का ठीक ठीक स्वरूप दिखलाने के लिये पहले से ही यहाँ भी

कुछ बातें बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। अपने साम्राज्य के जिस भाग मे वाकाटकों का प्रत्यक्ष रूप से शासन होता था, उसकी सीमा कुंतल की सीमा से मिलती थी। बाद मे कुंतल-कर्णाट के प्रबल कदंब राज्य का उत्थान होने पर उसके साथ वाकाटकों के प्रायः जो झगड़े हुआ करते थे, उन्हीं से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि दोनो की सीमाएँ मिलती थीं। कुंतल के पड़ोसी होने के लिये यह आवश्यक था कि वाकाटकों का प्रत्यक्ष शासन कोंकण तथा दक्षिणी मराठा रियासतों के क्षेत्र पर होता; और इसका अभिप्राय यह है कि उनका राज्य अवश्य ही बालाघाट पर्वत-माला के उस पार तक पहुँच गया होगा। पूर्व ओर-वाले प्रदेश मे आंध्र लोग थे और वे भी वाकाटकों के अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत थे; और कलिंग तथा कोसलवाले भी वाकाटकों का प्रभुत्व मानते थे और उनके अधीन थे। प्रवरसेन प्रथम के समय से पहले और लगभग विंध्यशक्ति के समय मे पल्लवों ने आंध्र देश मे अपना एक राज्य स्थापित किया था। विंध्यशक्ति की तरह पल्लव भी भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। उन्होंने भी प्रवरसेन की तरह उसी के समय के लगभग अश्वमेध और वाजपेय आदि यज्ञ किए थे और दक्षिणापथ के सातवाहन सम्राटों के साम्राज्य पर अधिकार करने का प्रयत्न किया था। यहाँ भी उसी प्रकार इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही थी, जिस प्रकार पुष्यमित्र शुंग और शातकर्णि (प्रथम) शातवाहन के समय मे हुई थी। पुराणों मे पल्लव लोग आंध्र राजा या आंध्र देश के राजा कहे गए है, जो आंध्र सहित मेकला पर राज्य करते थे और विंध्य की (अर्थात् विंध्यशक्ति की) संतति कहे गए हैं (§ १७६)। पल्लवों से पहले वहाँ एक और राजवंश का राज्य था जिसने प्रायः तीन पीढ़ियों तक शासन किया था। ये लोग इक्ष्वाकु

कहलाते थे, और ज्योंही सातवाहन वंश का अंत हुआ था, त्योंही इन्होंने अश्वमेध यज्ञ करके यह जतलाना चाहा था कि हम सातवाहनों का राज्य लेने के प्रयत्न में हैं। उनकी राजधानी श्रीपर्वत में थी जिसे आज-कल नागार्जुनी कोंड कहते हैं और जो गंटूर जिले में है। इनका पता उन शिलालेखों से चलता है जो इनके संबंधियों ने खुदवाए थे और जो नागार्जुनी कोंड के उस स्तूप में मिले हैं जिसका पता अभी हाल में चला है; और साथ ही जग्गइयपेट के शिलालेखों में भी इनका उल्लेख है। विंध्यशक्ति और पल्लवों के उदय के साथ ही साथ इक्ष्वाकुओं का अंत हो गया था। पल्लव लोग ब्राह्मण थे और उनसे पहले के सातवाहन भी ब्राह्मण ही थे। दक्षिण में बहुत पहले से ब्राह्मणों का साम्राज्य चला आता था, और वह साम्राज्य इतना प्रबल था कि ज्योंही समुद्रगुप्त ने पल्लवों को परास्त किया, त्योंही पल्लवों के करद तथा अधीनस्थ राज्य कदंब के मयूर शर्म्मन और उसके पुत्र कंग ने, जो ब्राह्मण थे, यह माननेसे इनकार कर दिया कि दक्षिणी साम्राज्य का नाश हो गया और उन्होंने दक्षिणी साम्राज्य की पुनर्स्थापना की भी घोषणा कर दी। पर यह ठीक है कि समुद्रगुप्त और पृथ्वीषेण वाकाटक ने उन लोगों की कुछ चलने नहीं दी थी।

अखिल भारतीय साम्राज्य की आवश्यकता

§ ८३. उस समय के उत्तर तथा दक्षिण भारत के इतिहास में मुख्य अंतर यही था कि उत्तरवाले एक अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। सातवाहनोंवाले पिछले साम्राज्य के समय हिंदुओं को जो अनुभव प्राप्त हुआ था, उसी के फल-स्वरूप उनमें यह कामना उत्पन्न हुई थी। उस समय उन्हें यह अनुभव हुआ था कि जो आक्रमणकारी सदा उत्तर की ओर से आया

करते हैं, उनके सामने दक्षिणी शक्ति ठहर नहीं सकती थी। वे समझते थे कि एक भारत में दो सम्राटों का होना एक बहुत बड़ी दुर्बलता का कारण है। प्रवरसेन प्रथम जो सारे भारत का सम्राट्[१] बना था, जान पड़ता है कि उसमें उसका मुख्य नैतिक उद्देश्य यही था; और उसके उपरांत उसके उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त ने जो इस बात पर संतोष प्रकट किया था कि मैंने सारे भारत को एक में मिलाकर अपने दोनों हाथों में कर रखा है, उसका कारण भी यही था। एक तो कुशन साम्राज्य का जो पुराना अनुभव था और दूसरे भारत के पड़ोस में ही विंध्यशक्ति के समय में जो नया सासानी साम्राज्य स्थापित हुआ था, उसके प्रबल हो जाने के कारण जो नई आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी, उन दोनों के कारण इस बात की आवश्यकता भी स्पष्ट ही थी। यह आवश्यकता उस समय और भी प्रबल हो गई थी जब प्रवरसेन प्रथम के समय में सन् ३०० ई० के लगभग कुशन साम्राज्य पूरी तरह से सासानी साम्राज्य में मिल गया था। वाकाटक राजा ने चार अश्वमेध यज्ञ किए थे। महाभारत का दिग्विजय जो चार भागों में

---

१ पल्लव शिवस्कंद वर्म्मन् प्रथम यद्यपि दक्षिण का धर्म-महाराजाधिराज कहलाता था, तो भी उसने कभी स्वतंत्र रूप से अपना सिक्का नहीं ढलवाया था और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी लोग भी महाराज अर्थात् वाकाटक सम्राट् के अधीनस्थ महाराज थे। उस समय 'महाराज' शब्द किसी सम्राट् के अधीनस्थ और करद होने का सूचक होता था। शिवस्कंद वर्म्मन् के उत्तराधिकारियों ने अपने ताम्रलेखों में उसे केवल 'महाराज' ही लिखा है। धर्म महाराजाधिराज की उपाधि बहुत ही थोड़े समय तक प्रचलित रही और चेलों आदि अर्थात् दक्षिणवालों के मुकाबले में रखी गई थी।

विभक्त था, उसी की समता का ध्यान रखते हुए हम यह अभिप्राय भी निकाल सकते है कि प्रवरसेन प्रथम ने भी अपना दिग्विजय चार भागों मे विभक्त किया था और उनमे से एक दक्षिण की ओर हुआ होगा। यद्यपि सम्राट् प्रवरसेन के समय का लिखा हुआ उसके दिग्विजय का कोई वर्णन हम लोगों को अभी तक नहीं मिला है और तामिल साहित्य मे आर्यों और वाडुकों अर्थात् उत्तर से आनेवाले आक्रमणकारियों का जो वर्णन दिया है, वह बहुत ही अनिश्चित है, तो भी यह बात निश्चित ही जान पडती है कि आरंभिक वाकाटक लोग वालाघाट के उस पार आंध्र प्रदेश मे जा पहुँचे थे और उस पर अधिकार करके तामिल देश की रियासतों के पडोसी बन गए थे, और उन पर दिग्विजय करना इसलिये सहज हो गया था कि तामिलगण की सबसे बड़ी रियासत चोल की राजधानी कांची पर अधिकार कर लिया गया था। सारे झगडे का निपटारा तो सातवाहनों के उत्तराधिकारी इक्ष्वाकुओं के साथ हो ही गया था, जिन्होंने केवल नष्ट सम्मान और भारत की रक्षा करनेवाले सम्राटों का निदित नाम ही हस्तांतरित किया था, और तब प्रवरसेन प्रथम उचित रूप से यह घोषणा कर सकता था कि मै सारे भारत का सम्राट् हूँ।

वाकाटकों की कृतियाँ

§ ८४. भार-शिवों ने तो गंगा और यमुना को (इनके आसपास के प्रदेश को) स्वतंत्र कर दिया था, परंतु कुशनों को भारत से बाहर निकालने का काम प्रबल प्रवरसेन प्रथम के ही हिस्से पड़ा था जो एक बहुत बड़े योद्धा का पुत्र भी था और स्वयं भी एक बहुत बडा योद्धा था। उसके समय मे कुशन राजा काबुल का राजा हो गया था, परन्तु चीनी लेखकों के अनुसार

सन् २४० या २५० ई० तक मुरुंड ही भारत का राजा माना जाता था[1] और इसी मुरुंड ने इंडो-चाइना के एक हिंदू राजा को युएह्-ची घोड़े भेजे थे; और इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उस समय तक मुरुंड गंगा और यमुना के बीच का अंतर्वेद छोड़कर चला गया था, तो भी वह भारत का सम्राट् और भारत में शासन करनेवाला ही माना जाता था।

तीन बड़े कार्य; अखिल भारतीय साम्राज्य की कल्पना, संस्कृत का पुनरुद्धार, सामाजिक पुनरुद्धार

§ ८५. वाकाटक सम्राट् ने तीन बहुत बड़े कार्य किए थे। भार-शिव साम्राज्य के प्रायः अंतिम चालीस वर्षों में उसका पिता विंध्यशक्ति बहुत बड़े बड़े युद्ध करता रहा था और वही भारशिवों के साम्राज्य का संस्थापक था। प्रवरसेन ने भी उसकी शक्ति और आदर्श प्राप्त किया था और एक स्पष्ट राजनीतिक सिद्धांत स्थिर किया था। (१) उसने निश्चित किया था कि सारे भारत में एक हिंदू-साम्राज्य होना चाहिए और शास्त्रों की मर्यादा की फिर से स्थापना होना चाहिए। (२) सन् २५० ई० के लगभग संस्कृत के पक्ष में एक बड़ा साहित्यिक आंदोलन आरंभ हुआ था और पचास वर्षों में वह आंदोलन बढ़कर उस सीमा तक पहुँच गया था, जिस सीमा पर गुप्तों ने उसे अपने हाथ में लिया था। सन् ३४० ई० के लगभग कौमुदी-महोत्सव नामक

---

१. जायसवाल का The Murunda Dynasty नामक लेख जो The Malaviya Commemoration Volume पृ० १८५ में छपा है। मुरुंड कुशनों की राजकीय उपाधि थी। (J. B. O. R. S. खंड १६, पृ० २०३।)

एक नाटक लिखा गया था जिसमे समस्त साहित्यिक आंदोलन का चित्र अंकित किया गया है। यह नाटक वाकाटक सम्राट् के एक करद और अधीनस्थ राजा के दरबार मे लिखा गया था और इसकी लिखनेवाली एक स्त्री थी, जिसने एक आसन से बैठकर एक बार मे ही आदि से अंत तक सारा नाटक लिख डाला था और जिसके लिये संस्कृत मे काव्य करना उतना ही सुगम था, जितना सुगम भास और कालिदास के लिये था। प्राचीन काव्यो की संस्कृत भाषा मानो उसकी बोल-चाल की भाषा हो रही थी। साथ ही उस समय वह राज-भाषा भी हो गई थी। भाव-व्यंजन के प्रकार और रूप आदि निश्चित हो गए थे और सभी राजकीय कर्मचारी संस्कृत मे ही बातचीत करते और पत्र आदि लिखते थे। राजधानी मे अथवा उसके आस-पास जितने आरंभिक शिलालेख आदि पाए गए है, वे सब संस्कृत मे ही हैं। उसी समय शिवस्कंद वर्म्मन् के एक पीढ़ी बाद दक्षिण के राजकीय पत्रो और लेखों आदि मे भी संस्कृत का व्यवहार होने लग गया था। वाकाटक लेखो आदि मे वंशावली का जो रूप बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराया गया है, उससे सूचित होता है कि प्रवरसेन प्रथम के समय मे ही संस्कृत मे लेख आदि लिखने की प्रथा चल गई थी। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियो ने भी वाकाटक लेखन-शैली का ही ठीक ठीक अनुकरण किया है। गणपति नाग नामक एक दूसरे करद और अधीनस्थ राजा के दरबार मे बहुत दिनो से चली आई हुई देश भाषा को छोड़कर फिर से प्राचीन संस्कृत मे काव्य करने की प्रथा चल पड़ी थी, और भावशतक मे उस नाग राज के संबंध मे जो श्लोक दिए गए हैं, उन्हे देखकर प्राकृत की गाथासप्तशती का स्मरण हो आता है। (३) कौमुदी-महोत्सव से हमे इस बात का भी पता

चलता है कि उस समय सामाजिक पुनरुद्धार या सुधार हुआ था। उसमें वर्णाश्रम धर्म और सनातन हिंदू धर्म के पुनरुद्धार पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है। उस समय चारों तरफ इन्हीं बातों की पुकार मची हुई थी। कुशन शासन के समय समाज में जो दोष घुस आए थे, वाकाटकों के साम्राज्य काल में उन सबको निकाल बाहर करने का प्रयत्न हो रहा था, और समाज अपने आपको उन सब दोषों से मुक्त करने लगा था। वह हिंदुओं के दोष दूर करके उन्हें शुद्ध करने वाला आंदोलन था जिसका प्रवरसेन प्रथम ने बहुत अच्छी तरह पुष्ट-पोषण किया था, और उसके साम्राज्य की स्थापना का अभिप्राय ही मानों यह था कि सब जगह यह आंदोलन खूब जोर पकड़े[1]।

कला का पुनरुद्धार

§ ८६. गंगा और यमुना की मूर्त्तियाँ वास्तु-कला में राजकीय और राष्ट्रीय चिह्न बन गई थीं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, मत्स्यपुराण में सातवाहन काल तक की वास्तु-कला का विवेचन है, और उसमें कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि शिव, विष्णु अथवा और किसी देवता के मंदिर में गंगा और यमुना की मूर्त्तियाँ यों ही अथवा अवश्य रहनी चाहिएँ। इनका ग्रहण अवश्य ही राजनीतिक उद्देश्यों से हुआ था। भार-शिव काल में भार-शिवों

१. जो बड़े बड़े और बार बार वैदिक कृत्य या यज्ञ (अग्निष्टोम, अप्तोर्याम, उक्थ्य, षोडशिन्, अतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पतिसव, सायस्क और अश्वमेध) (G. I. पृ० २३६) हुआ करते थे, उनमें अवश्य ही बहुत से लोग एकत्र हुआ करते होंगे और उनके द्वारा अपने उद्देश्यों और धर्म का प्रचार भी किया जाता होगा।

के साथ गंगा का जो संयोग हुआ था, उसमे बहुत बड़ा नैतिक बल निहित था। भार-शिवो ने गंगा को मुक्त किया था और वे उसे कला के क्षेत्र मे लाए थे और उन्होने उसे अपने सिक्को तक पर स्थान दिया था। वे यमुना को भी कला के क्षेत्र मे ले आए थे, जैसा कि भूमरा के मंदिरो और देवगढ़वाली गगा और यमुना की उन मूर्त्तियो से सूचित होता है जिनके ऊपर नागछत्र है। पर वाकाटको ने तो उन्हे अपने साम्राज्य का चिह्न ही बना लिया था, और उन्ही से चालुक्यो ने उन्हे ग्रहण किया था और अपना साम्राज्य-चिह्न बनाया था[1] (§ १०१ क)। पल्लव भी, जो वाकाटको की एक शाखा ही थे, उनका व्यवहार करते थे[2] और सब लोग इस चिह्न का राजनीतिक अर्थ बहुत अच्छी तरह समझते थे। वे जानते थे कि इसका अर्थ साम्राज्य—आर्यावर्त्त का साम्राज्य—है[3]। नाग-

---

१. देखो S. I I. खड १, पृ० ५४ जिसमें गगा और यमुना, मकर-तोरण, फनकदड इत्यादि को चालुक्यो के साम्राज्य का चिह्न (साम्राज्य-चिह्नानि) कहा गया है। साथ ही देखो इंडियन एंटीक्वेरी, खड ८, पृ० २६।

२. देखो S I I. खड २, पृ० ५२१ में वेल्रपलैयमवाले प्लेटो की मोहर जिसमें दूसरी पंक्ति में यमुना की उभारदार मूर्त्ति है, जिसके नीचे एक कच्छप बना है और बीच में गगा की मूर्त्ति है जिसके चरणों के पास दो घड़े हैं और सिर के ऊपर नाग के फन का छत्र है।

३. इडियन एंटीक्वेरी, खड १२, पृ० १५६ और १६३। वाणी (बड़ोदा) के राष्ट्रकूट ताम्रपत्र मे गोविंदराज द्वितीय की विजय का वर्णन है और उसमें गंगा तथा यमुना की मूर्त्तियोंवाली ध्वजाओं को छीन लेने

वाकाटकों ने गंगा-यमुना की जो मूर्त्तियाँ बनाई थीं, वे इन नदियों की मूर्त्तियाँ तो थीं ही, पर साथ ही गंगा और यमुना के मध्य के प्रदेश की भी सूचक थीं जहाँ इन लोगों ने फिर से सनातन धर्म की स्थापना की थी। भूमरा और नचना में गंगा और यमुना की जो सुंदर और शानदार मूर्त्तियाँ हैं, वे मानों नाग-वाकाटक संस्कृति का दर्पण हैं। स्वयं वाकाटक लोग भी शारीरिक दृष्टि से बहुत सुंदर होते थे। वायुपुराण की हस्तलिखित प्रति में लिखा है कि प्रवीर के चारों पुत्र साँचे में ढली हुई मूर्तियों के समान सुंदर (सुमूर्त्तयः) थे[1]। अजंतावाले शिलालेख में देवसेन और हरिषेण की सुंदरता का विशेष रूप से वर्णन है। वाकाटकों के समय में अजंता की तक्षण कला और चित्र-कला में मानों प्राणों का संचार किया गया था और अजंता इन लोगों के प्रत्यक्ष शासन में था। परवर्त्ती वाकाटक काल में भी यह परंपरा बराबर बनी रही। आज-कल के सभी लेखक यही कहा करते हैं कि संस्कृत के पुनरुद्धार के श्रेय की तरह हिंदू-कला के पुनरुद्धार का

का इस प्रकार वर्णन है—"गोविंदराज ने, जो कीर्त्ति की मूर्त्ति था, शत्रुओं से गंगा और यमुना की पताकाएँ, जो बहुत ही मनोहर रूप में लहरा रही थीं, छीन लीं और साथ ही वह महाप्रभुत्व का पद भी (प्राप्त कर लिया) जो (इन नदियों से) प्रत्यक्ष चिह्न के रूप में सूचित होता था।" मिलाओ इंडियन एंटीक्वेरी, खंड २०, पृ० २७५ में फ्लीट का लेख जिसमें कहा गया है कि ये चिह्न किसी न किसी रूप में आरंभिक गुप्तों से लिए गए थे। (फ्लीट के समय तक नाग-वाकाटक चिह्नों का पता नहीं चला था।)

१. P. T. पृ० ५०, टिप्पणी ३८।

भी सारा श्रेय गुप्तों को है; पर वास्तव में इसका सारा श्रेय वाकाटकों को ही है। वास्तु-कला की जिन जिन बातों का विकास हमें एरन, उदयगिरि, देवगढ़ और अजंता में तथा उसके बाद भी मिलता है, उन सबका बीज नचना के वाकाटक मंदिरों में मौजूद है, यथा कटावदार जाली की खिड़की, गवाक्षवाला छज्जा, शिखर, लिपटे हुए साँप, मूर्त्तियों और बेल-बूटों से युक्त दरवाजों के चौखटे, उभारदार शिखर, रहने के घरों के ढंग के चौकोर मंदिर आदि। (नचनावाले मंदिरों के संबंध में देखो अंत में परिशिष्ट क)।

सिक्के

§ ८७. यह ठीक है कि वाकाटकों के सिक्के चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्कों की तरह देखने में भड़कीले नहीं होते थे, पर इसका कारण यह नहीं था कि उन लोगों में कला का यथेष्ट ज्ञान या बल नहीं था[1]। बल्कि इसका कारण यह था कि वे लोग पुराने ढर्रे के थे। वे उन कुशनों के सिक्कों का अनुकरण नहीं कर सकते थे जिन्हें वे देश के शत्रु और म्लेच्छ समझते थे। चंद्रगुप्त प्रथम ने जो कुशनों के सिक्कों का अनुकरण किया था, उसे उन लोगों ने राष्ट्रीय दृष्टि से पतन का सूचक समझा होगा। समुद्रगुप्त जिस समय अधीनस्थ और करद राजा था, उस समय वाकाटकों के प्रभाव के कारण स्वयं उसे भी उसी पुराने ढर्रे पर चलना पड़ा था और राष्ट्रीय शैली के सिक्के चलाने पड़े थे[2]।

---

१. देखो ऊपर § ६१, पृथिवीषेण प्रथम के सिक्के पर का साँड़। C. I. M. प्लेट २०, आकृति नं० ४।

२. व्याघ्र शैलीवाला सोने का सिक्का, जिस पर वाकाटकों का साम्राज्य-चिह्न गंगा है।

§ ८८. वाकाटकों ने अपनी शासन-प्रणाली भार-शिवों से ग्रहण की थी और वाकाटकों से समुद्रगुप्त ने ग्रहण की थी। पर

वाकाटक शासन-प्रणाली

हाँ, दोनों ने ही अपनी अपनी ओर से उसमें कुछ सुधार भी किए थे। वाकाटकों की शासन-प्रणाली यह थी कि स्वयं उनके प्रत्यक्ष शासन के अधीन एक बड़ा केंद्रीय राज्य होता था जिसमें दो राजधानियाँ होती थीं। कई उपराज या उप-शासक होते थे जिनका पद वंशानुक्रमिक होता था, और कई स्वतंत्र राज्यों का एक साम्राज्य-संघ होता था। भार-शिव प्रणाली में साम्राज्य का चाभीवाला पत्थर राज्य की मेहराब में बाकी ईंटों के समान ही रहता था, पर वाकाटक-प्रणाली में वह एक महत्त्वपूर्ण अंग हुआ करता था।

§ ८९. वाकाटकों ने अपने संबंधियों के अलग पर अधीनस्थ राजवंश भी स्थापित किए थे। पुराणों के अनुसार प्रवरसेन प्रथम

अधीनस्थ राज्य और साम्राज्य

के चार पुत्र शासक थे। महाराज *श्रीभीम-सेन* का एक चित्रित शिलालेख गिंजा पहाड़ी के एक गुहा-मंदिर में है। यह पहाड़ी इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम ४० मील की दूरी पर है। उस शिलालेख पर ५२ वाँ वर्ष अंकित है। जान पड़ता है कि यह भीमसेन कौशांबी का शासक था और संभवतः प्रवरसेन का पुत्र था[1]। महत्त्व के अधीनस्थ वंशों (यथा गणपति नाग, सुप्रतीकर) और साम्राज्य के सदस्यों (प्रजातंत्रों)

---

1. A. S. R. खंड २१, पृ० ११९. प्लेट ३०, एपिग्राफिया इंडिका, खंड ३, पृ० ३०६, देखो आगे § १०३।

को स्वयं अपने सिक्के चलाने का अधिकार दे दिया जाता था। गुप्त-प्रणाली में आर्यावर्त्त में एकमात्र शासक संबंधी वाकाटक ही थे जो पूरी तरह से स्वतंत्र थे। गुप्त लोग अपने नौकरों को ही शासक बनाकर रखना पसंद करते थे और उन्होंने अपने अधीनस्थों को सिक्के बनाने का अधिकार बिलकुल नहीं दिया था। दोनों ही अपने अधीनस्थ शासकों को "महाराज" उपाधि का प्रयोग करने देते थे और यह बात पुरानी महाक्षत्रपवाली प्रणाली के अनुरूप होती थी; पर हाँ, इस नाम या शब्द का परित्याग कर दिया था। गुप्तों ने तो शाहानुशाही का अनुवाद महाराजाधिराज कर लिया था, पर वाकाटक सम्राट् ने ऐसा नहीं किया था, बल्कि उसने सम्राट् वाली प्राचीन वैदिक उपाधि ही धारण की थी।

धार्मिक मत पवित्र अवशिष्ट

§ ९०. वाकाटक लोग कट्टर शैव थे[१]। उनका यह मत केवल एक पीढ़ी में रुद्रसेन द्वितीय के समय बदला था; और इसका कारण उसकी पत्नी प्रभावती और श्वसुर चंद्रगुप्त द्वितीय का प्रभाव था जो दोनों कट्टर वैष्णव थे। पर जब चंद्रगुप्त का प्रभाव नष्ट हो गया, तब इस वंश ने फिर अपना पुराना शैव मत ग्रहण कर लिया था। वाकाटक काल के जो मंदिर और अवशेष आदि मिलते हैं, वे मुख्यतः योद्धा शिव के

१. वाकाटक शिलालेखों में इसका उल्लेख है और उनके सिक्कों पर नंदी की मूर्ति रहती थी। रुद्रसेन प्रथम के समय तक महाभैरव राज-देवता थे। पृथिवीषेण ने उनका स्थान महेश्वर को दिया था जो माना विष्णु और शिव के मध्य का रूप है। G I. पृ० ,२३६, नचना में महाभैरव हैं (देखो परिशिष्ट क)।

ही हैं, यथा नचना के मंदिर और जासो के भैरव लिंग[1] जो भूमरा और नकटी के (भार-शिव) एक मुख लिंगों से भिन्न हैं, (जिनके चित्र श्री बनर्जी ने Arch Memoirs नं० १६, प्लेट १५ A. S. W. C. सन् १९१९–२०, प्लेट २९ में दिए हैं[2])। कला की दृष्टि से ये सभी लिंग एक ही प्रकार या वर्ग के हैं, चाहे देवता के ध्यान अलग ही क्यों न हों। चाहे इन कलाओं और गुप्त कला में सिद्धांत संबंधी कोई बहुत बड़ा अंतर न हो, पर उद्देश्य और भाव की दृष्टि से ये बिलकुल अलग और स्वतंत्र वर्ग के ही हैं। यद्यपि कनिंघम ने लोगों को सचेत करने के लिये कह दिया है—'यद्यपि यह संभव है कि इस प्रकार के मंदिरों के आरंभिक नमूने गुप्त शासन के कुछ दिन पहले के हों।' (A. S. R खंड ६, पृ० ४२)। तो भी वाकाटकों और गुप्तों के जितने अवशिष्ट मंदिर आदि हैं, वे सभी गुप्तों के समय के ही कहे जाते हैं। परंतु वाकाटकों और गुप्तों के मंदिरों आदि में अंतर संप्रदाय संबंधी है। नाग-वाकाटकों के सब मंदिर शिव-संबंधी या शैव-संप्रदाय के हैं और गुप्तों के मंदिर विष्णु के अथवा वैष्णव-संप्रदाय के हैं। एरन और देवगढ के वैष्णव मंदिरों के जो भग्नावशेष हैं, वे सब गुप्तों के माने जा सकते हैं; और नचना तथा जासो के सब मंदिर और तिगोवा के सब नहीं तो अधिकांश भग्नावशेष निस्संदेह रूप से वाकाटकों के हैं।

---

१. देखो अंत में परिशिष्ट क।

२. खोह के पास नकटी नामक स्थान में एकमुख लिंग। इसका चेहरा यौवन काल का है, जैसा मत्स्यपुराण २५८, ४ के अनुसार होना चाहिए।

१०. परवर्त्ती वाकाटक काल संबंधी परिशिष्ट

(सन् ३४८–५५० ई०)

और वाकाटक संवत् (सन् २४८–४६ ई०)

§ ६१. पृथिवीपेण प्रथम के काल (सन् ३४६–३७५ ई०) और उसकी कुंतल-विजय (लगभग सन् ३६० ई०[1]) का आरंभिक काल से ही अधिक संबंध है। परवर्त्ती वाकाटक का काल रुद्रसेन द्वितीय (लगभग ३७५–३९५ ई०) के समय से आरंभ होता है, और रुद्रसेन द्वितीय के समय मे इसके सिवा और कोई विशेष घटना नही हुई थी कि उसने अपने श्वसुर चद्रगुप्त द्वितीय के प्रभाव मे पड़कर अपना शैव-मत छोडकर वैष्णव-मत ग्रहण कर लिया था। इसके उपरांत उसकी विधवा स्त्री प्रभावती गुप्ता ने अपने अल्प-वयस्क पुत्रो की अभिभाविका के रूप मे लगभग वीस वर्षों तक शासन किया था, और यह काल चंद्रगुप्त द्वितीय के काल के लगभग एक या दो वर्ष बाद तक भी पहुँच सकता है। उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय कुमारगुप्त का सम-कालीन था, और जान पडता है कि मृत्यु के समय उसकी अवस्था कुछ अधिक नहीं थी, क्योंकि प्रवरसेन द्वितीय का पुत्र आठ वर्ष की अवस्था मे सिहासन पर वैठा था। अजंतावाले शिलालेख के अनुसार प्रवरसेन द्वितीय के पुत्र ने "अच्छी तरह

प्रवरसेन द्वितीय और नरेंद्रसेन

---

१. पृथिवीपेण प्रथम ने कगवर्म्मन् कदम्ब को सन् ३६० ई० के लगभग परास्त किया था। देखो आगे तीसरा भाग।

शासन किया" था[1]। यही बात बालाघाटवाले दानपत्रों मे इस प्रकार लिखी है—"उसने पहले की शिक्षा के द्वारा जो विशिष्ट गुण प्राप्त किए थे, उनके कारण उसने अपने वंश की कीर्त्ति की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया था (पूर्वाधिगतगुणविशेपाद्[2] अपहृतवंशश्रियः)। वह आठ वर्ष की अवस्था मे सिंहासन पर बैठा था और अपने यौवराज्य काल मे उसने आवश्यक गुण प्राप्त (अधिगत) किए थे और तब शासन का भार अपने ऊपर (अपनी अभिभाविका से लेकर) ग्रहण किया था।" गुप्त साहित्य मे अपहृत शब्द का इस अर्थ में बहुत प्रयोग हुआ है। यथा—पश्चात्पुत्रैरपहृतभारः (विक्रमोर्वशी, तीसरा अंक) और

---

१. बालाघाटवाले प्लेट वस्तुतः दानपत्र नहीं है, बल्कि दानपत्र का मसौदा है। जब कभी किसी को कोई भूमि दान में दी जाती थी, तब इसी मसौदे के अनुसार सादे ताम्रपटों पर वह मसौदा अंकित कर दिया जाता था। इसीलिये उसमे न तो किसी दान का, न दाता का, न समय का, न रजिस्टरी का [दृष्टम् की तरह] उल्लेख है और न मोहर का कोई चिह्न है। वाकाटक दानपत्रों मे जिस देवगुप्त का उल्लेख है, उनका काल समझने में कीलहार्न ने भूल की थी और फ्लीट का कथन मानकर उसने देवगुप्त को परवर्ती गुप्त काल का समझ लिया था, और इसीलिये उसने इन दानपत्रों को और प्रवरसेन द्वितीय के दूदियावाले दानपत्रों को भूल से आठवीं शताब्दी का मान लिया था। [E. I. ६, २६६, E. I. ३, २६०]। बुहलर ने उनका जो समय निश्चित किया था, वही अंत में ठीक सिद्ध हुआ।

२. कीलहार्न ने इसे पितागतान् पढ़ा था, पर इस पाठ की शुद्धता में उसे सन्देह था। मैं समझता हूँ कि लेखक का अभिप्राय विशेषात्

यहाँ "अपहृत" का यह अर्थ नहीं है कि उसने बलपूर्वक छीन लिया था[1]। अजंतावाले शिलालेख में लिखा है कि प्रवरसेन द्वितीय का पुत्र और उत्तराधिकारी आठ वर्ष की अवस्था मे सिंहासन पर बैठा था, और उस छोटे से बालक के लिये यह संभव ही नहीं था कि वह अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करता और उसका राज्य बलपूर्वक छीन लेता। अजंतावाले शिलालेख मे तो उसका नाम नही दिया है, पर बालाघाटवाले शिलालेख से भी इस बात का समर्थन होता है कि उसने भली भाँति शासन किया था, क्योंकि उसमे कहा गया है कि उसने कोसला, मेकला और मालव के अपने करद और अधीनस्थ शासकों को अपनी आज्ञा मे रखा था। कुंतल के राजा की कन्या अज्झिता के साथ नरेंद्रसेन का जो विवाह हुआ था, उससे हम यह समझ सकते है कि या तो कुंतल पर उसका पूरा प्रभुत्व था और या उसके साथ उसकी गहरी राजनीतिक मित्रता थी। ऊपर जो काल-क्रम बतलाया गया है,

से था। संस्कृत मे गुणविश्वासात् का कोई अर्थ नहीं हो सकता। गुण तो पहले से वर्त्तमान रहना चाहिए, जो यहाँ पूर्व शिक्षा के कारण प्राप्त हो चुका था। यहाँ विश्वास का कोई प्रश्न ही नही उत्पन्न होता। यह अधिगत गुण विश् [शेष] भी वैसा ही है, जैसा हाथीगुम्फावाले शिलालेख की १७ वीं पंक्ति का—'गुणविशेषकुशलो' है। [एपिग्राफिया इंडिका २०, ८०]।

१. कीलहार्न ने जो 'अपहृत' का यह अर्थ किया था कि —'वह अपने वंश की श्री या संपत्ति ले गया' वह ठीक नहीं है। उसने यही समझा था कि उस समय राज्य के उत्तराधिकार के संबंध में कोई झगड़ा हुआ था।

उसके अनुसार नरेंद्रसेन सन् ४३५–४७० ई० के लगभग हुआ था। कुंतल के जिस राजा की कन्या अज्भिता के साथ विवाह करके उसने राजनीतिक मित्रता स्थापित की थी, वह कदंब ककुस्थ था जिसने तलगुंड स्तंभवाले कदंब-शिलालेख के अनुसार (E. I. ८, पृ० ३३. मिलाओ मोरेस (Moraes) कृत Kadama Kula पृ० २६–२७) कई बड़े बडे राजवंशों के साथ, जिनमे गुप्तों का वंश भी था, विवाह-संबंध स्थापित किया था। यह राजा कदंब शक्ति की चरम सीमा तक पहुँच गया था (लगभग ४३० ई०)। ककुस्थ ने अपने युवराज रहने की दशा मे और अपने भाई के शासन-काल मे गुप्त संवत् का व्यवहार किया था (§ १२८ पाद-टिप्पणी)। इस विवाह-संबंध के कारण उसकी मर्यादा बढ़ गई थी। गुप्तों के साथ विवाह-संबंध हो जाने के कारण कदंब और वाकाटक लोग बहुत कुछ स्वतंत्र हो गए थे। या तो कुमारगुप्त प्रथम के शासन के कारण और या उसके शासन-काल मे नरेंद्रसेन की स्थिति अपने करद और अधीनस्थ राजाओं और पड़ोसियों के मुकाबिले मे अवश्य ही बहुत दृढ़ हो गई होगी, क्योंकि कदंबों के साथ उसका जो वंशानुगत झगड़ा चला आता था, उसका उसने इस प्रकार अंत कर दिया था।

§ ९२. सन् ४५५ ई० के लगभग नरेंद्रसेन का समय बहुत ही अधिक विपत्ति में बीता था। वह समय स्वयं उसके लिये भी कष्टप्रद था और उसके मामा गुप्त सम्राट्

नरेंद्रसेन के कष्ट के दिन

कुमारगुप्त के लिये भी। शक्तिशाली पुष्यमित्र प्रजातंत्रों ने, जिनके साथ पटुमित्रों और पद्ममित्रों के प्रजातंत्र भी सम्मिलित थे, गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया था। पहले उक्त तीनों प्रजातंत्र वाकाटकों के

अधीन थे और मांधाता के पास कहीं पश्चिमी मालवा में थे। ठीक उसी समय एक और नई विपत्ति उठ खड़ी हुई थी; और जान पड़ता है कि इस नई विपत्ति का संबंध भी उसी विद्रोहवाले आंदोलन और स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयत्न के साथ था। यह प्रयत्न त्रैकूटकों की ओर से हुआ था, और यह एक नया वंश था जो इस नाम से दह्रसेन ने स्थापित किया था[1]। यह दह्रसेन त्रैकूटक अपरांत[2] का रहनेवाला था जो पश्चिमी खांदेश को ताप्ती नदी और बंबई से ऊपरवाले समुद्र के बीच में था। अपने पुराने स्वामी या सम्राट् वाकाटकों की तरह दह्रसेन ने भी अपने वंश का नाम अपने निवास स्थान के नाम पर 'त्रैकूटक' रखा था; और यद्यपि उसका पिता एक सामान्य व्यक्ति था और उसका नाम इंद्रदत्त था, तो भी दह्रसेन ने अपने नाम के साथ 'सेन' शब्द जोड़ा था और उसके वंशजों ने भी उसी का अनुकरण किया था। बिना कोई विजय प्राप्त किए और पहले से ही उसने अश्वमेध यज्ञ भी कर डाला और अपने नाम के सिक्के भी बनवाने आरंभ कर दिए। पर वह जल्दी ही फिर नरेंद्रसेन की अधीनता में आ गया था, क्योंकि सन् ४५६ ई० में वह वाकाटक संवत् का प्रयोग करता हुआ पाया जाता है (§§१०२, १०६)। पुष्यमित्र लोग सन् ४५६ ई० से पहले साम्राज्य-शक्ति के द्वारा

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १०, पृ० ५१।

२. रघुवंश ४. ५८, ५९ रैप्सन कृत C A. D. पृ० १५६। साथ ही देखो दह्रसेन के पुत्र व्याघ्रसेन का सन् ४९० ई० वाला शिलालेख, एपिग्राफिया इंडिका, खंड ११, पृ० २१९, जहाँ ये लोग अपरांत के शासक बतलाए गए हैं।

परास्त हुए थे। नरेंद्रसेन को अपने श्वसुर के राज्य की सहायता भी मिलती थी जो कोंकण अपरांत के बगल में ही था, और उस समय या तो ककुस्थ के अधीन था और या उसके पुत्र शांतिवर्म्मन के अधीन था और शांतिवर्म्मन भी बहुत शक्तिशाली राजा था[1]।

§ ९३. जान पड़ता है कि नरेंद्रसेन के दो पुत्र थे। बड़ा लड़का पृथिवीषेण द्वितीय था जो उसका उत्तराधिकारी हुआ था और उसके उपरांत देवसेन सिंहासन पर बैठा था, और जब देवसेन ने सिंहासन का परित्याग कर दिया, तब उसका लड़का हरिषेण राज्याधिकारी हुआ था। देवसेन अपने राज्य संबंधी कर्त्तव्यों का पालन करने की अपेक्षा सुख और आनंद-मंगल में ही अपना समय व्यतीत करना अधिक पसंद करता था। जब गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, तब पृथिवीषेण द्वितीय ने अपने वंश को गिरी हुई दशा से ऊपर उठाने का प्रयत्न करना आवश्यक समझा, और इस प्रयत्न में उसे सफलता भी हुई, क्योंकि हम देखते हैं कि उसके बादवाले राजा के अधिकार में सारा वाकाटक साम्राज्य आ गया था जिसमें कुंतल, त्रिकूट और लाट देश भी सम्मिलित थे। पृथिवीषेण द्वितीय (सन् ४७०-४८५ ई०) के शासन-काल में ऊपर बतलाए हुए काल क्रम के अनुसार कठिन विपत्ति का समय वही था, जब कि सन् ४७० ई० के लगभग हूणों का दूसरा आक्रमण हुआ था। गुप्तों के वंश के साथ साथ उनके वंश का भी पतन हुआ है।

पृथिवीषेण द्वितीय और देवसेन

1 देखो Kadamba Kula पृ० २२।

होगा। अतः अपने वंश का फिर से उद्धार करने के लिये पृथिवीषेण द्वितीय को बहुत अधिक श्रेय मिलना चाहिए। प्रायः बीस वर्ष के अंदर ही, जब कि हूणों की शक्ति बनी ही हुई थी, वाकाटकों ने अपने राज्य की सीमा उनके राज्य के साथ जा मिलाई थी और पहले की अपेक्षा और भी अधिक शक्तिशाली हो गए थे; और कुंतल, अवंती, कलिंग, कोसला, त्रिकूट,[1] लाट और आंध्र देश, जो दक्षिण भारत के वाकाटक साम्राज्य में थे, तथा मध्य प्रदेश और कोंकण तथा गुजरात तक पश्चिमी भारत का अंश उनके अधीन हो गया था। उसी समय वलभी में एक मैत्रक सेनापति ने एक नये राजवंश की स्थापना की थी और सुराष्ट्र के पासवाले प्रदेश पर उसका अधिकार था। जान पड़ता है कि मैत्रक लोग गुप्तों के सेनापति थे, क्योंकि वे गुप्त संवत् का व्यवहार करते थे और संभवतः उनका उत्थान पुष्यमित्र आदि मित्र प्रजातंत्रों में से हुआ था। वे पड़ोसी वाकाटक साम्राज्य के अधीनस्थ और करद रहे होंगे। इस प्रकार सन् ४७०-५२० ई० में वाकाटक लोग मध्यप्रदेश और पश्चिमी भारत को हूणों के आक्रमण से पूरी तरह से बचाते रहते थे।

§ ६४. गुप्त साम्राज्य का अंत होने पर वाकाटक वंश के भाग्य ने पलटा खाया। जिस समय गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था, उस समय पृथिवीषेण द्वितीय ने अपने वंश का बिखरा हुआ वैभव फिर से एकत्र किया। देवसेन के पुत्र हरिषेण ने समस्त वाकाटक साम्राज्य पाया, जिसमें स्वयं उसके निजी

हरिषेण

---

१. उस समय अपरांत (त्रिकूट) का राजा व्याघ्रसेन था (एपिग्राफिआ इंडिका, खंड ११, पृ० २१६) जिसे हम वाकाटक संवत् का प्रयोग करते हुए पाते हैं। (देखो आगे § १०२ की पाद-टिप्पणी)।

प्रदेश भी थे और अधीनस्थ तथा करद राजाओं के राज्य भी। उसने बहुत अधिक वीरता और कार्य-कुशलता दिखलाई और वाकाटक साम्राज्य की फिर से स्थापना की। स्कंदगुप्त की मृत्यु के बाद से ही वाकाटक लोग पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गए। जान पड़ता है कि उस समय उन लोगों ने फिर से अपना साम्राज्य स्थापित करने की अच्छी योग्यता का परिचय दिया था; और जिस समय भारतीय साम्राज्य में विद्रोह मचा हुआ था और अनेक राजनीतिक परिवर्त्तन हो रहे थे, उस समय वे लोग दृढतापूर्वक जमे रहे और बराबर अपना बल बढ़ाते गए। नरेन्द्रसेन, पृथिवीषेण द्वितीय और हरिषेण ये तीनों ही राजा बहुत ही योग्य और सफल शासक थे। हरिषेण के शासन का अंत सन् ५२० ई० के लगभग हुआ था। इसके बाद का वाकाटकों का इतिहास नष्ट हो गया है।

दूसरे वाकाटक साम्राज्य का विस्तार

§ ९५. सन् ५०० ई० के लगभग हरिषेण को अपने वंश के कुछ पुराने करद और अधीनस्थ राज्यों को फिर से अपने वश में करना पड़ा था जिनमें त्रैकूट भी सम्मिलित थे। यह बात अजंतावाले शिलालेख से और त्रैकूटकों के शिलालेखों से प्रकट होती है। सन् ४५५ ई० में—अर्थात् जब कि पुष्यमित्रों का स्कंदगुप्त के साथ युद्ध हुआ था—त्रैकूटक दह्रसेन ने एक बार अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी, परन्तु-सेन ने उसे फिर से अपने अधीन कर लिया था, (देखो § ९२)। पर हमें पता चलता है कि उसके पुत्र व्याघ्रसेन ने सन् ४९० ई० के लगभग फिर से अपने सिक्के चलाने आरंभ कर दिए थे; और इसी के उपरांत वंश का लोप हो गया; और यह बात हरिषेण के

शासन-काल मे हुई थी। सन् ४६४ ई० के बाद उनके वंश का कोई चिह्न नहीं पाया जाता[1]। यहाँ यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि त्रैकूटक लोग, जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेगे, वाकाटक संवत का व्यवहार करते थे। जान पड़ता है कि यह करद राजवंश हरिषेण के शासन-काल मे ही अथवा उसके कुछ बाद सदा के लिये मिटा दिया गया था।

§ ९६. कोंकण पर, जिसके अंतर्गत त्रिकूट था, वाकाटको का कितना प्रबल प्रभुत्व था, इसका पता एक शिलालेख से चलता है जो रायल एशियाटिक सोसाइटी के जनरल, खंड ४, पृ० २८२ मे प्रकाशित हुआ है, और जिसमे एक गढ़ का उल्लेख है। इस गढ़ का नाम वाकाटकों के राजनीतिक निवास-स्थान किलकिला के अनुकरण पर किलगिला बतलाया गया है जो उस शिलालेख के खोदे जाने के समय (सन् १०५८ ई०) कोंकण की राजधानी था। बरार और खांदेश के वाकाटक प्रांत के पश्चिमी सिरे पर त्रिकूट अवस्थित था। हरिषेण ने कुंतल और अवन्ती सहित लाट देश को अपने अधीन किया था और ये दोनों प्रदेश अपरांत के दोनों सिरों पर थे। कलिंग, कोसल और आंध्र के हाथ मे आ जाने से वाकाटक साम्राज्य त्रिकूट और पश्चिमी समुद्र से लेकर पूर्वी समुद्र तक हो गया था। ये सब प्रदेश पहले भी वाकाटक साम्राज्य के अंतर्गत रह चुके थे। लाटदेश वाकाटक राज्य के

---

१. व्याघ्रसेन के परदीवाले दानपत्र २४१ वें वर्ष (सन् ४८९-४९० ई०) के हैं और कन्हेरीवाले दानपत्र २४५ वे वर्ष के हैं। (एपिग्राफिया इंडिका, ११, पृ० २१९) Cave Temples of. W. I. पृ० ५८।

पड़ोस में भी था और आभीरों का पुराना निवास-स्थान था। अवंती पुष्यमित्र-वर्ग के अधीन रह चुकी थी। नरेंद्रसेन के समय वह मालव के अंतर्गत मानी जाती थी। प्रवरसेन द्वितीय या प्रभावती गुप्ता के समय कदाचित् गुप्तों ने इसे वाकाटकों को फिर लौटा दिया था। स्कंदगुप्त ने पुष्यमित्र-युद्ध के उपरांत ही सुराष्ट्र में अपनी ओर से एक शासक नियुक्त कर दिया था; और यदि उस समय तक आभीरों और पुष्यमित्रों का पूर्णरूप से लोप नहीं हो गया था, तो उस समय उनका लोप अवश्य ही हो गया होगा जब हरिषेण ने लाट देश को अपने अधीन किया था। वाकाटक साम्राज्य में जो लाट देश आ मिला था, उसका कारण यही था कि गुप्त साम्राज्य का पतन हो गया था।

परवर्ती वाकाटकों की संपन्नता और कला

§ ९७. दूसरा वाकाटक साम्राज्य इतना अधिक धन-संपन्न था कि हरिषेण के मंत्री ने भी अजंता में एक बहुत सुंदर चैत्य बनवाया, जो बहुत सुंदर चित्रों से सजा था। यह अजंता की गुफा नं० १६ है और बहुत ही सुसज्जित है। इसके बनानेवाले ने उचित गर्वपूर्वक कहा है—

'इसमें खिड़कियाँ, घुमावदार सीढ़ियाँ, सुंदर बालाखाने, मंजिलें और इंद्र की अप्सराओं की मूर्त्तियाँ, सुंदर खंभे और सीढ़ियाँ आदि हैं। यह एक सुंदर चैत्य है।"

इसी राजमंत्री के वंश के एक और व्यक्ति ने गुफा नं० १२ बनवाई थी, जो घटोत्कच गुफा कहलाती है और जिसमें एक स्थान पर बनानेवाले ने अपने वंश का इतिहास भी अंकित करा दिया है। यह वंश वत्सगोत्र के ब्राह्मणों

का था और इस वंश के लोग ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों वर्णों की स्त्रियों के साथ विवाह करते थे। जिस समय वाकाटक देवसेन शासन करता था [वाकाटक के राजति देवसेने] उस समय उसका मंत्री हस्तिभोज था। परवर्त्ती वाकाटक साम्राज्य की संपन्नता का और अधिक पता उस शिलालेख से चलता है जो गुहा-मंदिर नं० १७ मे है। इसे राजा हरिषेण के शासन-काल मे उसके एक वाकाटक अधीनस्थ राजा ने विहार के रूप में बनवाया था। उसका वंश नौ पीढ़ियों से चला आ रहा था और जान पड़ता है कि उसका उदय प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल मे हुआ था। जैसा कि इस वंश के लोगों के नाम से सूचित होता है, यह वंश गुजरात का था। उन लोगों ने इस विहार को अभिमानपूर्वक 'भिक्षुओ के राजा का चैत्य" कहा है और इसे "एक ही पत्थर मे से काटकर बनाए हुए मडपो मे रत्न" कहा है। इसमे बनवानेवाले ने एक नयनाभिराम भंडार भी रखा था। ये सब लोग सौंदर्य-विज्ञान के बहुत अच्छे ज्ञाता थे और इनकी कला बहुत ही उच्च कोटि की थी। इसमे कहीं एक ही तरह के दो खंभे नहीं है। हर एक खंभा बिलकुल अलग और नए ढङ्ग से बनाया गया है। गुहा नं० १३ मे[1] दीवारो पर

---

१. डा० विंसेंट स्मिथ ने इसी पालिश के कारण गुफा नं० १३ को ईसा से पहले की गुफा माना था। (History of Fine Art in India & Ceylon, पृ० २७५)। पर वास्तव में मौर्यों की पालिश करने की कला तब तक लोग भूले नहीं थे। शुंगो और सातवाहनों के समय में उसका परित्याग या तिरस्कार कर दिया गया था और वाकाटक-गुप्त-काल में उसका फिर से उद्धार हुआ था। उदयगिरि की चन्द्रगुप्त गुहा की मूर्त्तियों पर और खजुराहो की भी कई मूर्तियों पर मैंने स्वयं वह पालिश देखी है। इस प्रकार की पालिश

§ ९९. वाकाटक प्रदेश मानो उत्तर और दक्षिण का मिलन-स्थान था। वाकाटक राजमंत्री हस्तिभोज और उसके परिवार के लोग दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। और स्वयं पल्लव लोग भी वाकाटकों की एक शाखा ही थे, इसलिये इन दोनों राज्यों में स्वभावतः परस्पर आदान-प्रदान और गमनागमन होता रहा होगा। वाकाटक गुहा-मंदिरों में जो बीच बीच में पल्लव ढंग की मूर्तियाँ आदि देखने में आती हैं, उसका कारण यही है। इसके अतिरिक्त कुछ मूर्तियों में जो द्रविड़ शैली की अनेक बातें पाई जाती हैं, उसका कारण भी यही है।

§ १००. यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमें केवल तीन गुफाओं का लिखित इतिहास मिलता है। पर हम बिना किसी प्रकार की आपत्ति के कह सकते हैं कि जो गुफाएँ गुप्तों की कही और समझी जाती हैं, वे सब वाकाटकों की मानी जानी चाहिएँ, क्योंकि गुप्तों का प्रत्यक्ष शासन कभी अजंता तक नहीं पहुँचा था और अजंता का स्थान बराबर वाकाटकों के अधिकार में ही था।

§ १०० क. परवर्त्ती वाकाटक लोग यद्यपि स्वयं बौद्ध नहीं थे, पर फिर भी धर्म संबंधी बातों में उन्होंने अपनी प्रजा को पूरी स्वतंत्रता दे रखी थी, और उनकी प्रजा में से जो लोग बौद्ध धर्म पालन करना चाहते थे, वे सहर्ष ऐसा कर सकते थे।

वाकाटक घुड़सवार

§ १०१. जान पड़ता है कि वाकाटकों के पास घुड़सवार सेना बहुत प्रबल थी, और अजंतावाले शिलालेख में जहाँ विंध्यशक्ति के सैनिक बल का उल्लेख है, वहाँ इस बात की भी चर्चा है। जान पड़ता है कि वाकाटकों की सैनिक शक्ति इन

घुड़-सवारों के कारण ही इतनी बढ़ी-चढ़ी थी। और फिर विंध्य पर्वतों में वही शक्ति अच्छी तरह लड़-भिड़ और ठहर सकती है जिसके पास यथेष्ट और अच्छे घुड़-सवार हों। बुँदेले घुड़-सवार तो परवर्ती इतिहास में प्रसिद्ध हुए थे। बुंदेलखंड के घुड़-सवारों की प्रसिद्धि संभवतः बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है।

§ १०१ क. चालुक्यों ने ही वाकाटकों का अंत किया होगा। पुलकेशिन् प्रथम ने वातापी (बीजापुर जिला[1]) सन् ५५० ई० के लगभग अश्वमेध यज्ञ किया था। और

वाकाटकों का अंत, यह मान लेना चाहिए कि उसी समय से लगभग सन् ५५० ई० वाकाटकों का अंत हुआ था। गंगा और यमुना के राजकीय चिह्न इसी समय

वाकाटकों से चालुक्यों ने लिए होंगे (§ ८६); और आगे चलकर चालुक्यों में इनका इतना अधिक प्रचार हो गया कि वे उन्हें स्वभावतः अपने पैतृक राजचिह्न समझने लग गए और यह मानने लग गए कि हमारे ये चिह्न हमारे वंश की स्थापना के समय से ही चले आ रहे हैं[2]। हरिषेण की अधीनता में या तो जयसिंह और या रणराग (पुलकेशिन् प्रथम का या तो दादा और या पिता) था। इस बात का उल्लेख मिलता है कि हरिषेण ने उन शासकों को अपने अधीन या अपनी आज्ञा में (...स्वनिर्देश ..) किया था जो पहले वाकाटकों के अधीनस्थ और करद थे; और

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० १.

२. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ३५२-५३। S. I. I. १. ५८, (चेल्लूर का दानपत्र)।

यह बात उस समय की है जब हरिषेण ने आंध्र को अपने राज्य में मिलाया था। यथा—

हरि-राम-हरस्मरेंद्रकांति-
र्हरिषेणो हरिविक्रमप्रापः (१७)
स-कुंतलावतीकलिंगकोसल······
त्रिकूटलाट=आंध्र........
..... पि स्वनिर्देश .... (१८)

A. S. W. I. ४. १२५.

जान पड़ता है कि चालुक्यों के नए वंश का उत्थान बरार के बहुत समीप आंध्र देश में हुआ था। पुलकेशिन् के पुत्र कीर्त्ति-वर्म्मन् ने कदवों पर विजय प्राप्त की थी और अपरांत के छोटे छोटे शासकों पर विजय प्राप्त की थी और मंगलेश ने काटच्छु-रियों को जीता था, और जान पड़ता है कि इससे पहले ही वाकाटकों का लोप हो गया था। इसलिये हम कह सकते हैं कि पुलकेशिन् प्रथम के अश्वमेध के साथ ही साथ वाकाटकों का भी अंत हो गया होगा। ऐहोलवाले शिलालेख में जो राजा जयसिंह वल्लभ चालुक्यवंश का संस्थापक कहा गया है (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० १४) न तो उसी की किसी विजय का उल्लेख मिलता है और न उसके पुत्र रणराग की किसी विजय का ही वर्णन पाया जाता है। पहले जिन प्रदेशों पर वाकाटकों का साम्राज्य था (लाट, मालव, गुर्जर, महाराष्ट्र, कलिंग आदि) उन्हीं पर पुलकेशिन् प्रथम के उपरांत उसके पुत्रों और पौत्रों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था; और इसका मतलब यही है कि वे लोग काकाटकों के राजनीतिक उत्तराधिकारी थे और इसी हैसियत से अपना दावा भी करते थे। पल्लवों के साथ

उनका जो संघर्ष और स्थायी शत्रुता हुई थी, उसका कारण भी यही था, क्योंकि पल्लवों का वाकाटकों के साथ रक्त-संबंध था—वे वाकाटकों की एक छोटी शाखा ही थे राजा जयसिंह वल्लभ के वर्णन (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ४, श्लोक ५) से सूचित होता है कि जयसिंह पहले की सरकार अर्थात् वाकाटकों के शासन-काल का एक वल्लभ या माल के महकमे का कर्मचारी था। जान पड़ता है कि हरिषेण के उपरांत उसके किसी उत्तराधिकारी के शासन-काल में और संभवतः उसके किसी पौत्र के शासन-काल में पुलकेशिन् प्रथम वाकाटकों के क्षेत्र में आ पहुँचा था और उनके साम्राज्य का वैभव तथा पद पाने का दावा करने लगा था। उनके शिलालेखों में वाकाटकों का कोई उल्लेख नहीं है।

सन् २४८ ई० वाला संवत्

§ १०२. हमें तीन तिथियों का उल्लेख मिलता है जिनमें से दो तो अवश्य ही वाकाटकों की हैं और तीसरी भी वाकाटकों की ही जान पड़ती है। प्रवरसेन प्रथम के सिक्के पर ७६ वाँ वर्ष अंकित है (§ ३०)। रुद्रसेन के सिक्के पर १०० वाँ वर्ष अंकित है (§ ६१)। ये दोनों संवत निस्संदेह रूप से वाकाटकों के ही हैं। इसके सिवा महाराज भीमसेन का शिलालेख है जिस पर ५२ वाँ वर्ष अंकित है (§ ८९)। प्रवरसेन प्रथम ने स्वयं साठ वर्षों तक राज्य किया था। अतः उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के सिक्कों पर जो संवत् मिलते हैं, उनकी गणना का आरंभ पहलेवाले शासक के समय से अर्थात् प्रवरसेन

वाकाटक सिक्कों पर के संवत्

प्रथम के पिता के राज्याभिषेक के समय से हुआ होगा; और गुप्तों का जो काल-क्रम हमें ज्ञात है और उसके साथ वाकाटकों के काल-क्रम का जो मेल मिलता है, उसके अनुसार हम कह सकते है कि प्रवरसेन प्रथम के पिता का राज्याभिषेक तीसरी शताब्दी के मध्य में हुआ होगा। ऊपर हमने जो काल क्रम बतलाया है, उससे पता चलता है कि वाकाटकों का उदय सन् २४८-२४६ में हुआ था। प्रवरसेन प्रथम ने तो अवश्य ही इस संवत् का व्यवहार किया था, और अब यदि हमें बाद की शताब्दियों में भी वाकाटक साम्राज्य के किसी भाग में इस संवत् का उपयोग होता हुआ मिल जाय तो हम कह सकते हैं कि यह वही चेदि संवत् था जिसे कुछ लेखकों ने भूल से त्रैकूट संवत् कहा है।

§ १०२. महाराज श्री भीमसेन के गिंजावाले शिलालेख का पता जनरल कनिंघम ने लगाया था; और उसके संबंध में उन्होंने यह भी लिखा था कि इस शिलालेख की लिपि आरंभिक गुप्त ढंग की है, पर इसका आरंभ उसी प्रसिद्ध शैली से हुआ है जो इंडो-सीदियन या भारतीय-शक शिलालेखों में पाई जाती है[1]।

गिंजावाला शिलालेख

जनरल कनिंघम ने इस शिलालेख को गुप्तों से पहले का बतलाया था। इसमें संदेह नहीं कि इसकी शैली भी वही है जो मथुरा में मिले हुए कुशन शिलालेखों की है। उसमें लिखा है—

महाराजस्य श्री भीमसेनस्य संवत्सरे

---

१ A. S. R खंड २१, पृ० ११६, प्लेट ३० और एपिग्राफिया इंडिका, खंड ३, पृ० ३०२, और पृ० ३०८ के सामनेवाला प्लेट।

५०. २ ग्रीष्मपक्षे ४ दिवसे १०. २ (आदि)[1]।

इसमे के नाम भीमसेन, संवत् लिखने के ढंग और अक्षरों के आरभिक रूप से हमें यही कहना पड़ता है कि भीमसेन का शिलालेख उसी संवत् का है जो संवत् वाकाटक सिक्कों पर व्यवहृत हुआ है। ईसवी संवत् के साथ उसका मिलान इस प्रकार होगा—

संवत्	५२=सन्	३०० ई०
,,	७६=सन्	३२४ ई०
,,	१००=सन्	३४८ ई०

इनमे से अंतिम संवत् या वर्ष को छोड़कर बाकी दोनो संवत् या वर्ष प्रवरसेन प्रथम के ही शासन-काल मे पड़ते है।

गुप्त संवत् और वाकाटक

§ १०४. इस प्रश्न से संबंध रखनेवाली प्रवरसेन प्रथम के बाद के समय की एक मुख्य और निश्चित बात यह है कि, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, वाकाटकों ने भी कभी गुप्त संवत् का व्यवहार नहीं किया। यहाँ तक कि जिस समय प्रभावती गुप्ता अभिभाविका के रूप मे शासन करती थी, उस समय भी उसने संवत् का व्यवहार नहीं किया था।

---

१. इस चित्रित शिलालेख का पाठ मैंने एपिग्राफिया इंडिका से लेकर दिया है जो कनिंघम की लीथो में छपी हुई प्रतिलिपि से अच्छा है। मैंने केवल आवश्यक अंश उद्धृत किया है।

§ १०५. डा० फ्लीट ने यह बात मान ली है कि बुंदेलखंड के पास ही एक ऐसे संवत् का प्रचार था जिसका आरंभ सन् २४८ ई० में हुआ था[1]। गुप्त-काल के दो राजाओं ने अपने समय का उल्लेख किया है। उनमें से एक ने तो उसके साथ गुप्त संवत् का नाम भी लिखा है, पर दूसरे ने जो संवत् दिया है, उसका नाम नहीं दिया है। परिव्राजक महाराज हस्तिन् ने अपने लेखों में गुप्त संवत् १५६, १६३ और १९१ का उल्लेख किया है, परंतु उसके सम-कालीन उच्चकल्प के महाराज शर्वनाथ ने, जिसके साथ महाराज हस्तिन् ने नौगढ़ रियासत के भूमरा नामक स्थान में सीमा निश्चित करने का एक स्तंभ स्थापित किया था, अपने लेखों में एक ऐसे संवत् के १९३, १९७ और २१४ वें वर्ष का उल्लेख किया है जिसका नाम उसने नहीं दिया है। सीमावाले स्तंभों पर इन दोनों शासकों ने इनमें से किसी संवत् का उल्लेख नहीं किया है, बल्कि महामाघ नाम का एक अलग ही संवत्सर दिया है। डा० फ्लीट का कथन है कि यदि शर्वनाथ के दिए हुए वर्षों को हम उसी संवत् का मान लें जिसका आरंभ सन् २४८-२४९ ई० में हुआ था, तो हमें शर्वनाथ के लिये सन् ४६२-६३ ई० और हस्तिन् के लिये सन् ४७५ ई० मिलता है। डा० फ्लीट ने सन् १९०५ में (रायल एशियाटिक सोसायटी का जरनल, पृ० ५६६) अपने इस मत का परित्याग कर दिया था और कहा था कि ये दोनों ही वर्ष गुप्त संवत् के हैं; और इसका कारण उन्होंने यह बतलाया था कि सन् २४८ वाले संवत् का बुंदेलखंड या बघेलखंड

सन् २४८ ई० वाले संवत् का क्षेत्र

---

१ इंडियन एंटीक्वेरी, खंड १९, पृ० २२७।

मे अथवा उसके आस-पास प्रचार नहीं था और सन् ४५६ या ४५७ ई० मे पश्चिमी भारत मे उसका प्रचार था और त्रैकूटक राजा दह्लसेन ने उसका प्रयोग किया था। पर साथ ही डा० फ्लीट ने यह बात भी मान ली थी कि इस संवत् का आरंभ त्रैकूटको से नहीं हो सकता। इस संबंध मे उन्होने लिखा था—

"पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि यह संवत् त्रैकूट संवत् था, और इस बात का तो और भी कोई प्रमाण नहीं है कि यह संवत् स्थापित किया गया था।"

प्रो० रैप्सन का भी यही मत है[1]। किसी किसी ने बारहवीं शताब्दी मे कलचुरियों के साथ भी इस संवत् का संबंध स्थापित किया है; पर इस मत को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता; और इसका एक सीधा-सादा कारण यही है कि इतिहास मे कहीं इस बात की कोई गुंजाइश ही नहीं है कि कलचुरियों ने सन् २४८ ई० मे चेदि देश मे अथवा और कहीं कोई संवत् चलाया होगा। फ्लीट ने सकोचपूर्वक कहा था कि इस संवत् का प्रचार करनेवाला आभीर राजा ईश्वरसेन हो सकता है जिसने सातवाहन शक्ति पर प्रबल आघात किया था। फ्लीट ने यह भी बतलाया था कि इस संवत् का किसी न किसी प्रकार सातवाहनों के पतन के साथ संबंध है जो सन् २४८ ई० मे हुआ था। इस पर प्रो० रैप्सन ने कहा था—

"परंतु नवीन संवत् का प्रचार किसी नवीन शक्ति की सफल स्थापना का सूचक समझा जाना चाहिए, न कि आंध्रो के प्राथमिक प्रारंभ अथवा पतन का सूचक होना चाहिए।'

---

१. Coins of Andhra Dynasty. पृ० १६२।

और प्रो० रैप्सन ने इस बात परभी जोर दिया था कि आभीरों और त्रैकूटों का संबंध स्थापित करना और उन्हें एक ही राजवंश का सिद्ध करना असंभव है; बल्कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे लोग एक ही जाति के थे, क्योंकि इस बात का कहीं कोई प्रमाण ही नहीं मिलता। इसके सिवा आभीर लोग जो पश्चिमी शकों के विरुद्ध उठे थे, उनका समय सन् २४८ ई० से बहुत पहले अर्थात् सन् १८८-१९० के लगभग था[1]।

§ १०६. त्रैकूटक लोग वाकाटकों के करद और अधीनस्थ थे और उन्होंने भी उसी संवत् का प्रयोग किया था, जिस संवत् का प्रयोग प्रवरसेन प्रथम ने किया था; और इससे यही सूचित होता है कि वे वाकाटकों के अधीनस्थ थे। त्रैकूटक राजा अपने नाम के साथ महाराज की पदवी लगाते थे जो करद और अधीनस्थ राजाओं की उपाधि थी। वाकाटक साम्राज्य के पश्चिमी भाग में इस संवत् का जो प्रचार मिलता है, उससे यही सूचित होता है कि इसका प्रचार वाकाटकों के करद और अधीनस्थ राजाओं में था। प्रभावती गुप्ता के समय से लेकर प्रवरसेन द्वितीय के समय तक के अलग अलग राजाओं ने अपने शासन-काल के वर्षों का जो प्रयोग किया है, वह एक ऐसे समय में किया था, जब कि वाकाटकों के राज-दरबार में गुप्तों का प्रभाव अपनी चरम सीमा तक पहुँचा हुआ था।

§ १०७. डा० फ्लीट को इस संबंध में केवल यही आपत्ति थी कि त्रिकूट का, जहाँ ईसवी पाँचवीं शताब्दी में इस संवत् का

---

१. विंसेंट स्मिथ कृत Early History of India, पृ० २२६ पाद-टिप्पणी, जिसमें डा० डी० आर० भांडारकर का मत उद्धृत है।

प्रचार पाया जाता है, चेदि (बुंदेलखंड और बघेलखंड) के साथ, जिससे सन् २४८ ई० वाला सब संबद्ध है, कोई संबंध देखने मे नहीं आता। पर वाकाटकों के जिस इतिहास का पता चला है, उसे देखते हुए यह आपत्ति भी दूर हो जाती है। हम देखते हैं कि प्रवरसेन प्रथम के समय मे चेदि देश में यह संवत् प्रचलित था। पहले फ्लीट का मत था कि शर्वनाथ के वर्ष सन् २४८ ई० वाले संवत् के हैं; और यही मत ठीक जान पड़ता है। इस बात मे जरा भी संदेह नहीं है कि महाराज हस्तिन् गुप्तो का अधीनस्थ था; और इसीलिये इस बात की आवश्यकता हुई थी कि वाकाटक साम्राज्य के अंतर्गत महाराज शर्वनाथ के राज्य और गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत हस्तिन् के राज्य के बीच मे सीमा निश्चित करनेवाला स्तंभ स्थापित किया जाय। शर्वनाथ और हस्तिन् दोनों ही अधीनस्थ तथा करद राजा थे और हस्तिन् निश्चित रूप से गुप्तों का अधीनस्थ और करद था। इसलिये शर्वनाथ वाकाटकों का ही करद और अधीनस्थ हो सकता था, जिसकी राजधानी अथवा नचना नगर उच्चकल्प या उचहरा (नागौद रियासत) से कुछ ही मीलों की दूरी पर था।

§ १०८. दो बातें ऐसी हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सन् २४८ ई० वाला संवत वाकाटक संवत् था। पुराणों मे सातवाहनों के पतन के वर्णन के उपरांत कहा गया है कि सातवाहनों के उपरांत उनके साम्राज्य पर अधिकार करनेवाला विंध्यशक्ति था। अतः जब एक नई शक्ति का उत्थान होगा, तब तुरंत ही अथवा उसके कुछ बाद अवश्य ही एक नए संवत का प्रचार होगा; और गुप्त संवत् समुद्रगुप्त के शासन-काल के अंतिम दिनों में अथवा चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में प्रचलित हुआ था। समुद्रगुप्त

के जो नकली ताम्रलेख है और जो गया तथा नालंदा के ताम्रलेख कहलाते हैं और जो असली ताम्रलेखों की नकल है और उन्हे देखकर बनाए गए हैं उन पर शासन-काल या राज्यारोहण के वर्ष दिए गए हैं। इस संबंध मे ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि प्रवरसेन प्रथम ही सम्राट् हुआ था और उससे पहले के सम्राटों अर्थात् कुशन सम्राटों का एक स्वतंत्र संवत् था। उन दिनों एक नये साम्राज्य की स्थापना का एक मुख्य लक्षण यह भी हो गया था कि एक नया संवत् चलाया जाय। समुद्रगुप्त ने भी ऐसा ही किया था और उसने भी प्रवरसेन की तरह अपने पिता के राज्याभिषेक के समय से संवत् चलाया था। यह स्पष्ट है कि उसने भी वाकाटकों का ही अनुकरण किया था और उसका उदाहरण हमे एक प्रतिकारी कार्य की भाँति सहायता देता है।

इसलिये सन् २४८-४९ वाले संवत् को, जिसका आरंभ ५ सितंबर सन् २४८ ई० को हुआ था[1], हम चेदि का वाकाटक संवत् कहेंगे।[2]



---

१ कीलहार्न, एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० १२९।

२. उच्चकल्प के महाराज जयनाथ के वर्ष यदि सन् २४८ ई० वाले संवत् के मान लिए जायँ तो उसके कारी-तलाईवाले ताम्रलेख, जिन पर संवत् १७४ दिया है, सन् ४२२ ई० के ठहरते हैं, और यदि हम बीच में ४५ वर्ष या इसके लगभग का अंतर मान लें तो जयनाथ का पिता व्याघ्र पृथ्वीषेण प्रथम के समय मे नवयुवक रहा होगा और उसने अपने

राजा की राजधानी में अवश्य कुछ दान-पुण्य किया होगा, और उस दशा में यह वही व्याघ्रदेव हो सकता है जिसके तीन शिलालेख गंज और नचना में मिले हैं। पर हाँ, इस समय जो सामग्री उपलब्ध है, केवल उसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ये दोनों व्यक्ति एक ही थे। पर यदि वे दोनों एक ही हों तो फिर जयनाथ के दिए हुए वर्ष सन् २४८ ई० वाले संवत् के ही होने चाहिएँ।

तीसरा भाग

मगध (३१ ई० पू० से सन् ३४० ई० तक) और गुप्त भारत (सन् ३५० ई०)

राजाधिराज पृथिवीमवित्व-
दिवं-जयत्य-अप्रतिवार्यवीर्यः ।

अर्थात् अप्रतिवार्य (जिसका निवारण या सामना न किया जा सके) शक्ति रखनेवाले महाराजाधिराज देश की रक्षा करके स्वर्ग को जीतते हैं ।—समुद्रगुप्त का अश्वमेधवाला सिक्का ।

आसमुद्रक्षितीशानाम् आ-नाकरथ-वर्त्मनाम् ।

—कालिदास ।

११. सन् ३१ ई० पू० से २५० ई० तक का मगध का इतिहास और गुप्तों का उदय) सन् २७५ से ३७५ ई० तक)

§ १०६. पुराणों में कहा गया है कि जब कण्वों का पतन हो गया, तब मगध पर आंध्रों (सातवाहनों) का राज्य हो गया।

पाटलिपुत्र में आंध्र और लिच्छवी

इलाहाबाद जिले के भीटा नामक स्थान में खुदाई होने पर सातवाहनों के जो सिक्के मिले हैं, उनसे पुराणों के इस कथन का समर्थन होता है। पटने के पास कुम्हराड़ नामक स्थान में मेरे सामने डाक्टर स्पूनर ने जो एक सातवाहन सिक्का खोदकर निकाला था, उसे मैंने पढ़ा है। जब मगध में कण्वों

का पतन हो गया (ई० पू० ३१) तब उसके बाद पाटलिपुत्र और मगध में सातवाहनों का राज्य पचास वर्षों से अधिक न रहा होगा। लिच्छवी-वंश के जयदेव द्वितीय का जो नेपालवाला शिलालेख है और जिस पर श्रीहर्ष संवत् १५३ (=सन् ७५८ ई०)[1] दिया है, उसमें कहा गया है कि जयदेव प्रथम से २३ पीढ़ियाँ पहले उसका पूर्व पुरुष सुपुष्प लिच्छवी हुआ था जिसका जन्म पुष्पपुर नगर में हुआ था। डा० फ्लीट ने हिसाब लगाकर जयदेव प्रथम का समय लगभग सन् ३३० ई० से ३५५ ई० तक निश्चित किया है[2] (यदि इन तेईस राजाओं की लंबी सूची के प्रत्येक राजा के लिये हम औसत में लगभग पंद्रह वर्षों का भी समय रख लें तो हम कह सकते हैं कि सुपुष्प ईसवी पहली शताब्दी के आरंभ में हुआ था। पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के लिये लिच्छवियों ने सातवाहन सम्राट् से आज्ञा प्राप्त की होगी। अथवा कई शताब्दियों से लिच्छवी लोग मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार करना चाहते थे, और इसलिये यह भी संभव है कि उन्होंने स्वतंत्र रूप से ही उस पर अधिकार कर लिया हो। उत्तरी भारत में कैडफिसस और वेम केडफिसस के आ पहुँचने के कारण सातवाहन सम्राट् के कामों में अवश्य ही गड़बड़ी पड़ी होगी, और इसी कारण पाटलिपुत्र में जो स्थान रिक्त हुआ था, उसकी पूर्ति करने

---

१. इंडियन एंटिक्वेरी, खंड ९, पृ० १७८. फ्लीट-कृत Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, पृ० १८९-१८५।

२. फ्लीट-कृत Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, पृ० १३५, १९१ और इंडियन एंटिक्वेरी, खंड १४, पृ० ३५०।

के लिये लिच्छवियों को यथेष्ट अवसर मिल गया होगा। हम यह भी मान सकते है कि उस शताब्दी के अंत मे जब कनिष्क का वाइसराय या उपराज वनस्पर आगे बढ़ने लगा था, तब पाटलिपुत्र पर से लिच्छवियों का अधिकार उठ गया होगा[1]।

§ ११०. जब लिच्छवी लोग लगभग एक सौ वर्षों तक पाटलिपुत्र को अपने अधिकार मे रख चुके थे, तब भार-शिवों के द्वारा गंगा की तराई के स्वतंत्र कर दिए जाने कोट का क्षत्रिय राजवश पर लिच्छवियों ने अवश्य ही अपने मन मे समझा होगा कि हम मगध पर फिर से अपना राज्य स्थापित करने के अधिकारी है। परंतु जब भार-शिवों ने फिर से देश का राजनीतिक संगठन किया था, तब हम देखते है कि मगध पर आर्य-धर्म को न माननेवाले लिच्छवियों का अधिकार नहीं था, बल्कि एक सनातनी क्षत्रिय-वंश का अधिकार था। कौमुदी-महोत्सव मे इस वंश को "मगध-कुल" कहा गया है और समुद्रगुप्त ने इसे "कोट-कुल" कहा है। जान पड़ता है कि इस वंश के संस्थापक का नाम कोट था। इस कोट का जो वंशज समुद्रगुप्त का समकालीन था और इलाहाबादवाले शिलालेख के आरंभिक अंश मे से जिसका नाम मिट गया है, वह कोट-कुलज कहलाता है। मगध के इन राजाओं के नामों के अंत मे "वर्म्मन्" होता था[2]। अवश्य ही इस वंश की स्थापना सन् २००–२५० ई० के लगभग हुई होगी।

---

१. देखो ऊपर पहला भाग (§ ३३)।

२. देखो Bhandarkar Annals १६३०, खंड १२, पृ० ५० में और उसके आगे मेरा लिखा हुआ Historical Data in

§ १११. गुप्त लोग मगध मे किसी स्थान पर सन् २७५ ई० के लगभग प्रकट होते हैं। इनमे का पहला राजा गुप्त[1] एक करद और अधीनस्थ राजा के रूप मे उदित होता है। आगे चलकर हम देखते हैं कि आरंभिक गुप्तों का संबंध इलाहाबाद (प्रयाग) और अवध (साकेत) से था, क्योंकि ऐसा जान पड़ता है कि महाराज गुप्त की जागीर इलाहाबाद के आस-पास कहीं थी। इसी का पुत्र घटोत्कच था और घटोत्कच का पुत्र इस वंश का ऐसा पहला राजा था जिसने अपने वंश के संस्थापक गुप्त का नाम अपने वंश-नाम के रूप में प्रचलित किया था; और तभी से इस वंश के राजा अपने नाम के अंत में "गुप्त" शब्द रखने लगे थे। उसका नाम चंद्र था। कौमुदी-महोत्सव में इस चंद्र का प्राकृत नाम चंडसेन[2] मिलता है। जिस समय इस

गुप्त और चंद्र

---

the drama Kaumudi Mahotsava (कौमुदी महोत्सव नाटक में ऐतिहासिक तथ्य)।

२. प्रभावती गुप्ता (पूनावाले प्लेट, एपिग्राफिया इंडिका, १५) ने इसे बहुत ही उपयुक्त रूप से "आदिराज" कहा है।

१. चंद्र का जो प्राकृत में चंड हो जाता है, इसके प्रमाण के लिये सातवाहन राजा चंदस्वाति का वह अभिलेख देखो जो एपिग्राफिया इंडिका, खंड १८, पृ० ३१७ में प्रकाशित हुआ है और श्री चंद्रस्वाति के सिक्के जिनमें "चंद्र" के स्थान पर "चंड" अंकित है। देखो रैप्सन कृत Coins of Andhras, पृ० ३२। इसी प्रकार नाम के अंत का जो "सेन" शब्द छोड़ दिया गया है, उसकी पुष्टि इस बात से होती है कि इसी राजा ने वसंतसेन को वसंतदेव कहा है। (देखो

चंद्र का उदय हुआ था, उस समय पाटलिपुत्र में मगध का राजा सुंदर वर्म्मन राज्य करता था। इसके प्रासाद का नाम सु-गांग था और उसी प्रासाद में रहकर यह शासन करता था। खारवेल-वाले शिलालेख में इस प्रासाद का नाम "सु-गांगीय" दिया है और मुद्रा-राक्षस में इसे सु-गांग प्रासाद कहा गया है। इस प्रकार राजनगर पाटलिपुत्र अपने प्राचीन प्रासाद समेत सुंदर वर्म्मा और चंद्र के समय तक ज्यों का त्यों मौजूद था। राजा सुंदर वर्म्मन् की अवस्था अधिक हो गई थी और वह वृद्ध था; और उसका दो ही तीन वर्षों का एक बच्चा था जो अभी तक दाई की गोद में रहता था। जान पड़ता है कि इस शिशु राजकुमार के जन्म से पहले ही मगध के राजा ने चद्र अथवा चंद्रसेन को दत्तक रूप में ले रखा था। चद्र यद्यपि राजा का कृतक पुत्र था, परंतु फिर भी अवस्था में बड़ा होने के कारण अपने आपको राज्य का उत्तराधिकारी समझता था। उसने उन्हीं लिच्छवियों के साथ विवाह-संबंध स्थापित किया था जो उसी कौमुदी-महोत्सव नाटक में मगध के शत्रु कहे गए हैं[1]। लिच्छवियों ने चंद्र को साथ लेकर एक बहुत बड़ी सेना की सहायता से पाटलिपुत्र पर घेरा डाला था। उसी युद्ध में वृद्ध राजा सुंदर वर्म्मन् मारा गया था। सुंदर वर्म्मन् के कुछ स्वामिनिष्ट मंत्री शिशु राजकुमार कल्याण वर्म्मन् को किसी प्रकार वहाँ से उठाकर किष्किंधा की पहाड़ियों में ले गए थे। चद्र

Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, पृ० १८६ और उसके आगे)। दहसेन ने अपने सिक्कों पर अपना नाम 'दह-गण' दिया है। C. A. D. पृ० १६४)।

१. यह नाटक आन्ध्र रिसर्च सोसाइटी के जरनल, खंड २ और ३ में प्रकाशित हुआ है।

ने एक नवीन राज-कुल की स्थापना की थी। कौमुदीमहोत्सव की क्रुद्ध रचयित्री ने लिच्छवियों को म्लेच्छ और चंडसेन को कारस्कर कहा है; और कारस्कर का अर्थ होता है—एक जाति हीन या छोटी जाति का ऐसा आदमी जो राज-पद के उपयुक्त न हो[1]।

§ ११७. चंद्रगुप्त प्रथम आगे चलकर बहुत अधिक भाग्यशाली और वैभव-संपन्न हुआ था। परंतु उसका परवर्ती इतिहास बतलाने से पहले हम यहाँ यह देखना चाहते हैं कि क्या गुप्तों की जाति का भी कुछ पता चल सकता है, क्योंकि उनकी जाति का प्रश्न अभी तक रहस्यमय बना हुआ है और उसका कुछ भी पता नहीं चला है। तत्कालीन अभिलेखों आदि से हमें निम्न-लिखित तथ्य मिलते हैं—

गुप्तों की उत्पत्ति

(क) गुप्तों ने कहीं अपनी उत्पत्ति या मूल और जाति आदि का कोई उल्लेख नहीं किया; मानों उन्होंने जान-बूझकर उसे छिपाया हो। और

(ख) वे लोग धारण नामक उप-जाति के थे।

गुप्त महारानी प्रभावती गुप्ता के अभिलेख से हमें इस बात का पता चलता है कि वह धारण गोत्र की थी[2]। जान पड़ता है

१. कहिं एरिस कारस्करस्स राअसिरी ?—कौमुदी-महोत्सव, अंक ४, पृ० ३०।

२. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १५, पृ० ४१। साथ ही मिलाइए उक्त ग्रंथ के पृ० ४२ की पाद-टिप्पणी।

कि उस अभिलेख मे उसने अपने पिता का गोत्र दिया है, क्योंकि उसके पति का गोत्र भिन्न (विष्णु-वृद्ध) था। कौमुदी महोत्सव से हमे इस संबंध मे एक और वात यह मालूम होती है कि वह कारस्कर जाति का था। बौधायन मे कहा है कि कारस्कर एक छोटी जाति है और इस जाति के लोगो के यहाँ ब्राह्मणों को नहीं जाना चाहिए, और यदि वे जायँ भी तो उनके यहाँ से लौट-कर उन्हे प्रायश्चित्त अथवा अपनी शुद्धि करनी चाहिए[१]। बौधा-यन मे कारस्कर लोग पंजावी अरट्टों के मेल मे रखे गए है और अरट्ट का शब्दार्थ होता है—"प्रजातंत्री"। उनका ठीक निवास-स्थान हेमचंद्र ने वतलाया है और शाल्वो की व्याख्या करते समय कहा है कि वे कार नामक तराई के रहनेवाले है[२]। कारपथ या कारापथ नामक स्थान हिमालय के नीचेवाले प्रदेश मे था[३]। शाल्व लोग मद्रो के एक विभाग के थे और स्यालकोट मे रहते थे, जहाँ वे सियाल कहलाते थे; और यह सियाल "शाल्व" से ही निकला है; और यह "शाल्य" भी लिखा जाता है[४] और यह नाम अव तक प्रचलित है। इसलिये कारस्कर लोग पंजाव के रहनेवाले थे और मद्रों के एक उप-विभाग थे। हमे यह भी ज्ञात है कि मद्र लोग वाहीक और जार्तिक भी

---

१. बोधायन-कृत धर्म-सूत्र १. १. ३२.

२ हेमचंद्र-कृत अभिधान-चिंतामणि ४, पृ० २३. शाल्वस्तु कार-कुक्षीया।

३. रघुवश, १५ ६०. विल्सन का विष्णु-पुराण, खड २, पृ० ३६०.

४. विल्सन और हाल का विष्णु-पुराण, खड ५, पृ० ७०.

कहलाते थे[१]। इस प्रकार मद्रक समाज[२] कई उप-विभागों के योग से बना था जिनमें शाल्व और यर्त्री अथवा जार्तिक लोग भी थे जिन्हें हम आजकल "जाट" कहते हैं और साथ ही कई दूसरे उप-विभाग भी थे अब हम यहाँ पाठकों को चंद्रगोमिन् के व्याकरण का वह उदाहरण स्मरण कराते हैं जिसमें कहा गया है—"जार्त्त (राजा) ने हूणों को परास्त किया।" यहाँ जार्त्त शब्द से मुख्यतः स्कंदगुप्त का अभिप्राय है[३]। इस प्रकार हमें कई भिन्न भिन्न साधनों से इस एक ही बात का पता चलता है कि गुप्त लोग कारस्कर जाट थे, जो पंजाब से चलकर आए थे। मेरी समझ में आज-कल के कक्कड़ जाट[४] उसी मूल समाज के प्रतिनिधि

---

१ रोज-कृत Glossary of Punjab Tribes and Castes १. ५६. ग्रियर्सन-कृत Linguistic Survey of India, खंड ६, भाग ४, पृ० ४. पाद ८. महाभारत, कर्ण पर्व (श्लोक २०१४.)

२. मद्रक के संबंध में देखो मेरा लिखा हिंदू राज्यतंत्र, पहला भाग. पृ० १६६-१६७. इसका अर्थ होता है—"मद्र राज्य का निज नागरिक"।

३. Gupta Inscriptions, पृ० ५४, (पं० १५); पृ० ५६ (पं० ४), दो अभिलेखों (भीतरी और जूनागढ़वाले) में एक प्रसिद्ध और निर्णायक युद्ध का वर्णन है। परन्तु यशोधर्म्मन् ने कश्मीर पर केवल चढ़ाई की थी, (Gupta Inscription, पृ० १४७, पं० ६) और यशोधर्म्मन् की अधीनता हूणों ने बिना किसी युद्ध के ही स्वीकृत कर ली थी।

४. मिलाओ रोज कृत Glossary २. ३६१, पाद-टि०। इस नाम का उच्चारण 'ककड़' भी होता है।

हैं, जिस समाज के गुप्त लोग थे। कारस्करों में गुप्त लोग जिस विशिष्ट उप-विभाग के थे, उसका नाम धारण था प्रभावती गुप्ता के अभिलेख (पूना प्लेट्स) मे जो 'गोत्र' शब्द आया है, उसका मतलब जातीय उप-विभाग से ही है। अमृतसर में धारी नाम के एक प्रकार के जाट पाए जाते है[1]; और इस "धारी' शब्द की तुलना हम प्रभावती गुप्ता के संस्कृत शब्द 'धारण' से कर सकते हैं। इस बात का पूरा पूरा समर्थन कौमुदी-महोत्सव से भी होता है और चद्रगोमिन् से भी होता है जो निस्संदेह एक गुप्त ग्रंथकार था।

§ ११३. संभवतः मद्रक जाट उन दिनो बहुत हीन जाति के नहीं समझे जाते थे, क्योंकि यदि वे लोग छोटी जाति के होते तो राजा सुंदरवर्म्मन् कभी चंद्रसेन को अपना दत्तक बनाने का विचार न करता। जान पडता है कि पहले वह चंद्र को ही अपना सारा राज्य देना चाहता था। परंतु जब किसी छोटी रानी के गर्भ से कल्याणवर्म्मन् का जन्म हुआ (कल्याणवर्म्मन् के सबंध मे जो "माताएँ" शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे सूचित होता है कि उसकी कई सौतेली माताएँ थीं) तब दत्तक पुत्र और उसे दत्तक लेनेवाले पिता में झगड़ा आरंभ हुआ। प्रजा ने जो उस समय चंद्र का बहुत अधिक विरोध किया था, उसका वास्तविक कारण यही था कि उन दिनों लोग कारस्करों को इसलिये बुरा समझते थे कि वे लोग सनातनी चातुर्वर्णाश्रम के अंतर्गत नहीं थे। महाभारत मे मद्रकों को भी इसीलिये निंदनीय माना गया है। उन लोगों मे

---

१ Glossary of Tribes & Castes of the Panjab & N. W. Frontier, खंड २, पृ० २३५.

केवल एक ही जाति थी और समाज के सब लोग समान तथा स्वतंत्र समझे जाते थे। और गंगा के दोआब मे रहनेवाले समाज के निश्चित नियमो से यह बात ठीक नहीं थी। इस संबंध मे आपस मे उत्तर-प्रत्युत्तर भी हो गया था। कौमुदी-महोत्सव ने कारकरो को इसलिए ताना दिया था कि वे शासक बन रहे थे; और इसके उत्तर मे गुप्तो ने कहा था कि—"हम क्षत्रियो का नाश कर डालेगे।"

§ ११४. अब हमे पौराणिक इतिहास से इस बात का पता चलता है कि कनिष्क के शासन-काल मे और कदाचित उसके उत्तराधिकारी के शासन-काल मे भी वनस्पर ने शासन-कार्यों के लिये कुछ मद्रको को अपने यहाँ बुलवाया था। परंतु चंद्रगुप्त प्रथम अपने सिक्को मे जो पंजाब की सैनिक वर्दी पहने हुए दिखाई देता है, उससे जान पड़ता है कि जब भार-शिवो ने मद्रक देश को स्वतंत्र कर दिया था, तब उसके कुछ ही दिन बाद चंद्रगुप्त प्रथम के वंश के लोग पंजाब से चलकर इस ओर आए थे। बहुत संभव है कि भार-शिव राजा ने चंद्र को बिहार और कौशांबी के बीच की कोई जागीर दी हो; क्योंकि पाटलिपुत्र की नगर परिषद् ने जब चंद्रगुप्त प्रथम को राज्यच्युत करने की घोषणा की थी, तब वह अपनी सीमा पर शबरो का विद्रोह दमन करने के लिये गया हुआ था।

चद्रगुप्त प्रथम का निर्वासन

§ ११५. एक तो चंद्रगुप्त प्रथम कुछ छोटी जाति का था; और दूसरे लोग यह भी समझते थे कि उसने मगध पर अनुचित रूप से अधिकार कर लिया है और वह नियमानुमोदित रूप से मगध का स्वामी नहीं हो सकता। और फिर सबसे बढ़कर बात यह हुई थी कि वह हिंदुओ की परंपरागत

शासन-प्रणाली के अनुसार नहीं चलता था, और इसीलिये मगधवाले उससे बहुत नाराज थे। मगध की प्रजा के साथ वह कुछ शत्रुता भी रखता था और प्रायः उनके दमन का ही प्रयत्न करता रहता था। कौमुदी-महोत्सव में कहा गया है कि चंडसेन[1] ने प्रमुख नागरिकों को कारागार में बंद कर रखा था। मगधवाले समझते थे कि उसी ने अपने पिता की हत्या की थी। लोग पुकार पुकार कर कहने लगे कि वह क्षत्रिय नहीं है, जिस वृद्ध राजा ने उसे दत्तक लिया था, उसकी उसने युद्ध-क्षेत्र में हत्या कर डाली है; उसने अपनी सहायता के लिये मगध के वंशानुक्रमिक शत्रु लिच्छवियों को बुलाया है, और उसने एक ऐसी स्त्री के साथ विवाह किया है जो न तो मगध की ही है और न सनातनी हिंदू ही है। और इन सब बातों के साथ हम यह भी कह सकते हैं कि उसने ब्राह्मण सम्राट् प्रवरसेन प्रथम का साम्राज्याधिकार मानने से इन्कार कर दिया था।

§ ११६ लिच्छवियों की शक्ति की सहायता से और उनके संरक्षण के बल पर उसने मगध के निवासियों की स्वतंत्रता पैरों तले रौंद डाली थी और प्रमुख नागरिकों को कारागार में बंद

---

१ जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, इस बात के और भी कई उदाहरण ज्ञात हैं जिनमें नए राजाओं ने सिंहासन पर बैठने के समय अपने नाम का पिछला अंश बदल डाला था। इसी प्रकार चंद्रसेन ने भी अपना नाम बदलकर नया नाम चंद्रगुप्त रखा था। परंतु उसके विरोधी और शत्रु सम-कालीन लोग उसे उसी पुराने और तुच्छ नाम से पुकारते थे, और इसलिये उसके संस्कृत नाम चंद्र का देशज उच्चारण "चंड" का व्यवहार करते थे कि उसमें श्लेप था (चंड का एक और अर्थ होता है—उग्र या भीषण)।

कर दिया था। इस प्रकार अलबेरूनी ने उस समय एक सत्य और परंपरागत ऐतिहासिक तथ्य का ही उल्लेख किया था, जिस समय उसने यह कहा था कि गुप्त-काल का राजा अथवा राजा लोग निर्दय और दुष्ट थे। हिंदुओं की स्मृतियों में राष्ट्रीय संघटन और व्यवस्था के ऐसे नियम पहले से लिखे हुए वर्त्तमान थे जिनका यह विधान था कि जो राजा अत्याचारी हो अथवा जिसके हाथ अपने माता-पिता के रक्त से रंजित हों, उस राजा का नाश कर डालना चाहिए[1]। इसलिये मगधवालों ने एक योजना प्रस्तुत की और वे चंद्रगुप्त प्रथम के विरुद्ध उठकर खड़े हो गए। उन्होंने वाकाटक प्रदेश (पंपासर) से कुमार कल्याणवर्म्मन को बुलवा लिया था और पाटलिपुत्र के सुगांग प्रासाद में उसका राज्याभिषेक कर डाला था। इस संबंध मे कौमुदी-महोत्सव की रचयित्री ने बहुत ही प्रसन्न होकर कहा था—"वर्णाश्रम धर्म की फिर से प्रतिष्ठा हुई है, चंडसेन के राजकुल का उन्मूलन हो गया है"[2]। यह घटना उस समय की है, जब कि चंद्रगुप्त विद्रोही शबरों के साथ लड़ने के लिये एक ऐसे स्थान पर गया हुआ था जो रोहतास और अमरकंटक के मध्य मे था। यह विदेशी राजा सन् ३४० ई० के लगभग मगध से निकाला गया था, क्योंकि कहा गया है कि उस समय कल्याण वर्म्मा हिंदुओं के नियमों के अनुसार अपना राज्याभिषेक कराने के लिए पूर्ण रूप से

---

१. Hindu Polity, दूसरा भाग ५०, १८६.

२. प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचंडसेनराजकुलम् ।—कौमुदी-महोत्सव, अंक ५ ।

वयस्क हो गया था[१]। जिस वर्ष कल्याण वर्म्मा का राज्याभिषेक हुआ था, उसी वर्ष मथुरा के राजा की कन्या के साथ उसका विवाह भी हो गया था।

गुप्तों का विदेश-वास और उनका नैतिक रूपपरिवर्त्तन

§ ११७. गुप्त लोग जो बिहार से निर्वासित हुए थे, वह अधिक समय के लिये नहीं हुए थे; केवल सन् ३४० ई० से ३४४ ई० तक ही वे बिहार से बाहर रहे थे परंतु उनके इस विदेश-वास का एक बहुत बड़ा परिणाम हुआ था और उसका भविष्य पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा था। उनके इस विदेश-वास के परिणाम-स्वरूप केवल बिहार का ही नहीं बल्कि सारे भारत का इतिहास ही बिल्कुल बदल गया था। अब गुप्तों का वंश ऐसे विदेशियों का वंश नहीं रह गया था जो राज्य पर अनुचित रूप से अधिकार कर लेनेवाले समझे जाते थे, बल्कि वह परम हिंदू-मागधों का एक ऐसा वंश बन गया था जो धर्म, ब्राह्मण, गौ तथा हिंदू-भारत के साहित्य तक्षण-कला, भाषा, धर्म-शास्त्र, राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय सभ्यता के संरक्षक और समर्थक थे। समुद्रगुप्त के राजकीय जीवन का आरंभ वाकाटकों की अधीनता मे एक करद और अधीनस्थ शासक के रूप में हुआ था और उसके वाकाटकों का गंगा देवी-

---

१. पाटलिपुत्र पर चंद्रगुप्त प्रथम का अधिकार सन् ३२० ई० में हुआ और राज्याभिषेक २५ वर्ष की अवस्था में होता था। कल्याणवर्म्मा लगभग २० वर्षों तक विदेश मे रहा था और इसलिये पाटलिपुत्र पर उसका फिर से अधिकार लगभग सन् ३४० ई० में हुआ होगा।

वाला साम्राज्य-चिह्न अपने सिक्कों पर अंकित कराया था और केवल राजा की उपाधि ग्रहण की थी। उस समय उसने किसी प्रकार के राजकीय चिह्न नहीं धारण किए थे जैसा कि व्याघ्र वर्गवाले सिक्कों पर दी हुई उसकी मूर्त्ति से प्रकट होता है। परंतु अंत मे उसने गर्वपूर्वक अपने साम्राज्य के सोने के सिक्कों पर गरुड़-ध्वज भी अंकित कराया था; और इतिहास मे बहुत ही थोड़े से राजाओं को इस प्रकार अपने सिक्कों पर गरुड़-ध्वज अंकित कराने का सौभाग्य और संतोष प्राप्त हुआ है। अपना साम्राज्य स्थापित करने के उपरांत उसने अपने जो सिक्के चलाए थे, उनपर उसने हिंदू-वीर और हिंदू-आदर्श की इस प्रकार अभिव्यक्ति की थी कि उसने उनपर अंकित करा दिया था कि मैंने सारे देश पर विजय प्राप्त करके उसका शासन इतनी उत्तमता से किया है कि अपने लिये स्वर्गपद प्राप्त कर लिया है (देखो ऊपर पृ० २४३)। वाकाटक-सम्राट् के अनुकरण पर उसने संस्कृत को राजकीय भाषा बनाकर उसे अपने दरबार में स्थान दिया था और पाटलिपुत्र के साम्राज्य-सिंहासन पर आसीन होकर अश्वमेध यज्ञ किए थे।

अयोध्या और उसका प्रभाव

§ ११७. क. पाटलिपुत्र से निकाल दिए जाने पर जिस समय चंद्रगुप्त प्रथम या तो बहुत अधिक दुःखी होने के कारण और या युद्ध मे घायल होने के कारण मरने लगा था, उस समय उसने समुद्रगुप्त को, जो उसके छोटे लड़कों मे से एक था, अपने पास बुलाकर नेत्रों मे आँसू भरकर और अपने मंत्रि-मंडल की स्वीकृति तथा सहमति से कहा था—"अब तुम राजा बनो" (राज्य की रक्षा करो)। और इसके बाद

ही वह मर गया था[1]। उसकी मृत्यु अवश्य ही गंगा के उस पार उसके संबंधी लिच्छवियों के राज्य मे हुई होगी। उसका पुत्र समुद्रगुप्त भी लिच्छवियों का अधीनस्थ और संबंधी ही था और उस समय उसे साकेत का अर्थात् आस-पास का अवध का प्रदेश मिला होगा, जहाँ अयोध्या मे हम इसके बादवाले शासनों मे गुप्त सम्राटों को अपने दूसरे और प्रिय राजनगर मे निवास करते हुए पाते है। अयोध्या मे भी उन दिनों संस्कृति का एक केंद्र था। अयोध्या मे ही वह कवि अश्वघोष हुआ था जो इससे ठीक पहलेवाले अब्दप्रवर्त्तक काल का कालिदास माना जाता है। वह बहुत बड़ा विद्वान् शिखरस्वामी भी अयोध्या का ही रहनेवाला था जो आगे चलकर रामगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय का अमात्य या प्रधान मंत्री हुआ था[2]। सनातनी परंपरा के अनुसार अयोध्या मे ही रामचंद्र की राजधानी थी और इसीलिये समुद्रगुप्त ने अपने सबसे बड़े लड़के का नाम रामगुप्त रखा था;[3] और यह एक ऐसा नाम था जो सारी पुरानी हिंदू-सभ्यता को व्याप्त

---

१. Gupta Inscriptions, पृ० ६।

२ बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १८, पृ० ३७।

३. अरब ग्रंथकार अबू सालेह ने लोकप्रिय रम-पाल (रव्वाल) नाम अपने ग्रंथ मे दिया है (बि० उ० रि० सो० का जरनल, १८ पृ० २१) और इसका मिलान हम गुप्तों की राजावलीवाले उन नामों से कर सकते हैं जो कनिंघम को अयोध्या मे मिली थी। उस नामावली के नामों के अंत में "गुप्त" के स्थान पर "पाल" शब्द मिलता है। जैसे समुद्रपाल, चंद्रपाल आदि। A. S R खंड ११, पृ० ६६।

करनेवाला था। समुद्रगुप्त ने उस परंपरा को पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिया था। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के राजनीतिक विधान का हिंदू विद्या एक अंग बन गई थी। उनके राष्ट्रीय कार्य तथा राजनीतिक स्वरूप विष्णु की राजस (अर्थात् राजाओं के उपयुक्त) भक्ति के साँचे मे ढल गया था। वे भारतवर्ष के राज्य का विष्णु की ही भाँति दृढ़तापूर्वक और पोपण करने के लिये उठ खड़े हुए थे। उनकी भक्ति बहुत प्रबल और गंभीर है। वे विष्णु का ही ध्यान करते है और विष्णु में ही ध्यान करते है। समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय दोनो अपने देवता के साथ मिलकर एक-रूप हो गए है। एरन में समुद्रगुप्त द्वारा स्थापित जो विष्णु की मूर्त्ति है, उसे जिस किसी ने देखा होगा, उसे स्वयं समुद्रगुप्त का भी स्मरण हो आया होगा और उसने उस मूर्त्ति मे स्वयं समुद्रगुप्त की आकृति और परिच्छेद देखे होगे और उदयगिरि में चंद्रगुप्त-गुहा में जो व्यक्ति विष्णुवराह की मूर्त्ति देखेगा, उसे यह स्मरण हो आवेगा कि चंद्रगुप्त द्वितीय स्वयं ही ध्रुवदेवी का उद्धार कर रहा है[1]। अपने समय की जो आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ राजकीय और राष्ट्रीय भावों आदि को फिर से जन्म देती है, बिना उन्हे अच्छी तरह समझे कोई किसी राजनीतिक सुधार या रूपांतर का स्वरूप ठीक तरह से नही जान सकता और इसीलिये इस अवसर पर गुप्तों की इस प्रकार की सब बातो का ठीक ठीक स्वरूप यहाँ जान लेना आवश्यक है।

§ ११८. भीतरी मे भी और मेहरौली में भी गुप्तो ने अपनी जो विजएँ विष्णु को अर्पण की थीं, जिस ठाठ-बाट से उन्होंने अश्व-

---

१. मिलाओ वि० उ० रि० सो० का जनरल, खंड १८, पृ० ३५।

मेध यज्ञ किए थे, जिस प्रकार उदारतापूर्वक उन यज्ञों में उन्होंने दान दिए थे और जिस ठाट से अपने गरुडमर्दक सिक्के प्रचलित किए थे, उन सबका ठीक ठीक अभिप्राय बिना उक्त मूल मंत्र को जाने कभी समझ में नहीं आ सकता। हम इन्हें हिंदू-मुगल कह सकते हैं, परंतु इनमें न तो मुगलोंवाली क्रूरता ही थी और न चरित्र-भ्रष्टता ही, और बिना इस कुंजी के इनके रहस्य का उद्घाटन नहीं हो सकता। बिना इसके आपको इस बात का पता नहीं चल सकता कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने किस प्रकार प्राण-दंड की प्रथा उठा दी थी[1], किस प्रकार उसने हिंदुत्व के वैभव की कीर्त्ति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था और किस प्रकार उसने उत्तम शासन की ऐसी सीमाएँ निर्धारित की थीं जिनका और अधिक विस्तार कोई राज-दंड नहीं कर सका था।

§ ११९. भार-शिवों से लेकर वाकाटकों के समय तक उसी शिव का राज्य था जो सामाजिक त्याग और सन्यास का देवता था, जो सर्वशक्तिमान ईश्वर का संहारक प्राचीन और नवीन धर्म रूप था और जो परम उदार तथा दानी होने पर भी अपने पास किसी प्रकार की संपत्ति नहीं रखता था, जिसके पास कोई भौतिक वैभव नहीं था, और जो परम उग्र तथा घोर था। परंतु इसके विपरीत दूसरे गुप्त राजा तथा पहले गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने ईश्वर के उस रूप का आवाहन किया था जिसका कार्य राजकीय और राजस है, जो अपने शरीर पर भभूत नहीं रमाता, बल्कि स्वर्ण के अलंकार धारण करता है, जो रचना और शासन करता

---

१. फा-हियान, सोलहवाँ प्रकरण।

है, जो वैभव की रक्षा करता और उसे देखकर सुखी होता है और जो हिंदू-राजत्व का परंपरागत देवता है। विष्णु सब देवताओं का राजा है, खूब अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषण पहनता है, सीधा तनकर खड़ा रहता है और अपनी प्रजा के राज्य का शासन करता है; जो वीर है और युद्ध का विजयदेवता है (उसका चिन्ह चक्र है जो साम्राज्य का लक्षण है) और जो उन समस्त दुष्ट शक्तियों का अप्रतिहार्य रूप से नाश करता है जो विष्णु भगवान् के साम्राज्य पर आक्रमण करती हैं। युद्ध तथा विजय की घोषणा करने के लिये उसके एक हाथ मे शंख है। तीसरे हाथ में शासन का दंड या गदा है और चौथे हाथ में कमल है जो उसकी प्रजा के लिये संपन्नता, वृद्धि और आनंद का सूचक चिह्न है। इस राजन्य देवता के धर्म को ही समुद्रगुप्त ने अपने वंश और देश का धर्म बनाया था। विष्णु के प्रति उसकी भक्ति इतनी अधिक है कि स्वयं उसका व्यक्तित्व विष्णु मे ही विलीन हो जाता है। भगवद्गीता के शब्दों में उसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

"साध्वासाधूदय-प्रलय-हेतु पुरुषस्याचिन्त्यस्य भक्त्यवनतिमात्र ग्राह्यमृदुहृदयस्य[१]।"

और उन दिनों की साहित्यिक प्रथा के अनुसार इस वर्णन का दोहरा अर्थ होता है। इसमे भक्त और उसके आराध्य देवता दोनों का ही एक ही भाषा मे वर्णन किया गया है—जो लक्षण आराध्य देवता के हैं, वही उसके भक्त के भी है। जो लोग हिंदू नहीं होंगे अथवा जो हिंदुओं की भक्ति का मर्म न जानते होंगे, वे

---

१. Gupta Inscriptions, पृ० ८, पं० २५।

यह वर्णन पढ़कर यही समझेंगे कि यह ईश्वर के गुणों का पाखंड-पूर्ण ध्यान है। परंतु वास्तव मे बात ऐसी नहीं है। भक्ति-मार्ग मे सर्वश्रेष्ठ सिद्धांत यह है कि उसके आराध्य देव मे अनन्यता होनी चाहिए—दोनो मे कुछ भी अंतर न रह जाना चाहिए। भक्त में धीरे धीरे उसके आराध्य देवता के गुण आने लगते है और तब अंत में भक्त का रूप इतना अधिक परिवर्त्तित हो जाता है कि वह अपने आराध्य देवता के साथ मिलकर एक हो जाता है। वह अपने देवता का प्रचारक और प्रतिनिधि रूप से काम करनेवाला बन जाता है। वह केवल मध्यवर्त्ती या निमित्त मात्र बन जाता है और उसके सभी कार्य उसके आराध्य देवता या प्रभु को अर्पित होते हैं। गुप्त लोग अपने मन मे इस बात का अनुभव करते थे और इस पर पूरा पूरा विश्वास रखते थे कि हम विष्णु के सेवक और कार्यकर्त्ता हैं, हम विष्णु की ओर से एक विशेष कार्य करने के लिये नियुक्त हुए है और विष्णु की ही भाँति हमे भी अनधिकारी और धर्मभ्रष्ट राजाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, विष्णु की ही तरह हमे पूर्ण रूप से सबका स्वामी बनकर उन पर शासन करना चाहिए; और विष्णु के हाथ का कमल जो यह कहता है कि हम सबको सुखी करेंगे, उसी के अनुसार भारतवर्ष के समस्त निवासियो को सुखी और प्रसन्न करना चाहिए। उन लोगो ने यह कार्य पूर्ण रूप से संपादित किया था और समुद्रगुप्त ने यह बात अच्छी तरह अपने मन मे समझ ली थी कि हमने यह काम बहुत अच्छी तरह से पूरा किया और इस प्रकार हम स्वर्ग के अधिकारी बन गए हैं। विष्णु की तरह समुद्रगुप्त और उसके अधिकारियों ने भी भारतवर्ष को धन-धान्य से भली भाँति पूर्ण कर दिया था और यहाँ संपन्नता, वैभव तथा संस्कृति की स्थापना कर दी थी।

१२. सन् ३५० ई० का राजनीतिक भारत और समुद्रगुप्त का साम्राज्य

§ १२०. समुद्रगुप्त के प्रयागवाले स्तंभ पर जो शिलालेख अंकित है, उसमे उसके जीवन के सब कार्यों का उल्लेख है; और इस बात मे कुछ भी संदेह नही है कि उसकी यह जीवनी उसी के जीवन-काल मे प्रकाशित हुई थी[1]। उसमे उन राज्यो और राजाओ के वर्णन है जो गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के समय वर्त्तमान थे। परंतु फिर भी हम समझते है कि पुराणो मे उन दिनो के राजनीतिक भारत का कदाचित् अपेक्षाकृत और भी अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। वास्तव मे हमे पुराणो मे समुद्रगुप्त के समय के भारत का पूरा पूरा चित्र मिलता है और उसी चित्र से पुराणो के कालक्रमिक ऐतिहासिक विवरण समाप्त होते है। परंतु पुराणो के उन अंशो का अच्छी तरह अध्ययन नही किया गया है और पौराणिक इतिहास के इस अंश के महत्व पर कुछ भी ध्यान नही दिया गया है; इसलिये उस पौराणिक सामग्री का कुछ विवेचन और विश्लेषण कर लेना आवश्यक जान

३५० ई० के राज्यों के संबंध मे पुराणो मे यथेष्ट वर्णन

---

१. फ्लीट का यह अनुमान ठीक नहीं था कि उसकी यह जीवनी उसकी मृत्यु के उपरांत प्रकाशित हुई थी। देखो रायल एशियाटिक सोसायटी के जरनल सन् १८९८, पृ० ३८६ मे बुहलर का लेख। यह उनके अश्वमेध या अश्वमेधो में पहले प्रकाशित हुई थी। (फ्लीट की इस भूल ने बहुतो को और साथ ही मुझे भी भ्रम में डाल दिया था।)

पड़ता है; और वह सामग्री, जैसा कि हम अभी बतलावेंगे, बहुत अधिक मूल्यवान् है।

§ १२१. मत्स्यपुराण मे आंध्रों के पतन-काल तक का इतिहास है; और गणना करके यह निश्चित किया गया है कि आंध्रो का पतन या तो सन् २६८ ई० मे और या उसके लगभग हुआ था। (बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १६, पृ० २८०)[१]। और इसके आगे के सूत्र वायुपुराण तथा ब्रह्मांड पुराण मे चलते हैं। इन दोनो पुराणों मे फिर से साम्राज्य का इतिहास आरंभ किया गया है और वह इतिहास विंध्यशक्ति से आरंभ हुआ है। विंध्यशक्ति के वंश और विशेषतः उसके पुत्र प्रवीर के उदय का विवेचन करते हुए उन पुराणो मे आनुषंगिक रूप से विंध्यशक्ति के अधीन विदिशा-नागों और उनके उत्तराधिकारी नव-नागों[२] अर्थात् भार-शिवों का इतिहास दिया है। इसके उपरांत उनमे वाकाटक (विंध्यक) साम्राज्य और उसके संयोजक अंगो का पूरा वर्णन दिया है और साथ ही उस

---

१. उनके तुखार-मुरुंड आदि सम-कालीनो का अंत सन् २४३ या २४७ ई० के लगभग हुआ था। वि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १६, पृ० २८६।

२. इसका एक और रूप नव-नाक भी मिलता है। ऊपर पृ० २४३ में कालिदास का जो श्लोक उद्धृत किया गया है, क्या उसमें आए हुए "आ-नाक" शब्द का दोहरा अर्थ हो सकता है? यदि "आ-समुद्र" में समुद्र का अभिप्राय गुप्तों से हो सकता है तो फिर "आ-नाक" के "नाक" का अभिप्राय भी नाकों अर्थात् नागों से हो सकता है।

साम्राज्य के अधीनस्थ शासकों की संख्या और उनके योग भी दिए हैं। दूसरे शब्दों में यह बात इस प्रकार कही जा सकती है कि उनमें विंध्यशक्ति के पुत्र प्रवीर के शासन-काल तक का इतिहास है और साथ ही नव-नागों का भी इतिहास है; और इन कालों की बातों का वर्णन उनमें बीते हुए इतिहास के रूप में दिया गया है। और इसके उपरांत वे अपने समय के इतिहास का वर्णन आरंभ करते है। गुप्तों के समय से लेकर आगे का जो इतिहास वे देते हैं, उसमे न तो वे शासकों की संख्या ही देते है और न उनका शासन-काल ही बतलाते हैं। गुप्तों के समय से आगे की जो बाते दी गई है, उनसे पता चलता है कि वे परिवार उस समय तक शासन कर रहे थे और इसीलिए वे परिवार गुप्तों के सम-कलीन थे। जैसा कि हम अभी बतलावेगे, निस्संदेह रूप से पुराणों का यही आशय है कि वे गुप्त साम्राज्य के अधीनस्थ और संयोजक अंग थे। इसमे वे कुछ अपवाद भी रखते है। उदाहरणार्थ वे गुप्तों के उन सम-कालीनो का भी उल्लेख कर देते है जो गुप्त-साम्राज्य के अंतर्मुक्त अंग नहीं थे। उनमे दिए हुए ब्योरे बिलकुल ठीक है और सीमाएँ आदि विशेष रूप से निर्धारित है। अतः उस समय का इतिहास जानने के लिये वे अमूल्य साधन है। और वहीं पहुँचकर वे पुराण रुक जाते है, इससे सूचित होता है कि वे उसी समय के लिखे हुए इतिहास हैं, अर्थात् ये दोनों पुराण उसी समय लिखे गए थे जिस समय समुद्र-गुप्त का साम्राज्य वर्त्तमान था। गुप्तकुल का शासन विंध्यशक्ति के पुत्र प्रवीर के उपरांत आरंभ हुआ था और इसलिये पुराणों ने उसी गुप्त-कुल को साम्राज्य का अधिकारी कुल माना है। वाकाटकों तक, जिनमे स्वयं वाकाटक भी सम्मिलित हैं, पुराणों मे केवल साम्राज्य-भोगी कुलों के वर्णन है। विष्णुपुराण

और भगवान मे कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्य है जो विशिष्ट रूप से इन्ही साम्राज्य-भोगी वशो से संबंध रखते हैं। यहाँ ऐसा जान पड़ता है कि उन्होने कुछ नितांत स्वतत्र सामग्री का ही उपयोग किया है।

§ १२२. वायुपुराण और ब्रह्माडपुराण मे गुप्तो का वर्णन उन नागों के वर्णन के उपरात आरंभ किया गया है जो बिहार मे चंपावती या भागलपुर तक के शासक साम्राज्य-पूर्व काल के गुप्त थे। परतु विष्णुपुराण मे उन गुप्तो का के सबध में विष्णु-पुराण आरंभ नागो के समय से किया गया है जिससे उसका अभिप्राय गुप्त और घटोत्कच के उदय से है। यथा—

नवनागाः पद्मावत्यां कान्तिपुर्यां मथुरायामनुगंगा प्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति।

और इसका आशय यह है कि जिस समय नव नाग पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा मे राज्य करते थे, उसी समय मागध गुप्त लोग गगा-तटवाले प्रयाग मे शासन करते थे। इससे सूचित होता है कि उनकी पहली जागीर इलाहाबाद जिले मे थी और उस समय वे लोग मगध के निवासी माने जाते थे। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि आरंभिक गुप्त लोग इलाहाबाद मे यमुना की तरफ नहीं बल्कि गंगा की तरफ अर्थात् अवध और बनारस की तरफ राज्य करते थे। विष्णुपुराण मे अनु-गगा-प्रयाग एक शब्द के रूप मे आया है और पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा की तरह राजधानी का यही अनु-गंगा-प्रयाग नाम दिया है। वह स्वतत्र अनु-गंगा नहीं है जो किसी अनिश्चित प्रदेश का सूचक हो। इस अवसर पर न तो भागवत मे ही और न विष्णुपुराण

में ही साकेत का नाम आया है। विष्णुपुराण में गुप्त का बहुवचन रूप "गुप्ताश्च" आया है और इसका विशेषण मागधा दिया है, जिससे उसका आशय यही है कि यह उस समय की बात है जब कि गुप्त लोग मगध से अधिकारच्युत कर दिए गए थे; अर्थात यह समुद्रगुप्त का साम्राज्य स्थापित होने से कुछ वर्ष पहले की बात है।

§ १२३. इसके विपरीत दूसरे पुराणों में गुप्त-कुल के संबंध में कुछ और ही प्रकार के तथ्य मिलते हैं।

गुप्त-साम्राज्य के संबंध में पुराणों का मत

वायु-पुराण और ब्रह्मांड पुराण में कहा गया है कि गुप्त वंशवाले (गुप्तवंशजाः) अर्थात् इस वंश के संस्थापक के उपरांत होनेवाले गुप्त लोग राज्य करेंगे (भोक्ष्यन्ते)

(क) अनु-गंगा-प्रयाग[1], साकेत और मगधों[2] के प्रांतों में।

(ख) शासन करेंगे (भोक्ष्यन्ते) अथवा पर शासन करेंगे (भोक्ष्यन्ति) नैषधों, यदुकों, शैशितों और कालतोयकों के मणि-धान्य प्रांतों पर[3]।

---

१. अथवा अनु-गंगा और प्रयाग (अनुगंगा प्रयाग च Puran Text पृ० ५३, पाद-टिप्पणी ५)।

२. अनुगंगं प्रयागं च साकेत मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

३. नैषधान् यदुकांश्चैव शैशितान् कालतोयकान्।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते (वायु० के अनुसार भोक्ष्यन्ति)
मणिधान्यजान्॥ (ब्रह्मांड०)

(ग) शासन करेंगे (भोक्ष्यन्ते) या पर शासन करेंगे (भोक्ष्यन्ति) कोशलों, आंध्रों (विष्णु-पुराण के अनुसार ओड्रों), पौंड्रों, समुद्र-तट के निवासियों सहित ताम्रलिप्तों और देवों द्वारा रक्षित (देव-रक्षिताम्) रमणीय राजधानी चंपा[1] पर।

(घ) शासन करेंगे गुह-प्रांतों (विष्णुपुराण के अनुसार गुहान्) कलिंग, माहिषिक और महेंद्र[2] के प्रांतों पर कलिंग, महिष और महेंद्र[3] का शासक गुह होगा (भोक्ष्यति के स्थान पर पालयिष्यति)।

विष्णुपुराण से भी यह बात प्रमाणित होती है कि साम्राज्य के उक्त तीनों अंतिम प्रांत क्रमशः मणिधान्यक (विष्णु०) अथवा किसी मणिधान्यज [मणिधान्य का वंशज (ब्रह्मांड०)] देव और गुह के शासनाधिकार में थे, क्योंकि विष्णुपुराण में भी इन प्रांतीय सरकारों के शासक यही तीनों व्यक्ति कहे गए हैं। इस सम्बंध में वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण दोनों का पाठ एक ही है और उनमें ये नाम कर्म कारक में रखे गए हैं और कर्त्ता कारक "गुप्तवंशजाः" होता है। इन प्रांतीय शासकों के नामों का इन प्रांतों के नामों के साथ विशेषण रूप में प्रयोग किया गया है; यथा—मणिधान्यजान् (ब्रह्मांड०), देव-रक्षिताम् (चंपा का

---

१ कोसलांश्चान्ध्र-पौंड्राश्च ताम्रलिप्तान् स-सागरान्।
चम्पां चैव पुरीं रम्यां भोक्ष्यन्ते(न्ति) देवरक्षिताम्॥ (वायु०)

२. कलिंगमाहिषिकमाहेन्द्रभौमान् गुहान् भोक्ष्यन्ति। (विष्णु०)

३. कलिंगा महिषाश्चैव महेन्द्रनिलयाश्च ये।
एतान् जनपदान् सर्वान् पालयिष्यति वै गुहः॥ (ब्रह्मांड० और वायु०)

विशेषण) और गुहान् (जो विष्णुपुराण मे भी इसी रूप मे मिलता है) ।

§ १२१. इसके उपरांत उस समय के नीचे लिखे राजवंशो के नाम दिए गए हैं जो गुप्त-वंश के अधीन नही थे—(क) कनक जिसका राज्य स्त्री-राष्ट्र, भोजक (ब्रह्मांड०), त्रैराज्य (विष्णु०), और मुषिका (विष्णु०) पर था ।

स्वतंत्र राज्य

(ख) सुराष्ट्र और अवंती के आभीर लोग ।

(ग) शूर लोग ।

(घ) अर्बुद के मालव लोग ।

इनमे से ख, ग और घ यद्यपि हिंदू और द्विज तो थे, परंतु व्रात्य (व्रात्यद्विजाः) थे और उनके राष्ट्रीय शासक (जनाधिपाः) बहुत कुछ शूद्रो के समान (शूद्रप्रायाः) थे ।

(ङ) सिंधु (सिंधु नदी के आस-पास का प्रदेश) और चंद्रभागा, कौंती (कच्छ) और काश्मीर ऐसे म्लेच्छो के अधिकार में थे जो अनार्य शुद्र थे (अथवा कुछ हस्तलिखित प्रतियो के अनुसार अंत्याः अथवा सबसे निम्न वर्ग के और अछूत थे)। ये लोग म्लेच्छ शूद्र थे, अर्थात् ऐसे म्लेच्छ (शको से अभिप्राय है) थे जो हिंदू धर्म-शास्त्रो के अनुसार शूद्रों का पद तो प्राप्त कर चुके थे, परंतु फिर भी म्लेच्छ (अर्थात् विदेशी) ही थे (§ १४६ ख)। इस अवसर पर पुराणो मे हिन्दू-शूद्रों से ये म्लेच्छ-शूद्र अलग रखे गए है। विष्णुपुराण मे तो इन्हे स्पष्ट रूप से म्लेच्छ शूद्र ही कहा है[1] । विष्णु पुराण मे सिंधु तट के उपरांत दार्विक

---

१. Puran Text पृ० ५५, पाद-टिप्पणी ३० ।

देश का भी नाम दिया गया है। और इसका पूर्वी अफगानिस्तान से अभिप्राय है, जिसमे आजकल दरवेश खेलवाले और दौर लोग निवास करते है, और जो खैबर के दर्रे से लेकर उसके पश्चिम ओर है। महाभारत में हमे दार्विक के स्थान पर "दार्वीच" रूप मिलता है[1]।

§ १७५. इस प्रकार पुराणो से हमे यह पता चलता है कि आर्यावर्त्त मे गुप्तो के अधीन जो प्रांत थे, उनके अतिरिक्त उनके तीन और ऐसे प्रांत थे जिन पर उनकी गुप्तों के अधीनस्थ प्रात ओर से नियुक्त गवर्नर या शासक शासन करते थे। इनमे से अतिम दो प्रांत (ग) और (घ) (देखो ऊपर पृ० २७२) दक्षिणी भारत मे थे। और दूसरा प्रांत (ऊपर पृ० २७२ का 'ख') भी विन्ध्यपर्वत के दक्षिण मे था। यह प्रात पश्चिम की ओर दक्षिणी-भारत के प्रवेश-द्वार पर था। हिंदू दृष्टि-कोण से यह प्रांत भी दक्षिणापथ मे ही अर्थात् विंध्य पर्वत के दक्षिण मे था, परंतु आजकल के शब्दो मे हम यहाँ इसे (१) डेकन प्रांत कहेगे। गवर्नरो या शासकों के द्वारा जिन प्रांतो का शासन होता था, उनमे यह प्रात विष्णुपुराण मे तीसरा प्रांत बतलाया गया है, परंतु वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण मे इसका नाम तीनो प्रांतो मे सबसे पहले आया है। विष्णुपुराण मे सबसे पहले (२) कोसल, उड़ीसा, बंगाल और चपा के प्रांत का नाम आया है और बाकी दोनों पुराणो मे कोसल आदि का प्रांत दूसरे नंबर पर है। और इसके उपरात सभी पुराणों के अनुसार (३) कलिंग-माहिषिक-महेंद्र प्रात है। भागवत की बात इन सबसे अलग

---

१. हॉल और विलसन द्वारा सपादित विष्णुपुराण, २,१७५ पाद-टिप्पणी।

ही है। उसमें तीनों प्रांतों के अलग-अलग नाम नहीं हैं; और जान पड़ता है कि उसमे "मेदिनी" शब्द के अंतर्गत ही सारे साम्राज्य का अंतर्भाव कर दिया गया है। उसमें कहा गया है—गोप्ता भोक्ष्यन्ति मेदिनीम्। अर्थात् गुप्त के वंशज (यह गोप्ताः (वास्तव मे संस्कृत गौप्ताः का प्राकृत रूप है) पृथ्वी का शासन करेंगे। साधारणतः पुराणों का जब किसी साम्राज्य से अभिप्राय होता है, तब वे मेदिनी, मही, पृथ्वी, वसुंधरा अथवा पृथ्वी के इसी प्रकार के किसी और पर्याय का प्रयोग करते है[1]। यदि हम विष्णुपुराण मे दिए हुए क्रम को देखते है तो हमे पता चलता है कि वह बिलकुल इलाहाबाद-वाले शिलालेख का ही क्रम है। एक ओर तो कोसल, ओड्र, पौंड्र ताम्रलिप्ति और समुद्र-तट का मेल शिलालेखवाले कोसल और महाकांतार (पंक्ति १६) से मिलता है[2] और दूसरी ओर सम-तट (पंक्ति २२) से मिलता है। जान

---

१. इस प्रयोग का समर्थन और स्पष्टीकरण इस बात से हो जाता है कि समुद्रगुप्त ने अपने इलाहाबादवाले शिलालेख (पंक्ति २४) में समस्त भारत के लिये पृथ्वी और धरणी शब्दो का प्रयोग किया है। इसका मतलब है—सारा देश। भागवत के वर्त्तमान पाठ में (अनुगंगामाप्रयागं गोप्ता भोक्ष्यन्ति मेदिनीम्) अनुगगा शब्द इस प्रकार आया है कि मानो वह मेदिनी का विशेष्य हो। कदाचित् इससे कर्त्ता यह सूचित करना चाहता था कि जो गुप्त लोग पहले अनुगगाप्रयाग के शासक थे, वे आगे चलकर सारे साम्राज्य का अथवा अनुगंगा-प्रयाग और साम्राज्य का भोग करने लगे थे।

२. महाभारत में कांतारकों के राज्य का जो स्थान निर्देश किया गया है, उससे पता चलता है कि वह भोजकट-पुर (बरार) से पूर्व कोसल तक वेणा (वैन-गंगा) की तराई के उस पार और पूर्वी कोसल (दक्षिणवाले पाठ के अनुसार प्राकोटक) से पहले पड़ता था।—

पड़ता है कि समुद्रगुप्त ने एक ऐसे प्रांत की सृष्टि की थी जिसकी राजधानी चंपा में थी और जिसका विस्तार मगध के दक्षिण-पूर्व से छोटा नागपुर होते हुए उड़ीसा और छत्तीसगढ़ के करद-राज्यों और ठेठ बस्तर तथा चाँदा जिले तक था। वायुपुराण में भी और ब्रह्मांडपुराण में भी आंध्र को कोसल के बाद रखा गया है। कोसला और मेकला के पुराने वाकाटक प्रांत में समुद्रगुप्त ने उड़ीसा और बंगाल को भी मिला दिया था और उन सबका शासन चंपा से होता था, जहाँ से बंगाल और कोसल के लिये रास्ते जाते थे और जहाँ से नदी के द्वारा सीधे ताम्रलिप्ति तक भी जाने का मार्ग था। चंपा का विशेषण देव-रक्षिता दिया गया है, जिसका कदाचित् यह अर्थ हो सकता है कि वह राजा देव के अधीन था (राज्याभिषेक से पहले चंद्रगुप्त द्वितीय का नाम देव था। देखो बि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १८, पृ० ३७)। मेहरौलीवाले स्तंभ में कहा गया है कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने वंगों पर विजय प्राप्त की थी; और इसका अर्थ यह हो सकता है कि जब वह वाइसराय या उपराज के रूप में शासन करता था, तब उसे एक युद्ध करना पड़ा था। जान पड़ता है कि अपने अभियान के कुछ ही दिन बाद समुद्रगुप्त ने समतट को भी अपने राज्य में मिला लिया था।

§ १२६. पुराणों से पता चलता है कि कलिंग-माहिषिकमहेंद्र[1]

सभापर्व ३१. १२। यह कांतारक वहीं था जहाँ आजकल कांकेर और बस्तर हैं। दूसरा कोसल (अर्थात् दक्षिणी कोसल) वही था जो आजकल का सारा चाँदा जिला है।

१ विष्णुपुराण की एक प्रति में माहिषिक के स्थान पर "माहेयकच्छ" लिखा हुआ मिलता है जिसका अर्थ होता है—मही (नदी) के तट। यह कदाचित् महानदी की तराई थी।

(अथवा महेंद्रभूमि) को मिलाकर एक ही प्रांत बना लिया गया था। इसका मिलान पंक्ति १६ के शिलालेखवाले विभागों से भी हो जाता है। महाकांतार के उपरांत कौराल है जो पुलकेशिन् द्वितीय का कौनाल जलाशय है. और यह पिठापुरम् के दक्षिण की वही झील है जो गोदावरी और कृष्णा नदियों के मध्य मे पड़ती है[1]। पिष्ठपुर, महेंद्रगिरि और कोट्टूर तीनों गंजाम जिले की पहाड़ी गढ़ियाँ हैं[2]। मोटे हिसाब से यह वही प्रांत है जिसे आजकल हम लोग पूर्वीय घाट कहते हैं और जिसका नाम ईस्ट इंडिया कंपनी के समय मे उत्तरी सरकार था, अर्थात् यह कृष्णा और महानदी के मध्य का प्रदेश है। पिष्ठपुर मे उस समय कलिंग की राजधानी थी और यह बात पिष्ठपुर और सिंहपुर मे राज्य करनेवाले मगध कुल के एक ऐसे अभिलेख में लिखी हुई मिलती है जो प्रायः उन्हीं दिनों उत्कीर्ण हुआ था[3]। इस मगध-

कलिंग का मगध-कुल

कुल के आरंभिक शासकों मे से एक तो शक्तिवर्म्मन् था और उसके उपरांत चंद्र-वर्म्मन् और उसका पुत्र विजयनंदिवर्म्मन् वहाँ शासन करता था। विजयनंदिवर्म्मन् ने अपना कुल-नाम मगध-कुल से बदलकर शालंकायनकुल रखा था। यह बात या

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ३. तेलगू भाषा मे पोलनु का अर्थ झील होता है।

२. वि० स्मिथ कृत Early History of India, पृ० ३०० (चौथा सं०)।

३. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ४, पृ० १४२, खंड १२, पृ० ४, खंड ६, पृ० ५६ और इंडियन एंटिक्वेरी, खंड ५, पृ० १७६।

तो स्कंदगुप्त के समय मे और या उसके वाद हुई होगी। हम देखते है कि विजयनंदिवर्म्मन् के एक उत्तराधिकारी (विजयदेववर्म्मन्) ने अश्वमेध यज्ञ भी कर डाला था अर्थात् उसने अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा भी कर दी थी। यह वात प्रायः निश्चित ही है कि जब परवर्त्ती वाकाटकों ने कलिंग पर विजय प्राप्त कर ली थी, तब वे गुप्तों के संबंधियों या उत्तराधिकारियों के रूप मे भी अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे और देश के इस भाग के स्वामी होने का अपना पुराना अधिकार भी जतलाते थे और उनका यह अधिकार-स्थापन अवश्य ही शालकायनो के मुकावले मे होता होगा। जान पड़ता है कि यह मगध-कुल वही था जिसे समुद्रगुप्त या उसके उत्तराधिकारी ने शासक करद या सामंत वंश के रूप मे नियुक्त किया था। ये लोग ब्राह्मण थे जो मगध से वहाँ भेजे गए थे। इस कुल के आरंभिक राजा अपने आज्ञापत्र आदि संस्कृत मे प्रचलित करते थे। इस कुल के प्रथम शासक का नाम गुह होगा, क्योंकि वायुपुराण और ब्रह्माडपुराण मे यही नाम आया है। इसका गुहान् या गुहम् रूप (जो विष्णुपुराण मे मिलता है) गुह शब्द के मौलिक कर्म कारक का ही अवशिष्ट है, जो इस प्रसंग मे वायुपुराण और ब्रह्माडपुराण मे नष्ट हो गया है और इसीलिये उनमें नहीं पाया जाता। लंका मे दाठा वंशो (History of Tooth Relic) नामक एक ग्रंथ प्रचलित है जिसमे महात्मा बुद्ध के दाँत के सबंध की अनेक अनुश्रुतियाँ हैं। यह ग्रंथ ई० चौथी शताब्दी का वना हुआ माना जाता है। इस ग्रंथ मे एक स्थान पर कहा गया है कि कलिंग का एक शासक, जिसका नाम गुह (गुह-शिव) था, समस्त भारत और उसके वाहर (जंबूद्वीप) के उस सम्राट् का करद और सामंत था जो पाटलिपुत्र मे

वैठकर राज्य करता था और वह ब्राह्मण या आर्य-धर्म का उपासक था[1]। जान पड़ता है कि असल में बात यह थी कि गुह उन दिनों समुद्रगुप्त की अधीनता मे और उसकी ओर से उस प्रदेश का शासन करता था।

गुप्त-साम्राज्य का दक्खिन प्रांत

§ १२६ क. गुप्त-साम्राज्य का तीसरा अधीनस्थ अंश विंध्य पर्वत के दक्षिण मे था और इसमें नैषध, यदुक, शैशिक और कालतोयक प्रांत सम्मिलित थे। माहिष्मती के बिलकुल पड़ोस में ही शैशिक था[2]। नैषध तो बरार था और यदुक देवगिरि (दौलताबाद) था; और इस विचार से हम कह सकते हैं कि साम्राज्य का उक्त प्रांत बालाघाट पर्वत-माला और सतपुडा के बीच मे अर्थात् ताप्ती नदी की तराई में था। महाभारत से पता चलता है कालतोय उन दिनों आभारों (गुजरात) और अपरांत के बीच में था[3]। यह प्रांत वाकाटक-साम्राज्य मे से लेकर बनाया गया था और इसका शासक कोई

---

१. दाठा वंशो J. P. T. S. १८८४, पृ० १०६, पद ७२-९४ और उसके आगे। यथा—"गुह शिवाह्वयो राजा" (७२) "तत्थ राजा महातेजो जम्बू-दीपस्य इस्सरो" (६१)। "तुह्यं सामन्त भूपालो गुह शिवो पनाधुना निन्दतोतादि से देवे छवत्थिम् वन्दते इति"। इसका आशय यह है कि पाटलिपुत्र के सम्राट् से इस बात की शिकायत की गई थी कि कलिंग पर शासन करनेवाला अपना सामन्त एक "मृत 'अस्थि" की पूजा करता है और आर्य-देवताओं की निंदा करता है।

२. विल्सन द्वारा संपादित विष्णुपुराण, खंड २, पृ० १६६-१६७

३. उक्त ग्रंथ, खंड २, पृ० १६७-१६८।

मणिधान्यक था जो मणिधान्य का पुत्र या वंशज था[1]। कदाचित आपस का मन-मुटाव मिट जाने पर यह प्रदेश पृथिवीपेण को दे दिया गया था, क्योंकि पृथिवीपेण ने कुंतल के राजा पर विजय प्राप्त की थी; और कुंतल के राजा के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध होने के लिये यह आवश्यक था कि पृथिवीपेण ही इस प्रांत का शासक होता[2]। चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल मे हम देखते हैं कि वाकाटक लोग वरार मे और वहाँ से शासन करते थे।

§ १२७. इसके वाद दक्षिणी भारत का वह प्रांत आता है जिसका शासक कनक नामक एक व्यक्ति था।

दक्षिणी स्वतंत्र राज्य

यह कनक भी किसी कुल का नाम नहीं है, वल्कि गुह की भाँति व्यक्ति का ही नाम है। यथा—

स्त्रीराष्ट्रम् भोजकांश्चैव भोक्ष्यते कनकाह्वय.। (विष्णु और ब्रह्मांड पु०)

"कनक नाम का शासक स्त्री-राष्ट्र और भोजको पर राज्य करेगा"[3]। विष्णुपुराण मे प्रांतो का और भी पूरी तरह से उल्लेख किया गया है। यथा—

---

१ महाभारत के अनुसार वाटधान्य और मणिधान्य आपस में पड़ोसी थे। दे० विल्सन द्वारा संपादित महाभारत, खंड २, पृ० १६७ (वाटधान=पाटहान=पठान)।

२. एपि० इ०, खंड९, पृ० २६६ A.S.W.R. खंड पृ० ४, १२५।

३. विष्णुपुराण में इसके लिये "भोक्ष्यति" शब्द आया है जिसका अर्थ होता है—"शासन करेगा" अथवा "दूसरो से शासन करावेगा।"

स्त्री-राज्य त्रै-राज्य मूषिक जानपदान् कनकाह्वयः भोक्ष्यति ।

मूषिक वह प्रदेश है जो मूसी नदी के आस पास पड़ता है; और यह मूसी नदी हैदराबाद से होकर दक्षिण की ओर बहती है। जान पड़ता है कि दक्षिणी मराठा प्रदेश का एक अंश ही भोजक था। त्रै-राज्य उन तीनों राज्यों का प्रसिद्ध वर्ग है जो दक्षिण में बहुत दिनों से चले आ रहे थे[1]। पुराणों में स्त्री-राज्य का उल्लेख सदा मूषिक देश के बाद ही और वनवास के साथ मिलता है और इसलिये हम समझते हैं कि यह वही कर्णाट या कुंतल प्रदेश है[2]।

राजा कनक

§ १२८. अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह बड़ा शासक कौन था जो तीन तामिल राज्यों पर प्रभुत्व रखता था और जो मूषिक देश से दक्षिणी कोकण तक का शासन करता या कराता था ? कनक नाम का यह व्यक्ति कौन था ? यह स्पष्ट ही है कि उस समय इस नये शासक ने पल्लवों को अधिकारच्युत कर दिया था। पौराणिक वर्णन के अनुसार यह कनक दक्षिण का प्रायः सम्राट्-सा था। इस वर्णन का संबंध केवल एक ही शासक-कुल के साथ हो सकता है और वह वही कदंब-कुल था, जिसकी उन्हीं दिनों स्थापना हुई थी। पल्लवों के ब्राह्मण सेनापति मयूरशर्म्मन् ने पल्लव सम्राट् (पल्लवेन्द्र) से एक अधीनस्थ और करद-राज्य प्राप्त किया था। उन दिनों

कनक या कान कौन था

1. देखो रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल, सन् १९०५, पृ० २६३ में फ्लीट का लेख। यथा—चोल पाण्ड्य केरल धरणीधर-त्रय

2. स्त्री-राज्य और कुंतल कदाचित् तामिल शब्दों के अनुवाद हैं।

दक्षिणी भारत मे कांची के पल्लव ही सबसे अधिक शक्तिशाली थे, जिन्हे समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। इन पल्लवो के पराजित होने पर कदाचित् मयूरशर्म्मन् ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। जान पड़ता है कि उसके पुत्र कंगवर्म्मन् ने समुद्रगुप्त को उत्तरी भारत का भी और दक्षिणी भारत का भी सम्राट् मानने से इन्कार कर दिया था और उसका विरोध किया था। कंगवर्म्मन् का समय सन् ३५० ई० के लगभग है[1]। ताल-

१. कदंब-कुल नामक ग्रंथ, पृ० १३-१८ में यह मानकर तिथियाँ दी गई हैं कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण पर जो विजयें प्राप्त की थीं, उन्हीं के फल-स्वरूप मयूरशर्म्मन् ने अपना राज्य आरंभ किया था। परंतु यह बात ठीक नहीं है। तालगुंडवाले अभिलेख में कहा गया है कि मयूर पहले एक राजनीतिक लुटेरा था और उसे पल्लव-सम्राट् से एक जागीर मिली थी जिसके वहाँ वह सेनापति के रूप मे काम करता था। पल्लव-सम्राट् ने उसे अपना सेनापति अभिषिक्त किया था (पट्टबंध-सपूजाम्, एपि० इ० ८, ३२. राजनीति-मयूखमें कहा गया है कि सेनापतियों का पट्टबंध होता था अर्थात् उनके सिर पर पगड़ी बाँधने की रसम होती थी)। उसके प्र-पौत्र ने तालगुंडवाला जो अभिलेख उत्कीर्ण कराया था, उसमें इस बात का कोई उल्लेख नही है कि मयूर ने कोई अश्वमेध यज्ञ किया था। कदाचित् उसने अपने जीवन के अंतिम काल मे ही राजा के रूप में शासन करना आरंभ किया था। मिलाओ A. R. S. M. १६२९, पृ० ५० सबसे पहले उसके पुत्र कंग ने ही वर्म्मन् वाली राजकीय उपाधि ग्रहण की थी। मयूरशर्म्मन् का समय सन् ३२५-३४५ ई० के लगभग और उसके पुत्र कंग का समय सन् ३४५—३६० के लगभग समझा जाना चाहिये। इसकी पुष्टि उस तिथि से भी होती है जो काकुस्थवर्म्मन् के उस ताम्रलेख में

गुंडवाले शिलालेख (एपि० इं० ८, ३५) में कहा गया है कि—
"उसने भीषण युद्धो मे वड़े वड़े विकट कार्य कर दिखलाए

है जो उसने अपने युवराज होने की अवस्था मे उत्कीर्ण कराया था। उस पर ८० वॉ वर्ष अंकित है। कदंबो ने कभी कोई अपना नया संवत् नहीं चलाया था। न तो उसी से पता चलता है कि यह ८० वॉ वर्ष किस संवत् का था और न उसके पहले या उसके वाद ही उस संवत् का कोई उल्लेख मिलता है। पृथिवीषेण ने कुंतल के राजा अर्थात् कदंब राजा पर विजय प्राप्त की थी और यह कदंब राजा कंग के सिवा और कोई नहीं हो सकता। स्वयं पृथिवीषेण भी उस समय समुद्रगुप्त के अधीन था और काकुस्थ ने अपनी एक कन्या का विवाह गुप्तों के साथ कर दिया था। अतः युवराज काकुस्थ ने जिस संवत् का व्यवहार किया था, वह अवश्य ही गुप्त संवत् होना चाहिए। सन् ४०० ई० (गुप्त संवत् ८०) मे काकुस्थ अपने वडे भाई रघु का युवराज था। इस प्रकार उसके वृद्ध प्रपिता का समय सन् ३२०-३४० या ३२५-३४५ ई० रहा होगा। और जिस कंग ने सिंहासन का परित्याग किया था, उसका समय सन् ३४०—३५५ या ३४५—३६० ई० होगा। और काकुस्थ का समय सन् ४१०-४३० ई० के लगभग होगा। कदंब-कुल मे मि० मोराएस (Mr Moraes) ने जो तिथियॉ दी हैं, वे लगभग २० वर्ष और पहले होनी चाहिएं।

अभी हाल में चंद्रवल्ली (चीतलद्रुग) की झील के पास मिला हुआ मयूरशर्म्मन् का शिलालेख देखना चाहिये, जिस पर उसके संबंध में केवल कदंबानाम् (विना किसी उपाधि के) लिखा है। Archaelogical Survey Report, Mysore १६२६, पृ० ५० और उस शिलालेख का शुद्ध किया हुआ पाठ देखो आगे परिशिष्ट "ख" में। उस शिलालेख में कोई मोकरि, पारियात्रिक या शक नहीं है।

थे और उसके राज-मुकुट पर उसके प्रांतीय सामंत चवर करते थे"। कंग को वाकाटक राजा पृथिवीपेण प्रथम ने परास्त किया था और इस पर कंग ने अपने राज-सिंहासन का परित्याग कर दिया था[1]। जान पडता है कि यह "कनक" शब्द तामिल 'कंग' का ही संस्कृत रूप है। विष्णुपुराण में इस पौराणिक नाम का एक दूसरा रूप 'कान' भी मिलता है[2]। जान पड़ता है कि जो पृथिवी-पेण उस समय समुद्रगुप्त का सामंत था, वह जब साम्राज्य का अधिकारी हुआ, तब उसने कंग को उपयुक्त दंड दिया था; और कंग को इसीलिये राज-सिंहासन का परित्याग करना पड़ा था कि वह अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता था और अपने प्रयत्न मे विफल हुआ था।

पौराणिक उल्लेख का समय और कान अथवा कानन का उदय

§ १२९. कान अथवा कनक अर्थात् कंग के उदय का समय निश्चित करने मे हमे पुराणों से सहायता मिलती है। पहले हमे यह देखना चाहिए कि वह कौन सा समय था, जब कि पुराण इस अवसर पर गुप्तों और उनके सम-कालीनो का उल्लेख कर रहे थे। यह उनके कालक्रमिक इतिहास का अंतिम विभाग है। उस समय तक मालव, आभीर, आवंत्य और शूर (यौधेय)[3] लोग साम्राज्य मे अंतर्भुक्त नहीं

---

१. कदंब-कुल, पृ० १७।

२. विलसन द्वारा सपादित विष्णुपुराण, खड ४, पृ० २२१ में हॉल (Hall) की लिखी टिप्पणी।

३. देखो आगे § १४६।

हुए थे और उन्होंने साम्राज्य की अधीनता नहीं स्वीकृत की थी। भागवत मे इनका उल्लेख स्वतंत्र राज्यों के रूप में हुआ है। वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण मे इनका नाम समुद्रगुप्त के प्रांतो की सूची मे नहीं है, और न इन पुराणो ने पंजाव को ही समुद्र-गुप्त के साम्राज्य के अंतर्गत रखा है। उन्होने आर्यावर्त्त मे केवल गंगा की तराई, अवध और विहार को ही गुप्तो के अधिकार में वतलाया है। गुप्तों के संवंध मे तो यह निश्चित ही है कि वे विंध्यशक्ति के सौ वर्ष वाद हुए थे; इसलिये पुराणों का काल-क्रमिक इतिहास सन् ३४८—३४९ पर पहुँचकर समाप्त होता है, और यह ठीक वही समय है जव कि रुद्रदेव अथवा रुद्रसेन वाकाटक की मृत्यु हुई थी। जिस ढंग से पुराणों में नागो का पूरा-पूरा इतिहास दिया गया है और वाकाटक-साम्राज्य तथा उसके उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त के साम्राज्य (जिसका विस्तार वाकाटक-साम्राज्य के ही विस्तार की तरह कोसला, मेकला, आंध्र, नैषध आदि तक था) का पूरा-पूरा उल्लेख किया गया है, उससे सूचित होता है कि उन्होंने अपने काल-क्रमिक इतिहास का यह अश, जो राजा रुद्रसेन की मृत्यु के साथ समाप्त होता है, वाका-टक राज्य मे ही और वाकाटक राजकीय कागज-पत्रों की सहा-यता से ही प्रस्तुत किया था। रुद्रसेन की मृत्यु सन् ३४८—३४९ ई० में हुई थी और गुप्त-कालीन भारत के पौराणिक इतिहास का यही समय है और इसीलिये स्वभावतः पुराणों मे समुद्रगुप्त के साम्राज्य का पूरा-पूरा चित्र नहीं दिया गया है और उनमें कहा गया है कि शक या यौन लोग उस समय तक सिंध, पश्चिमी पंजाव और अफगानिस्तान में राज्य कर रहे थे। इसलिये कंग के उदय का काल भी सन् ३४८—३४९ ई० के लगभग ही निश्चित होता है।

§ १३०. आर्यावर्त्त मे पहला युद्ध करने के उपरांत समुद्रगुप्त वस्तुतः वाकाटक साम्राज्य पर ही अधिकार करने लगा था। उसने अपना अभियान इस प्रकार आरंभ किया था कि पहले तो वह विहार से चल कर छोटा नागपुर होता हुआ कोसल की ओर गया था और तब वाकाटक साम्राज्य के दक्षिण-पूर्वी भागो से होता हुआ वह फिर लौटकर आर्यावर्त्त मे आ गया था। इस अवसर पर हम सुभीते से इस बात का पता लगा सकते है कि समुद्रगुप्त जब विजय करने निकला था, तब वह किन-किन मार्गों से होकर आगे वढ़ा था। इसलिये इस अवसर पर हम प्रजातंत्रो और सिध, काश्मीर तथा अफगानिस्तान के म्लेच्छ राज्यो का वर्णन छोड़ देते हैं और अगले प्रकरण मे समुद्र-गुप्त के युद्धो की मुख्य-मुख्य बाते बतला देना चाहते है।

समुद्रगुप्त और वाकाटक साम्राज्य

१३. आर्यावर्त्त और दक्षिण में समुद्रगुप्त के युद्ध

§ १३१. इलाहाबादवाले शिलालेख के अनुसार आर्यावर्त्त मे समुद्रगुप्त के युद्ध दो भागों मे विभक्त थे। पहले भाग मे तो वे युद्ध आते हैं जो दक्षिणी भारतवाले अभियान के पहले हुए थे और दूसरे भाग मे वे युद्ध हैं जो उक्त अभियान के बाद हुए थे। इन्हीं युद्धों के परिणामस्वरूप उस गुप्त-साम्राज्य की स्थापना हुई थी जिसका चित्र पुराणों मे अंकित है। यह चित्र बहुत कुछ ठीक और बिलकुल पूरा-पूरा है और इसमे साम्राज्य के तीनो प्रांतों का उल्लेख है (देखो § १७५); और साथ ही साम्राज्य के उस मुख्य भाग का भी उल्लेख है जिसमे अनु-गंगा-प्रयाग और मगध का प्रांत था।

समुद्रगुप्त के तीन युद्ध

§ १३२. समुद्रगुप्त ने सबसे पहला काम तो यह किया था कि एक स्थान पर उसने जमकर युद्ध किया था जिसमें दो अथवा कदाचित् तीन राजाओं (अच्युत, नागसेन और गणपति नाग) को परास्त किया था; और इसी युद्ध से उसके राजनीतिक सौभाग्य ने पलटा खाया था और उसके साम्राज्य की नींव पड़ी थी। इस युद्ध का तात्कालिक परिणाम यह हुआ था कि कोट-वंश के राजा को (जिसका नाम श्लोक में नहीं दिया गया है) उसके सैनिकों ने पकड़ लिया था और उसने फिर से पुष्पपुर में प्रवेश किया था। इलाहाबाद वाले स्तंभ के अभिलेख की १३वीं और १४ वीं पंक्तियों में ७ वें श्लोक में इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

कौशाम्बी का युद्ध

उद्वेलोदित-बाहु-वीर्य-रभसाद् एकेन येन क्षणाद् उन्मूल्य अाच्युत नागसेन ग......

दण्डैरग्राहयत् एव कोट-कुलजम् पुष्प-आह्वये क्रीडता सूर्येन... तत......।

ग के बाद के अक्षर मिट गए हैं, परंतु कदाचित् वह नाम गणपति......होगा। क्योंकि अंत में जो "ग" बचा रह गया है, उसके विचार से भी और छंद के विचार से भी यही जान पड़ता है कि वह शब्द गणपति होगा। आगे चलकर २१ वीं पंक्ति में जो वर्गीकरण हुआ है और जो गद्य में है, उसमें भी यही बात ठीक जान पड़ती है। उसमें नागसेन-अच्युत-वाले वर्ग का गणपति नाग से आरंभ हुआ है। यथा—

गणपति-नाग-नागसेन-अच्युत-नंदी-बलवर्म्मा।

इस वर्ग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति गणपति नाग है। युद्ध का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ था कि पाटलिपुत्र पर समुद्रगुप्त का सहज में अधिकार हो गया था और कोट-वंश का राजा भी युद्ध मे पकड़ा गया था। यह युद्ध मुख्यतः मगध पर फिर से अधिकार करने के लिये ही हुआ होगा। स्वयं समुद्रगुप्त ने कोट के वंशज को नहीं पकड़ा था, जो उस समय पाटलिपुत्र का शासक था। इसलिये हम यह मान सकते है कि एक सेना ने तो पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया होगा अथवा घेरा डाला होगा, और पाटलिपुत्र के अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान पर अथवा पाटलिपुत्र से कुछ दूरी पर समुद्रगुप्त ने नागसेन और अच्युत के साथ और कदाचित् गणपति के साथ भी युद्ध किया होगा। अब हमें सिक्कों से भी और भाव-शतक से भी, जो गणपति नाग के शासन-काल मे लिखा गया था (देखो § ३१) यह पता चलता है कि गणपति नाग मालवा का शासक (धारा-धीश) था और उसकी राजधानी पद्मावती मे थी और कदाचित् एक दूसरी राजधानी धारा मे भी थी। शिलालेख की २१ वी पंक्ति मे अच्युत-नंदी का पूरा-पूरा नाम आया है और अहिच्छत्र मे अच्युत का सिक्का भी मिला है, और उस सिक्के पर वही मत्र चिह्न है जो पद्मावती के नाग सिक्कों पर पाए जाते हैं और उसकी बनावट भी उन्हीं सिक्कों की सी है, और इससे यह जान पड़ता है कि वह नागों की ही एक शाखा मे से था। नागसेन संभवतः मथुरा के कीर्त्तिषेण का पुत्र था[1] और

१. इस नागसेन को पद्मावती के उस नागसेन से अलग समझना चाहिए जो नागवंश का था और जिसका उल्लेख बाण ने अपने हर्ष-चरित में किया है, क्योंकि पद्मावतीवाले इस नागसेन की मृत्यु किसी

मगध तथा पाटलिपुत्र के राजा कल्याणवर्म्मन का श्वसुर था[1]। इसी कल्याणवर्म्मन् ने पाटलिपुत्र के चंडसेन को अधिकार-च्युत करके उस पर अपना अधिकार स्थापित किया था और मथुरा के राजा के साथ इसका संबंध था, और इस प्रकार यह नाग-वाकाटकों के संघ मे सम्मिलित था। और भाव-शतक से पता चलता है कि गणपति एक बहुत अच्छा योद्धा और नागो का नेता था, और इसलिये हमे बहुत कुछ संभावना इस बात की जान पड़ती है कि इसी गणपति की अधीनता या नेतृत्व मे नागसेन और अच्युतनंदी ने समुद्रगुप्त के साथ जमकर युद्ध किया था। ये लोग पाटलिपुत्र-वालो की सहायता करने के लिये अपने अपने स्थान से चले होगे। जिस स्थान पर अहिच्छत्र, मथुरा और पद्मावती के राजा या शासक लोग सुभीते से एकत्र होकर समुद्रगुप्त के साथ युद्ध कर सकते थे, वह स्थान कौशांबी या इलाहाबाद हो सकता है; और बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि यह युद्ध कौशांबी में हुआ होगा, क्योंकि पाटलिपुत्र के लिये पुराना राजमार्ग कौशांबी से ही होकर जाता था। कौशांबीवाले स्तंभ में इस विजय की जो घोषणा की गई है, उससे यही अभिप्राय प्रकट होता हुआ जान पड़ता है। प्रशस्ति इसी स्तंभ पर उत्कीर्ण होने को थी, जैसा कि ३०वीं पक्ति में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

बाहुरयम् उच्छ्तः स्तम्भः।

युद्धक्षेत्र में नहीं हुई थी, बल्कि एक राजनीतिक षड्यंत्र के कारण पद्मावती में ही इसकी मृत्यु हुई थी। इसका कोई सिक्का नहीं मिला है। जान पड़ता है कि यह गुप्तों का कोई अधीनस्थ सरदार था।

१. कौमुदी-महोत्सव, अंक ४।

उक्त तीनों शासक या उप-राज युद्ध-क्षेत्र मे एक ही दिन (क्षणात्) मारे गए थे।

§ १३३. यह युद्ध सन् ३४४-४५ ई० मे या उसके लगभग और वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के उपरांत तुरंत ही हुआ होगा। इस युद्ध के कारण गगा की तराई का बहुत बड़ा प्रदेश समुद्रगुप्त के अधिकार मे आ गया था। अवध तो पहले से ही उसके अधिकार मे था और वही उसका केंद्र था। अब उसके राज्य का विस्तार पश्चिम मे हरद्वार और शिवालिक तक और पूर्व मे यदि बंगाल तक नही तो कम से कम इलाहाबाद से भागलपुर तक का प्रदेश अवश्य ही उसके अधीन हो गया था; और पुराणों में जो यह कहा गया है कि पौंड्र पर भी उसका अधिकार हो गया था, उससे सूचित होता है कि संभवतः बंगाल भी उसके साम्राज्य मे मिल गया था। कदाचित् यमुना की तराई को तो उसने उस समय के लिये छोड़ दिया था और मगध मे उसने अपनी शक्ति का बहुत अच्छी तरह संघटन किया था, और तब वाकाटक साम्राज्य के दक्षिण-पूर्वी भाग पर आक्रमण करना निश्चित किया था। उस समय तक वाकाटको का केंद्र किलकिला प्रदेश मे ही था और उनके साम्राज्य का दक्षिण-पूर्वी भाग उस केंद्र से बहुत दूर पड़ता था। परंतु समुद्रगुप्त के लिये वह छोटा नागपुर से बहुत पास पड़ता था। जान पड़ता है कि वाकाटक लोग अपने कोसला-मेकला प्रांतों का शासन मध्य-प्रदेश मे ही रहकर करते थे। यदि हम और सैनिक बातों तथा सुभीतो का ध्यान छोड भी दें, तो भी हम कह सकते हैं कि समुद्रगुप्त वाकाटक साम्राज्य के उक्त भाग में केवल गड़बड़ी ही नही पैदा कर सकता

दूसरा काम

था, बल्कि कोसला, मेकला और आंध्र में वाकाटकों पर आक्रमण करके वाकाटक सम्राट् को बिलकुल लाचार भी कर सकता था। उन दिनों पल्लवों के हाथ में बहुत कुछ सुरक्षित और महत्त्वपूर्ण प्रदेश था और वे वाकाटकों की एक शाखा में से ही थे; और इसलिये वे वाकाटक सम्राट् के अधीन भी थे और उससे मेल भी रखते थे। उससे पहलेवाले वाकाटक सम्राट् ने जो चार अश्वमेध यज्ञ किए थे, उनके कारण वाकाटकों का भारत की चारों दिशाओं में अधिकार हो गया था। परंतु समुद्रगुप्त दक्षिणवालों को दबाने का उतना प्रयत्न नहीं करता था, जितना उन्हें शांत और संतुष्ट रखने का प्रयत्न करता था। वह वहाँ के शासकों को पकड़कर छोड़ दिया करता था; और केवल कोसला और मेकला को छोड़कर जो वाकाटक साम्राज्य के अंतर्भुक्त अंग तथा प्रदेश थे, उसने दक्षिण के और किसी प्रदेश को अपने राज्य में नहीं मिलाया था। कलिंग में उसने अपना एक नया करद और सामंत राज्य स्थापित किया था और इसीलिये यह जान पड़ता है कि दक्षिण में उसका अधिकार बहुत जल्दी जल्दी बढ़ा होगा। साथ ही दक्षिणी भारत उसके लिये बहुत अधिक लाभदायक भी था। सारा उत्तरी भारत सोने से भर गया था और संभवतः यह सारा सोना दक्षिणी भारत से ही यहाँ आया था। समुद्रगुप्त सिर्फ सोने के ही सिक्के तैयार कराता था; और कुछ दिनों बाद अपने एक अश्वमेध यज्ञ के समय उसने सोने के इतने अधिक सिक्के तैयार कराए थे, जो खूब उदारतापूर्वक बाँटे गए थे और इतने अधिक बाँटे गए थे, जितने पहले कभी नहीं बाँटे गए थे।

§ १३४. यह बात नहीं मानी जा सकती कि इलाहाबाद वाले शिलालेख में दक्षिणी भारत के राजाओं और सरदारों के जो नाम

दक्षिणी भारत की विजय

मिलते हैं, वे यों ही और बिना किसी उद्देश्य के सिर्फ मनमाने तौर पर गिना दिए गए थे। उसका लेखक हरिषेण था जो समुद्रगुप्त के सेनापतियों में से एक था, जिसका सम्राट् के साथ बहुत ही घनिष्ठ संबंध था और जो शांति तथा युद्ध-विभाग का मंत्री था। उसके संबंध में यही आशा की जाती है कि उसने अपने स्वामी की विजयों का बिलकुल ठीक ठीक और पूरा लेखा ही रखा होगा। वह एक ऐसा इतिहास प्रस्तुत कर रहा था जो अशोक-स्तंभ पर सदा के लिये प्रकाशित किया जाने को था। उसने सारे भारत की विजयों आदि को दक्षिणी, उत्तरी, पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी इन चार भागों में विभक्त किया था और वह एक भौगोलिक योजना का बिलकुल ठीक अनुसरण कर रहा था। उसमें जो अनेक नाम आए हैं वे मनमाने तौर पर और बिना किसी कारण के नहीं रखे जा सकते थे। इसके सिवा हम यह भी समझ सकते हैं कि उसने जो लेख प्रस्तुत किया था, वह अवश्य ही सम्राट् को दिखलाकर उससे स्वीकृत भी करा लिया गया होगा, क्योंकि जिस समय वह लेख प्रकाशित हुआ था, उस समय सम्राट् जीवित था[1]। कांची, अवमुक्त, वेंगी और पलक्क एक विभाग में हैं। "पलक्कड" के रूप में पलक्क का उल्लेख पल्लव अभिलेखों में कई स्थानों में मिलता है[2] जिनका

---

१. देखो ऊपर पृ० १६५ की पाद-टिप्पणी १, साथ ही देखो रा० ए० सो० के जरनल, सन् १८९८, पृ० ३८६ में बुह्लर की सम्मति जिससे मैं पूरी तरह से सहमत हूँ।

२. इ० ए०, खंड ५, पृ०, ५१-५२, १५५; साथ ही देखो एपि० इं० खंड ८, पृ० १५६, (कड का अर्थ होता है—स्थान।—पृ० १६१)

संबंध गंटूर जिले के दानो से है, और साथ ही उन अभिलेखों मे वेग राष्ट्र का भी उल्लेख आया है जो समुद्रगुप्त का वेगी ही है और जो गोदावरी तथा कृष्णा के बीच मे था।

§ १३५. साधारणतः यही समझा जाता है कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर जो अभियान किया था, वह दिग्विजय करने के लिये किया था। पर वास्तव मे यह बात नही है। वह तो वाकाटक शक्ति को दबाने के लिये एक सैनिक उद्योग था, और इसकी आवश्यकता इसलिये पड़ी थी कि समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त्त मे जो पहला युद्ध किया था, उसमे गणपति नाग, अच्युतनंदी और नागसेन मारे गए थे। वाकाटक शक्ति का दूसरा केंद्र आंध्र-देश मे था और वहाँ की राजधानी दशनपुर[1] से वाकाटको की छोटी शाखा दक्षिण पर पल्लव सम्राटो (पल्लवेंद्र)[2] के रूप मे शासन करती थी। और यह शाखा तामिल प्रदेश के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राज्य चोल की राजधानी कांची तक पहुँच गई थी जो सुदूर दक्षिण मे था। दक्षिण पर आक्रमण करने का समुद्रगुप्त का एकमात्र उद्देश्य यही था कि पल्लवो की सेना का पराभव किया जाय। वह सोचता था कि वाकाटको के सैनिक नेताओ (गणपति नाग आदि) को जो मैने उत्तरी भारत मे युद्ध मे मार डाला है, यदि उसका

---

१. देखो एपि० इ०, १, ३६७ जहाँ इसे अधिष्ठान या राजधानी कहा गया है। साथ ही देखो इ० ए० ५, १५४ मे फ्लीट का लेख। परवर्त्ती शिलालेख मे इसे फिर राजधानी (विजयदशनपुर) कहा गया है।

२. इनके लिये इनके गग और कदब दोनो ही वर्गों के सामतो ने इसी उपाधि का प्रयोग किया है। एपि० इं० १४, १३१ और ८, ३२।

बदला चुकाने के लिये पल्लव लोग अपने सेनापतियों और सामंतों को लेकर दक्षिण की ओर से चढ़ाई करेंगे और इधर बुंदेलखंड से रुद्रसेन आकर बिहार पर आक्रमण करेगा, तो मैं बीच में दोनों ओर से भारी विपत्तियों में फँस जाऊँगा। इसी बात को बचाने के लिये समुद्रगुप्त ने यह सोचा होगा कि पहले पल्लवों और उनके सहायकों आदि से ही एक एक करके निपट लेना चाहिए। वह बहुत तेज़ी से छोटा नागपुर सभलपुर और बस्तर होता हुआ सीधा वेगी जा पहुँचा जो पल्लवों का मूल केंद्र था और कोलायर झील के किनारेवाले युद्ध-क्षेत्र में जा डटा। यह बहुत पुराना रास्ता है जो सीधा आंध्र देश को जाता है। समुद्रगुप्त पूर्वी समुद्र तटवाले मार्ग से नहीं गया था, क्योंकि उसके मंत्री हरिषेण ने दक्षिणी बंगाल और उड़ीसा के किसी नगर या कस्बे का उल्लेख नहीं किया है। इसी कोलायर झील के किनारे फिर सातवीं शताब्दी में राजा पुलकेशिन् द्वितीय के समय में एक भीषण युद्ध हुआ था[1] समुद्रगुप्त के मंत्री और सेनापति हरिषेण ने अपनी सूची में जिन शासकों के नाम गिनाए हैं, यदि उन पर हम विचार करें तो तुरंत पता चल जाता है कि ये सब शासक और राजा लोग आंध्र तथा कलिंग प्रदेश के ही थे जो कुराल् या कोलायर झील के आस-पास पड़ते थे। जान पड़ता है कि वे एक साथ मिलकर ही समुद्रगुप्त का सामना करने के लिये आए थे (देखो § १३५ क) और वहीं वह अंतिम निपटारा करनेवाला युद्ध हुआ था[2]। उस समय समुगुप्त ने कोई बहुत अच्छी साम-

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, ६, पृ० ३ और ६।

२. यह सूची (पंक्ति १६) इस प्रकार है—(१) कौसलक माहेंद्र, (२) महाकांतारक व्याघ्रराज; (३) कौरालक मण्टराज, (४)

रिक चाल चली होगी, क्योंकि पल्लवो के सभी नेता चारो ओर से समुद्रगुप्त की सेनाओ से घिर गए थे। उनका सारा संघटन छिन्न-भिन्न हो गया और उन सब लोगो ने आत्म-समर्पण कर दिया। समुद्रगुप्त ने उनके साथ कुछ शर्ते तै करके फिर उनको स्वतंत्र कर दिया। अब समुद्रगुप्त उस स्थान से, जो बेजवादा और राजमहेंद्री के बीच मे था, लौट पड़ा। उसे कांची तक जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी और न उस समय उसे पूर्वी समुद्र-तट अथवा पश्चिमी समुद्र-तट के किसी दूसरे दक्षिणी राज्य से कोई मतलब था। पल्लव वर्ग के सब राजाओ को परास्त करके और उदारता तथा नीतिपूर्वक उन पर विजय प्राप्त करके और उन्हे वाकाटको की अधीनता से निकालकर और उनसे अलग करके तुरंत ही जल्दी जल्दी चलकर बिहार लौट आया। वहाँ से लौटने पर उसने रुद्रदेव पर चढ़ाई की। यह रुद्रदेव भी उसी प्रकार वीरतापूर्वक लड़ा था, जिस प्रकार वीरतापूर्वक उसके उत्तरी अधीनस्थो मे से प्रत्येक राजा लड़ा था और अपने उन सहायको के साथ वह युद्ध-क्षेत्र मे मारा गया था। कदाचित् उसकी मृत्यु एरन के युद्धक्षेत्र मे हुई थी (देखो § १३७)।

§ १३५ क. अपने संभलपुरवाले मार्ग में समुद्रगुप्त कोसल से

पिष्ठपुरक महेंद्रगिरिक-कौट्टूरक स्वामिदत्त; (५) एरंड-पल्लक दमन, (६) काञ्चेयक विष्णुगोप, (७) आवमुक्तक नीलराज; (८) वैंगेयक हस्तिवर्म्मन; (९) पालक्कक उग्रसेन, (१०) दैवराष्ट्रक कुवेर, (११) कौस्थलपुरक धनंजय; प्रभृति सर्व-दक्षिणापथ-राज; आदि आदि।

होकर गया था और तब वह वहाँ से महाकांतार गया था; और महाभारत के आधार पर हम पहले यह बतला चुके हैं कि यह वही प्रदेश था जो आजकल का कॉकेर और बस्तर है। इसके उपरांत वह कुराल पहुँचा था। वह अवश्य ही वेंगी से होता हुआ गया होगा[1] परंतु वेंगी के शासक का नाम कलिंग की राजधानी पिष्टपुर के शासक के नाम के बाद दिया गया है, और यह कलिंग गोदावरी जिले मे था। पिष्टपुर के इस शासक (स्वामिदत्त) के अधिकार मे महेंद्रगिरि और कोट्टूर की पहाड़ी गढ़ियों के आस-पास दो और छोटे प्रदेश या जिले थे जो आजकल के गंजाम जिले में थे। गंजाम जिले मे ही कलिंगनगर (मुखलिंगम्) के पास ही कलिंग देश का एरंडपल्ली नामक कस्बा था जिसका उल्लेख देवेंद्रवर्म्मन्‌वाले उस ताम्रलेख में भी है जो चिकाकोल के निकट सिद्धांतम् नामक स्थान मे पाया गया है (देखो एपि० इं०, खंड १३, पृ० २१२)। यह प्रदेश अवश्य ही पिष्टपुर के स्वामिदत्त के अधीन रहा होगा और एरंडपल्ली का दमन एक "राजा" या उसी प्रकार का शासक रहा होगा, जिस प्रकार आजकल किसी जिले के अफसर या प्रधान अधिकारी हुआ करते हैं। इसी के बाद कांची के शासक विष्णुगोप का नाम आया है जो उस समय अपने बड़े भाई सिंहवर्म्मन् प्रथम का युवराज था अथवा उसके पुत्र कांचीवाले सिंहवर्म्मन् द्वितीय का अभिभावक था। एरंडपल्ली से कांची बहुत दूर पड़ती है। यदि

---

१. गोदावरी जिले के एल्लोर नामक नगर के पास जो इसका स्थान निर्देश हुआ है, उसके लिये देखो एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ५६।

हम यह मान लें कि कांची और एरंडपल्ली दोनों मिलकर एक ही थी और एक ही स्थान पर थी, तभी यह कथन संगत हो सकता है। इसके उपरांत आवमुक्त या अवमुक्त के शासक का नाम आया है। आव देश अथवा आव लोगों की राजधानी गोदावरी के पास पिठुंड मे थी। आव और पिठुंड का नाम हाथीगुम्फावाले शिलालेख मे आया है[1]। इसके उपरांत वेगी के शासक का नाम आया है और इस वेगी प्रदेश को समुद्रगुप्त ने पहले ही महाकांतार से कुराल की ओर जाते समय पार किया था। यदि यह मान लिया जाय कि समुद्रगुप्त कांची गया था, तो वह रास्ते मे बिना वेगी के शासक का मुकाबला किए किसी तरह कांची पहुँच ही नहीं सकता था। और यह इस बात का एक और प्रमाण है कि ये सभी लड़नेवाले एक ही स्थान पर एकत्र हुए थे। जैसा कि अभी ऊपर बतलाया जा चुका है, पलक्क वही स्थान है जहाँ से आरंभिक पल्लवो ने गंटूर जिले में और बेजवादा के आस-पास कई जमीने दान की थीं। दानपत्रो मे जो "पलक्कड" शब्द आया है, वह इसी पलक्क का दूसरा रूप है। यह नगर कृष्णा नदी के कहीं पास ही आंध्र देश मे था। इसके बादवाले शासक के स्थान का नाम देवराष्ट्र आया है और इससे भी यही सिद्ध होता है कि वे सब राजा लोग एक ही स्थान पर एकत्र हुए थे। चालुक्य भीम प्रथम[2] के एक ताम्रलेख के अनुसार यह देवराष्ट्र एलमंची कलिंग देश (आधुनिक येलमतिल्ली) का एक जिला (विषय)

---

१ एपि० इं०, २०, ७९, पंक्ति ११ और बि० उ० रि० सो० का जरनल, खड १४, पृ० १५१।

२. Madras Report on Epigrapy, १९०९, पृ० १०८-१०९।

था; और इस चालुक्य भीम प्रथम का एक दूसरा ताम्रलेख बेजवादा मे पाया गया था। इसी प्रकार कुस्थलपुर भी उसी प्रदेश का कोई जिला या विषय रहा होगा, यद्यपि इसका नाम अभी तक और किसी लेख आदि में नही मिला है। कदाचित् कोसल और महाकातार के शासकों को छोड़कर ये सभी सैनिक सरदार—स्वामिदत्त और विष्णुगोप सरीखे राजाओं से लेकर जिले के अधिकारियों तक जिन पर चढ़ दौड़ने का कष्ट कोई विजेता न उठावेगा—सब एक साथ ही लड़ने के लिये इकट्ठे हुए थे और सबने एक ही युद्धक्षेत्र मे खड़े होकर युद्ध किया था। उक्त सूची मे नामों का जो क्रम दिया गया है, वह या तो इस बात का सूचक है कि ये सब राजा और जिलों के अधिकारी युद्ध-क्षेत्र मे किस क्रम से खड़े हुए थे और या इस बात का सूचक है कि उन्होंने किस क्रम से आत्म-समर्पण किया था। यहाँ इनका महत्त्व शासकों के रूप मे नही है, बल्कि योद्धाओं और सैनिक नेताओं के रूप मे है। जान पड़ता है कि ये लोग दो मुख्य नेताओं की अधीनता मे बँटे हुए थे। इनके नामों के आगे जो अंक दिए गए हैं, वे इलाहाबादवाले शिलालेख मे दिए हुए उनके क्रम के सूचक हैं। (देखो § १३५ पृ० २६८ मे पाद-टिप्पणी २।)

१		२
(३) कुराल का मण्टराज नेतृत्व करता था	और	(६) कांची का विष्णुगोप नेतृत्व करता था
(४) स्वामिदत्त और		(७) अवमुक्त के नीलराज,
(५) एरंडपल्ली के दमन का		(८) वेंगी के हस्तिवर्म्मन्,
		(९) पलक्क के उग्रसेन,

(१०) देवराष्ट्र के कुबेर
और
(११) कुस्थलपुर के धनंजय
का।

मुख्य सेना विष्णुगोप के अधीन थी जिसके पार्श्वों में कलिंग सेनाएँ थी। इस युद्ध को हम कुराल का युद्ध कह सकते है। इस युद्ध के द्वारा सममुद्रगुप्त ने वाकाटकों के कोसला, मेकला और आंध्र प्रांतो पर विजय प्राप्त की थी। समुद्रगुप्त लौटते समय भी उसी कोसलवाले मार्ग से ही आया था, क्योंकि हरिषेण ने और देशों का उल्लेख नहीं किया है। यह युद्ध कौशांबीवाले युद्ध (सन् ३४४ ई०) के कुछ ही दिन बाद हुआ होगा। यह युद्ध सन् ३४५-३४६ ई० के लगभग हुआ होगा। हम कह सकते है कि खारवेल की तरह समुद्रगुप्त ने भी औसत हर दूसरे वर्ष (सन् ३४४ से ३४८ ई० तक) युद्ध किए होगे। वह वर्षा ऋतु के उपरांत पटने से चलता होगा और उसी वर्ष फिर लौटकर पटने आ जाता होगा[१]।

§ १३६. दक्षिणी भारत से लौटने पर समुद्रगुप्त ने वाकाटकों के असली केंद्र या उनके निवास के प्रांत पर आक्रमण किया था

१. कौटिल्य (अ० १३०) ने कहा है कि साधारण सेना एक दिन एक योजन (सात मील) सहज मे और सुखपूर्वक चल सकती है, अच्छी सेना एक दिन मे डेढ योजन और सबसे अच्छी सेना दो योजन तक चल सकती है। कनिंघम ने अच्छी तरह इस बात का पता लगा लिया है कि एक योजन सात मील का होता था। परतु समुद्रगुप्त का अभियान अवश्य ही और भी अधिक द्रुत गति से हुआ होगा।

जो यमुना और विदिशा के बीच में था और जिसे आज-कल बुंदेलखंड कहते है। इस आर्यावर्त-युद्ध के कारण समुद्रगुप्त का (आर्यावर्त्त के) आटवी शासकों पर प्रभुत्व स्थापित हो गया था, अर्थात् बघेलखंड के विन्ध्य प्रांतो और पूर्वी बुंदेलखंड पर उसका राज्य हो गया था। इसलिए हम कह सकते है कि यह युद्ध आर्यावर्त्त के विन्ध्य प्रांतो अर्थात् बुंदेलखंड मे उसके आस-पास हुआ था। पन्ना की पहाड़ियों मे युद्ध करना एक मुश्किल काम है और सैनिक नेता साधारणत: ऐसे युद्धों से बचते है। बुंदेलखंड की दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर भिलसा (विदिशा) (पूर्वी मालवा) प्रदेश पड़ता है। और पूर्वी मालवा की ओर से बुंदेलखंड में सहज मे प्रवेश किया जा सकता है, क्योंकि गंगा की तराई से चलकर बेतवा या चंबल को पार करते हुए बुंदेलखंड मे जाने के लिये पहले भी अच्छी और साफ सड़क थी और अब भी है। किलकिला-विदिशा के प्रांत पर समुद्रगुप्त ने उसी सम-तल प्रदेश में होकर आक्रमण किया होगा जो आज-कल अधिकांश मे ग्वालियर राज्य मे है और जिस रास्ते से मराठे हिंदुस्तान में आया करते थे। जान पड़ता है कि यह युद्ध एरन में हुआ था। हम जिन कारणों से इस परिणाम पर पहुँचे है, वे नीचे दिए जाते हैं।

दूसरा आर्यावर्त्त युद्ध

§ १३७. समुद्रगुप्त ने अपने स्मृति-चिह्न उसी एरन नामक स्थान पर बनवाए थे, जो वाकाटकों के रहने के प्रदेश के मध्य मे पड़ता है, और इसी से हम यह बात निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह विजय करता हुआ वाकाटक प्रदेश मे पहुँचा था। इसके बादवाले वाकाटक राजा पृथिवीषेण प्रथम के शासनकाल

एरन का युद्ध

मे हम देखते हैं कि बुंदेलखड उस समय तक वाकाटको के अधिकार मे था। एरन के ठीक दक्षिण मे भी और पूर्व मे भी कई प्रजातंत्र राज्य थे (देखो § १४५)। एरन पर समुद्रगुप्त प्रत्यक्ष रूप से तो शासन करता ही नहीं था, लेकिन फिर भी वहाँ उसने विष्णु का जो मंदिर बनवाया था, उससे कई बातों का पता चलता है। एरनवाले शिलालेख से पता चलता है कि उस समय तक समुद्रगुप्तने "महाराजाधिराज" की उपाधि नहीं ग्रहण की थी और उसमे उसकी निश्चित वंशावली नहीं दी है। परंतु उसकी २१ वीं से २६ वी पंक्ति मे जो छठा और सातवाँ श्लोक दिया गया है, उससे पता चलता है कि वहाँ पर समुद्रगुप्त ने एक सैनिक विजय के उपरांत युद्ध का वैसा ही स्मृति-चिन्ह बनवाया था, जैसा आगे चलकर उसके पोते ने भीतरी नामक स्थान में बनवाया था। यह अभिलेख इलाहाबादवाले स्तंभ के अभिलेख से पहले का है। इस शिलालेख के "अंतक" शब्द पर खास जोर दिया गया है और कहा गया है कि सभी राजा (पार्थिवगणस् सकलः) पराजित हुए थे और राज्याधिकार से वंचित हो गए थे, और यह भी कहा गया है कि वहाँ राजा समुद्रगुप्त का "अभिषेक" हुआ था। उसमे समुद्रगुप्त का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि उसकी शक्ति का कोई सामना नहीं कर सकता था—वह "अप्रतिवार्यवीर्यः" हो गया था, और उसकी यही उपाधि आगे चलकर उसके सिक्कों पर अंकित होने लगी थी। २१ वीं पंक्ति मे उसकी सैनिक योग्यता का विशेष रूप से वर्णन किया गया है और कहा गया है कि उसके शत्रु निद्रित रहने की अवस्था मे भी मारे भय के चौंक उठते थे। अपनी अपनी कीर्त्ति के चिह्न-स्वरूप उसने एक शिलान्यास किया था (पंक्ति २६); और जान पड़ता है कि यह उसी विष्णु के मंदिर का शिलान्यास होगा, जो

अभी तक वर्तमान है। उस मंदिर में स्तंभों और कारनिस के मध्य वाले स्थान में अंत्येष्टि क्रिया का एक चित्र अंकित है[1], और मंदिरों में साधारणतः ऐसे चित्र नहीं अंकित हुआ करते। जान पड़ता है कि यह उस समय का दृश्य है, जब कि वाकाटक राजा पराजित होकर युद्ध-क्षेत्र में निहत हुआ था और उसका शव-दाह हुआ था। उसी दिन से वह नगर प्रत्यक्ष रूप से गुप्त सम्राट् के अधिकार में आ गया था और उसकी व्यक्तिगत संपत्ति बन गया था, क्योंकि उसे "स्वभोग-नगर" कहा गया है और इसका यही अभिप्राय होता है।

एरन एक प्राकृतिक युद्ध क्षेत्र था

§ १३८. एरन एक ओर तो बुंदेलखंड के प्रवेश-द्वार पर और दूसरी ओर मालवा के प्रवेश-द्वार पर स्थित है। पूर्वी मालवा भी और पश्चिमी मालवा भी, तात्पर्य यह कि सारा मालवा, प्रजातंत्रों के अधिकार में था, जिन्होंने बिना लड़े-भिड़े ही समुद्रगुप्त के हाथ आत्म-समर्पण कर दिया था। यह स्थान पहले से ही सैनिक कार्यों के लिये बहुत महत्त्व का था, और यहाँ एक प्राचीन गढ़ भी था और इसके आगे एक बहुत बड़ा मैदान था। मानो प्रकृति ने पहले से ही यहाँ एक बहुत अच्छा युद्ध-क्षेत्र बना रखा था। जान पड़ता है कि इसी स्थान पर समुद्रगुप्त ने वाकाटक राजा के साथ युद्ध किया था। परवर्ती गुप्त काल में भी यहाँ एक और युद्ध हुआ था, क्योंकि यहाँ एक गुप्त सेनापति (गोपराज) का एक और स्मृति-चिह्न मिलता है, जिसने हूणों के समय यहाँ लड़कर अपने प्राण दिए थे और यहीं उसकी

---

१. आरकियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, खंड १०, पृ० ८५।

पतिव्रता पत्नी ने पूर्ण रूप से सहगमन करके उसकी चिता पर आरोहण किया था[1]।

§ १३९. रुद्रसेन युद्धक्षेत्र में समुद्रगुप्त से परास्त हुआ था और मारा गया था। समुद्रगुप्त के शिलालेख में जितने राजाओं के नाम आए हैं, उनमें एक यह रुद्र ही ऐसा राजा है जिसके नाम के अंत में "देव" शब्द मिलता है, और हम यह मान सकते हैं कि रुद्र के नाम के साथ यह "देव" शब्द जान-बूझकर जोड़ा गया था। उस समय रुद्रसेन भारत में सबसे बड़ा राजा था और वह अपने उस प्र-पिता का उत्तराधिकारी हुआ था जो सारे भारतवर्ष का एक वास्तविक सम्राट् रह चुका था। रुद्रसेन के नाम के अंत में जो 'सेन' शब्द है, वह वास्तव में नाम का कोई अंश नहीं है। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, यह "सेन" शब्द कभी तो नाम के अंत में जोड़ दिया जाता था और कभी छोड़ दिया जाता था। उदाहरण के लिये हम नेपाल के शिलालेख ले सकते हैं जिनमें लिच्छवी राजा वसंतसेन का नाम कहीं तो वसतसेन दिया है और कहीं वसंतदेव दिया है। "देव" शब्द अधिक महत्त्वसूचक है और इससे पूर्ण राजकीय पद का बोध होता है। ऊपर हमने जो वंशावली दी है, उसमें कहा गया है कि रुद्रदेव ने सन् ३४४ ई० में राज्यारोहण किया था, और समुद्रगुप्त की विजयों के संबंध में सभी लोगों का यह एक मत है कि वे सन् ३४५ ई० से ३५० ई० तक हुई थीं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि शिलालेखवाला रुद्रदेव वही रुद्रसेन प्रथम ही है (देखो § ६४)।

रुद्रदेव

---

१. फ्लीट कृत Cupta Inscriptions. पृ० ९२।

आर्यावर्त्त के राजा

§ १४०. आर्यावर्त्त के जो राजा समुद्रगुप्त से परास्त हुए थे, उनकी नामावली इस प्रकार है—

रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चंद्रवर्म्मन्, गणपति-नाग, नागसेन, अच्युतनंदी और बलवर्म्मन[1]।

यह सूची दो भागों में विभक्त हो सकती है। (१) इनमें से पहले भाग में गणपति नाग से बलवर्म्मन् तक उन राजाओं के नाम हैं जो पहले आर्यावर्त्त युद्ध में परास्त हुए थे। इनमें से पहले तीन राजा तो कौशांवी में मारे गए थे और अंतिम राजा बलवर्म्मन् उस समय पाटलिपुत्र का शासक रहा होगा, जिस समय समुद्रगुप्त की सेना ने उस पर अधिकार किया था और जिसका उल्लेख सातवें श्लोक में विना नाम के ही हुआ है। यदि यही बात हो तो हम कह सकते हैं कि कल्याण-वर्म्मन् का ही दूसरा या अभिषेक-नाम बलवर्म्मन् रहा होगा। और इसीलिये हम यह भी कह सकते हैं कि दूसरे वर्ग या विभाग में उन राजाओं और शासकों के नाम हैं, जो दूसरे युद्ध में परास्त हुए थे अथवा दूसरे युद्ध के बाद भी कुछ दिनों तक जो और छोटे-मोटे युद्ध होते रहे होंगे, उन्हीं में वे परास्त हुए होंगे[2]। इनमें से नागदत्त वही हो सकता है जो महाराज महेश्वर नाग का पिता था। यह महेश्वर नाग उप-राज था जिसकी एक मोहर लाहौर में पाई गई थी। उस

१. फ्लीट कृत Gupta Inscriptions, पृ० १२।

२. इस बात की बहुत कुछ संभावना जान पड़ती है कि इसके कुछ ही दिन बाद समुद्रगुप्त का मथुरा के पश्चिम अग्र देश में और वहाँ से जालंधर तक एक दूसरा अभियान भी हुआ था।

मोहर पर एक नाग या सर्प का लांछन अथवा चिह्न अंकित है और फ्लीट ने अपने Gupta Inscriptions में इनका संपादन किया है। इस पर की लिपि से पता चलता है कि यह मोहर ईसवी चौथी शताब्दी की है (Gupta Inscriptions, पृ० २८३)। मतिल बुलंदशहर जिले में शासन करता था जहाँ एक दूसरे नाग लांछन से युक्त उसकी मोहर मिली है[1]। हम यह नहीं जानते कि समुद्रगुप्त के शिलालेख में जिस चंद्रवर्म्मन का उल्लेख है, वह कौन है,[2] परंतु हम इतना अवश्य जानते हैं कि सन् २५० ई० के लगभग जालंधर दोआब के सिंहपुर नामक स्थान में सामंतों का एक यादव-वंश अवश्य स्थापित हुआ था (देखो §§ ७८ और ८०)। यह वंश अवश्य ही वाकाटकों का सामंत रहा होगा। उनके नामों के अंत में "वर्म्मन्" शब्द रहता था। यद्यपि सिंहपुर के शासकों की सूची में हमें "चंद्रवर्म्मन्" नाम नहीं मिलता, परंतु फिर भी यह संभव है कि वह कोई नवयुवक वीर रहा होगा

---

१. इंडियन एंटीक्वेरी, खंड १८, पृ० २८९। यह नाग शंखपाल का चिह्न है। इसमें एक शंख और एक सर्प है। सर्प की आकृति गोल है और उसके शरीर से आभा निकल रही है। दुर्गादेवी के एक ध्यान में शंखपाल का इस प्रकार वर्णन मिलता है—दाहोत्तीर्णसुवर्णाभा। यह शंखपाल देवी के हाथों में कंकड़ के रूप में रहता है।

२. विंसेंट स्मिथ ने एक बार कहा था कि समुद्रगुप्त के शिलालेख वाला चंद्रवर्म्मन् सुसनियावाले शिलालेख (रा० ए० सो० का जरनल, १८९७, पृ० ८६६) वाला चंद्रवर्म्मन् ही है। परंतु सुसनियावाले शिलालेख की लिपि (एपि० इं०, खंड १३, पृ० १३३) बहुत परवर्ती काल की है।

और रुद्रसेन की ओर से लड़ने के लिये युद्धक्षेत्र मे आया होगा। अथवा यह चंद्रवर्म्मन् उसी वश के राजा का दूसरा नाम भी हो सकता है। छठा राजा जो समुद्रगुप्त का समकालीन रहा होगा और जिसका नाम वृद्धवर्म्मन् दिया गया है, उसका उल्लेख लक्खा मंडलवाले शिलालेख (एपि० इं०, खड १, पृ० १३ के सातवे श्लोक) मे "चंद्र' के नाम से मिलता है। चंद्रवर्म्मन् इलाहाबादवाले शिलालेख के अनुसार नागदत्त का पड़ोसी था और यह मथुरा से और आगे के प्रदेश का शासक रहा होगा, जिसके उत्तराधिकारी की मोहर लाहौर मे पाई गई है। अहिच्छत्र और मथुरा के वीच मे नागदत्त के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। जो वर्गीकरण—रुद्रसेन-मतिल-नागदत्त-चदवर्म्मन्—किया गया है वह भौगोलिक क्रम से है। रुद्रदेव के राज्य के ठीक वाद मतिल का राज्य पड़ता था और नागदत्त का राज्य उससे और आगे पश्चिम मे था। और चद्र वर्मन् का राज्य तो उससे भी आगे पूर्वी पंजाव मे था।

§ १४० क. अव प्रश्न यह है कि क्या ये तीनो शासक एक ही युद्ध मे रुद्रसेन से लडे थे या अलग अलग लडे थे। नागदत्त और चद्रवर्म्मन् कभी रुद्रसेन के पडोस मे तो थे ही नहीं, हाँ भारतीय इतिहास से हमे इस वात का पता अवश्य लगता है कि राजा और उनके साथी लोग वहुत दूर दूर से चलकर युद्ध करने के लिये जाते थे। अत. जैसी कि हम आशा कर सकते हैं, यदि हम समझे कि ये तीनो सामंत एक ही युद्ध मे रुद्रदेव के साथ मिलकर और उसकी ओर से लड़े थे, तो यह कोई वहुत वड़ी या असभव वात नहीं है। यह अवश्य ही समुद्रगुप्त का सवसे वड़ा युद्ध रहा होगा क्योंकि उसने लिखा है कि इन राजाओ के साथ होनेवाले इस यद्ध के उपरांत समस्त आटविक राजा मेरे सेवक

हो गए थे। और इसका अर्थ यही होता है कि बुंदेलखंड और बघेलखंड के सभी शासक इस युद्ध में सम्मिलित हुए थे, और जब गुप्त सम्राट् का पतन हो गया, तब उन लोगों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकृत कर ली। परंतु दोनों पश्चिमी राजाओं या शासकों के संबंध में अधिक संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि उनके साथ बाद में मथुरा के पश्चिम में एक दूसरा ही युद्ध हुआ था। पुराणों (वायु पुराण और ब्रह्मांड पुराण) में रुद्रसेन की मृत्यु के समय के समुद्रगुप्त के साम्राज्य का जो वर्णन दिया गया है (देखो § १२६) उसमें पंजाब का नाम नहीं आया है; और इससे भी यही सूचित होता है कि पश्चिमी भारत में एक दूसरा युद्ध हुआ था। और इस प्रकार बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि साल दो साल बाद आर्यावर्त्त में एक तीसरा युद्ध भी हुआ था।

§ १४१. वाकाटक साम्राज्य पर समुद्रगुप्त ने जो दूसरी चढ़ाई की थी वह वास्तव में प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध का क्रमागत अंश ही था। ये तीनों बड़े युद्ध वास्तव में एक ऐसे बड़े युद्ध के अंश थे जो कुछ दिनों तक चलता रहा था। इसलिये यह सारा सैनिक कार्य बहुत जल्दी जल्दी किया गया होगा। इसमें समुद्रगुप्त की ओर से जो सैन्य-संचालन हुआ था, वह इतना पूर्ण था कि उसमें समुद्रगुप्त को कभी कहीं पराजित नहीं होना पड़ा था और न कहीं रुकना ही पड़ा था, इसलिये सारी लड़ाइयाँ तीन ही वर्षों के सैन्य-संचालन-काल [उन दिनों युद्ध अक्तूबर (विजया दशमी) से आरंभ होकर अप्रैल तक ही होते थे] में समाप्त हो गई होंगी। ऊपर हमने जो काल-क्रम निश्चित किया है,

आर्यावर्त्त-युद्धों का समय

उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पहला आर्यावर्त्त-युद्ध सन् ३४४-३४५ ई० में हुआ होगा, दूसरा सन् ३४८ ई० में या उसके लगभग और तीसरा सन् ३४९ या ३५० ई० में हुआ होगा।

१४. सीमा प्रांत के शासकों और हिंदू प्रजातंत्रों का अधीनता स्वीकृत करना, उनका पौराणिक वर्णन और द्वीपस्थ भारत का अधीनता स्वीकृत करना

§ १४२. जब तीसरा आर्यावर्त-युद्ध समाप्त हो गया और नागदत्त तथा चंद्रवर्म्मन् का पतन हो गया, तब समुद्रगुप्त का युद्ध-काल भी समाप्त हो गया। यह बात इलाहाबादवाले शिलालेख (पं० २०) में साफ तौर पर लिखी हुई है। सीमाप्रांत में केवल पाँच मुख्य राज्य थे और वे सभी उसके साम्राज्य के अंतर्गत आ गए थे। (१) समतट, (२) डवाक, (३) कामरूप, (४) नेपाल और (५) कर्तृपुर ने साम्राज्य के सभी कर चुका दिए थे और इन सब राज्यों के राजा स्वयं आकर समुद्रगुप्त की सेवा में उपस्थित हुए थे[1]। सीमाप्रांत के इन राजाओं के राज्य गंगा नदी के मुहाने से आरंभ होते हैं और लुशाई-मणिपुर-आसाम[2] से होते

सीमा प्रांत के राज्य

---

१. इलाहाबादवाले स्तंभ का शिलालेख, पंक्ति २२, Gupta Inscription, पृ० ८।

२. कर्नल गेरिनी द्वारा संपादित Ptolemy (पृ० ५५-६१) में कहा गया है कि उन दिनों उत्तरी बरमा को डवाक कहते थे।

हुए बराबर हिमालय पर्वत तक पहुँचते हैं, और इस बीच मे वे सभी प्रदेश आ जाते है, जिन्हे हम लोग आजकल भूटान, सिकम और नैपाल कहते है, और तब वहाँ से होते हुए शिमले की पहाड़ियो और कॉगड़े (कर्तृपुर) तक अर्थात् बंगाल के उत्तर में पड़ने वाली पहाड़ियो (पौड्र), संयुक्तप्रांत और पूर्वी पंजाब (माद्रक देश) तक इनका विस्तार जा पहुँचता है। समुद्रगुप्त के साम्राज्य मे जो कर्तृपुर भी सम्मिलित हो गया था, उसका अर्थ यही है कि तीसरे आर्यावर्त्त-युद्ध के परिणामस्वरूप पूर्वी पंजाब भी उसके साम्राज्य मे सम्मिलित हो गया। कदाचित् भागवत पुराण से भी यही आशय निकाला जा सकता है; क्योंकि उसमे स्वतंत्र प्रजातंत्री राज्यों की जो सूची दी है, उसमे मद्रक राज्य का नाम नही है (देखो § १४६) इसके बादवाले शासन-काल मे हम देखते है कि गुप्त संवत् ८३ (सन् ४०३ ई०) मे गुप्त संवत् का प्रचार शोरकोट (पुराना शिवपुर) तक हो गया था, जो चनाव नदी के पूर्वी तट के पास था[१]। नेपाल का नया लिच्छवी राजा जयदेव प्रथम समुद्रगुप्त का रिश्तेदार होता था, और उसके अधीनता स्वीकृत करने का यह अर्थ होता है कि भारतवर्ष की ओर हिमालय मे जितने राज्य थे, उन सबने अधीनता स्वीकृत कर ली थी। नेपाल मे जयदेव प्रथम के शासन-काल मे गुप्त संवत् का प्रचार हुआ था[२]। जान पड़ता है कि जयदेव प्रथम के साथ संबंध होने के कारण ही उसके पार्वत्य प्रदेश पर चढ़ाई नही की गई थी। यह भी जान पड़ता है कि आगे चलकर समुद्रगुप्त ने समतट को

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १६, पृ० १५।

२. फ्लीट कृत Gupta Inscription की प्रस्तावना, पृ० १३५। इंडियन एंटीक्वेरी, खंड १४, पृ० ३४५ (३५०)।

भी अपने चपावाले प्रांत मे मिला लिया था, क्योंकि इससे उसके साम्राज्य की प्राकृतिक सीमा समुद्र तक जा पहुँचती थी; और उड़ीसा तथा कलिंग का शासन करने के लिये और द्वीपस्थ भारत के साथ समुद्री व्यापार की व्यवस्था करने के लिये (देखो § १५०) यह आवश्यक था कि समुद्र तक सहज मे पहुँच हो सके।

§ १४३. हमे यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि समुद्रगुप्त का साम्राज्य काँगड़े तक ही था और उसमे काश्मीर तथा उसके नीचे का समतल मैदान सम्मिलित नहीं था। यह बात भागवत से स्पष्ट हो जाती है, जिसका मूल पाठ उस समय से पहले ही पूरा तैयार हो चुका था, जब कि दैवपुत्र वर्ग ने अधीनता स्वीकृत की थी। भागवत मे इस वर्ग के संबंध मे कहा गया है कि यह दमन किए जाने के योग्य है। इलाहाबादवाले शिलालेख की २३ वीं पंक्ति मे कहा गया है कि समुद्रगुप्त की प्रशांत कीर्त्ति सारे देश मे फैल गई थी, और यह भी कहा गया है कि उसने ऐसे अनेक राजवंशों को फिर से राज्य प्रदान किया था, जिनका पतन हो चुका था और जो राज्याधिकार से वंचित हो चुके थे। और इस शांतिवाली नीति का तुरंत ही यह परिणाम भी बतलाया गया है कि दैवपुत्र शाही-शाहानुशाही शक-मुरुंडों ने भी अधीनता स्वीकृत कर ली थी, और इस प्रकार उत्तर-पश्चिमी प्रदेश और काश्मीर भी साम्राज्य के अंतर्गत आ गया था। यह वही राज्य था जिसे भागवत और विष्णुपुराण मे म्लेच्छ-राज्य कहा गया है। शाहानुशाही ने स्वयं समुद्रगुप्त की सेवा मे उपस्थित होकर अधीनता स्वीकृत की थी, क्योंकि इलाहाबादवाले शिला-

काश्मीर तथा दैवपुत्र वर्ग और उनकी अधीनता स्वीकृत करना

लेख मे यह बतलाया गया है कि दैवपुत्र वर्ग ने और दूसरे राजाओ ने किस रूप मे अधीनता स्वीकृत की थी, और जिस क्रम से अधीनता स्वीकृत करने वालो के नाम गिनाए गए है, उससे सिद्ध होता है कि शाहानुशाही ने स्वयं ही समुद्रगुप्त की सेवा मे उपस्थित होकर अधीनता स्वीकृत की थी। इस वर्ग मे सबसे पहला नाम दैवपुत्र शाही शाहानुशाही का ही है। इनमे से दैवपुत्र और शाही ये दोनो ही शब्द शाहानुशाही के विशेषण है और इन विशेषणो की आवश्यकता कदाचित् यह दिखलाने के लिये हुई होगी कि यह शाहानुशाही कुशान सम्राट् है और वह सासानी सम्राट् नही है जो उस समय गुप्त साम्राज्य का बिलकुल पड़ोसी था। अधीनता स्वीकृत करने का पहला प्रकार तो स्वयं सेवा मे उपस्थित होना था जिसे "आत्म-निवेदन" कहते थे, और दूसरे प्रकार मे दो बाते होती थी। या तो अविवाहिता स्त्रियाँ सेवा मे भेट स्वरूप भेजी जाती थी जिसे "उपायन" कहते थे और या अपनी कन्याओ का विवाह उस राजा या सम्राट् के साथ कर दिया जाता था जिसकी अधीनता स्वीकृत की जाती थी और इसे "कन्या-दान" कहते थे। अधीनता स्वीकृत करने का तीसरा प्रकार "याचना" कहलाता था और इसमे दो बाते होती थी। इस याचना मे यह कहा जाता था कि हमे अपने राज्य मे गरुड़ध्वजवाले सिक्के प्रचलित करने की आज्ञा दी जाय; अथवा हमे अपने देश मे शासन करने का अधिकार दिया जाय। इसे "गरुत्मदंक-स्व-विषय-भुक्ति-शासन-याचना" कहते थे। इसी के दो विभाग थे। एक मे तो गरुड़ध्वजवाले सिक्को (गरुत्मदंक-भुक्ति) का व्यवहार करने की प्रार्थना (शासन-याचना) की जाती थी; और दूसरा रूप यह था कि अपने राज्य के शासन (स्वविषय-भुक्ति) के अधिकार की याचना की जाती थी। पश्चिमी पंजाब

के कुशन अधीनस्थ राजाओं के पालद अथवा शालद और शाक सिक्कों से हमें पता चलता है कि उन राजाओं ने अपने यहाँ गुप्त सिक्के प्रचलित कर दिए थे[1]। वे अपने सिक्कों पर समुद्रगुप्त की मूर्त्ति और नाम अंकित कराते थे; और यह प्रथा चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल तक प्रचलित थी; क्योंकि हम देखते है कि उस समय तक कुशन राजाओं के सिक्कों पर उसकी मूर्त्ति और नाम अंकित होता था। इन गुप्त राजाओं की पहचान के संबंध में कोई संदेह नहीं हो सकता; क्योंकि उन सिक्कों पर राजाओं की जो मूर्त्तियाँ दी गई है, उनमें वे कुंडल पहने हुए है; और कुशन राजा लोग कभी कुंडलों का व्यवहार नहीं करते थे। मुद्राशास्त्र के ज्ञाता पहले ही कह चुके है कि ये सिक्के गुप्त-सिक्कों से मिलते-जुलते हैं[2]। कन्यादान (दान और उपायन मे बहुत बड़ा अंतर है) शब्द का प्रयोग कुशन सम्राट् के लिये ही किया गया है, क्योंकि उन दिनों यह प्रथा थी, बल्कि यों कहना चाहिए कि नियम ही था कि जब कोई बहुत बड़ा प्रतिद्वन्द्वी शासक अपने विजेता के सामने सिर झुकाता था, तब वह उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता था।

§ १४४. उस समय सासानी सम्राट् शापुर द्वितीय (सन् ३१०-३७६ ई०) था जो कुशन राजा का स्वामी था। उस समय कुशन लोग अफगानिस्तान से "कुशानी - सासानी" सिक्के ढालकर प्रचलित किया करते थे, जो "शओननो शओ" कहलाते

---

१. वि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १८, पृ० २०८-२०९।
२. उक्त जरनल, खंड १८, पृ० २०८-२०६।

थे[१]। कुशन राजा को सासानी सम्राट् का जो संरक्षण प्राप्त था और उसके साथ उसका जो घनिष्ट संबंध था, उसके कारण कुशनो के भारतीय प्रदेशो का (जो सिंधु-नद के पूर्व मे पड़ते थे)। गुप्त सम्राट् द्वारा अपने साम्राज्य मे मिला लिए जाने मे किसी प्रकार की वाधा नही हो सकती थी।

सासानी सम्राट् और कुशनो का अधीनता स्वीकृत करना

काश्मीर, रावलपिडी और पेशावर तक कुशन अधीनस्थ राजा लोग गुप्त साम्राज्य के सिक्के अपने यहाँ प्रचलित करके भारतीय साम्राज्य मे आ मिले थे। कुशन शाहानुशाही ने जो आत्म-निवेदन किया था, उसके कारण समुद्रगुप्त को उस पर आक्रमण करने का विचार छोड़ देना पड़ा था। परंतु शत्रु ऐसी अवस्था मे छोड़ दिया गया था कि वह भारी उत्पात खड़ा कर सकता था; क्योकि आगे चलकर हम देखते है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के थोड़े ही दिन वाद शकाधिपति ने विद्रोह खड़ा कर दिया था; और यह विद्रोह संभवतः सासानी सम्राट् शापुर द्वितीय की सहायता से खड़ा किया गया था। समुद्रगुप्त के समय मे जो कुशन-राजकुमारी भेट करने का कलंक कुशनो को अपने सिर लेना पड़ा था, उसका वदला चुकाने के लिये अव गुप्तो से कहा गया था कि तुम ध्रुवदेवी को हमारे सपुर्द कर दो, और इसी के परिणामस्वरूप चंद्रगुप्त द्वितीय को वल्ख तक चढ़ जाने की आवश्यकता हुई थी, जिससे कुशन-राजा और कुशन-शक्ति का

---

१. विंसेट स्मिथ कृत Catalogue of Coins in the Indian Museum पृ० ६१।

सदा के लिये पूरा पूरा नाश हो गया था, और यह वल्ख कुशनों का सबसे दूर का निवास-स्थान और केंद्र था[1]।

§ १४५. मालवों, आर्जुनायनों, यौधेयों, माद्रकों, आभीरों, प्रार्जुनों, सहसानीकों, काकों, खर्परिकों तथा अन्यान्य समाजों के प्रजातंत्रों के संबंध में डा० विंसेंट स्मिथ का यह विचार था कि ये सब प्रजातंत्र समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं पर थे। परंतु उनका यह मत भ्रमपूर्ण था और ये प्रजातंत्र समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं पर नहीं थे, क्योंकि पंक्ति २२ (इलाहाबाद-वाले स्तम्भ का शिलालेख) में, जहाँ सीमाओं पर के राजाओं का उल्लेख है, वहाँ स्पष्ट रूप से उक्त प्रजातंत्र इस वर्ग से अलग रखे गए हैं। ये सब साम्राज्य के अंतर्भुक्त राज्य थे और साम्राज्य के सब प्रकार के कर देने और उसकी समस्त आज्ञाओं का पालन करने का वचन देकर ये सब प्रजातंत्र गुप्त-साम्राज्य के अंग बन गए थे और उसके अंदर आ गए थे। अधीनस्थ और करद प्रजातंत्रों के जो नाम गिनाए गए हैं, उनमें उनकी भौगोलिक स्थिति का ध्यान रखा गया है और उसमें भौगोलिक योजना देखने में आती है। गुप्तों के प्रत्यक्ष राज्य-क्षेत्र अर्थात् मथुरा से आरंभ करके मालवों, आर्जुनायनों, यौधेयों और माद्रकों के नाम गिनाए गए हैं। इनमें से पहला राज्य मालव है। नागर या कर्कोट-नागर नामक स्थान, जो आज-कल के जयपुर राज्य में स्थित है, उन दिनों मालवों का केंद्र था और वहीं उनकी राजधानी थी, जहाँ मालवों के हजारों प्रजातंत्र सिक्के पाए गए हैं (देखो §

प्रजातंत्र और समुद्रगुप्त

---

१. वि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १८, पृ० २६ और उससे आगे।

४२-४६); और उनके संबंध में कहा गया है कि वे सिक्के वहाँ उतनी ही अधिकता से पाए गए थे जितनी अधिकता से "समुद्र-तट पर घोंघे पाए जाते हैं।" भागवत मे इन लोगो को अर्बुद-मालव कहा गया है और विष्णुपुराण मे उनका स्थान राजपूताने (मरुभूमि) में बतलाया गया है। इस प्रकार यह बात निश्चित है कि वे लोग राजपूताने में आबू पर्वत से लेकर जयपुर तक रहते थे। उस प्रदेश को जो "मारवाड़" कहते हैं, वह जान पड़ता है कि इन्हीं मालवों के निवास-स्थान होने के कारण कहते है[1]। इसके दक्षिण मे नागो का प्रदेश था और मालवों के सिक्के नाग-सिक्कों से बहुत मिलते-जुलते है[2]। इसके ठीक उत्तर मे यौधेय लोग थे और उनका विस्तार भरतपुर (जहाँ विजयगढ़ नामक स्थान मे समुद्रगुप्त के समय से भी पहले का एक प्रजातंत्री शिलालेख पाया गया है) से लेकर सतलज

---

१ जिसे हम लोग "मारवाड" कहते हैं, उसे पजाब में मालवाड कहते हैं। राजपूताना मे "ड" का भी उच्चारण उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार दक्षिणी भारत मे होता है। मालव = माडव + वाटक भी मारवाड़ ही होगा। "वाट" शब्द का जो "वार" रूप हो जाता है और जिसका अर्थ "विभाग" होता है, इसके लिये देखो (अब स्व० राय बहादुर) हीरालाल-कृत Inscriptions of C. P., पृ० २४ और ८७ तथा एपि० इं०, खड ८, पृ० २८५। वाटक और पाटक दोनो ही शब्द भौगोलिक नामो के साथ विभाग के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं।

२. देखो रैप्सन-कृत Indian Coins, विभाग ५१ और वि० स्मिथ-कृत Coins of Indian Musuem, पृ० १६२।

नदी के ठेठ निम्न भाग मे बहावलपुर राज्य की सीमा तक था जहाँ "जोहियावार" नाम अब तक यौधेयो से अपना संबंध सिद्ध करता है। रुद्रदामन् (सन् १५० ई० के लगभग) के समय भी यह सबसे बड़ा प्रजातंत्री राज्य था। उस समय यौधेय लोग उसके पड़ोसी थे और निम्न सिध तक पहुँचे हुए थे। मालव और यौधेय राज्यों के मध्य में आर्जुनायनों का एक छोटा सा राज्य था जिनके ठीक स्थान का तो अभी तक पता नहीं चला है. परंतु फिर भी उनके सिक्को से सूचित होता है कि वे लोग अलवर और आगरा के पास ही रहते थे। माद्रक लोग यौधेयो के ठीक उत्तर में रहते थे और उनका विस्तार हिमालय के निम्न भाग तक था। झेलम और रावी के बीच का मैदान ही मद्र देश था[1] और कभी कभी व्यास नदी तक का प्रदेश भी मद्र देश के अंतर्गत ही माना जाता था[2]। व्यास और यमुना के मध्यवाले प्रदेश मे वाकाटको के सामंत सिंहपुर के वर्म्मन और नाग राजा नागदत्त के प्रदेश थे। समुद्रगुप्त के शिलालेख मे प्रजातंत्रो का जो दूसरा वर्ग है, उसमे आभीर, प्रार्जुन, सहसानीक, काक और खर्परिक लोगो के नाम दिए गए है। समुद्रगुप्त से पहले इनमे से कोई प्रजातंत्र अपने स्वतंत्र सिक्के नहीं चलाता था, और इसका सीधा-साधा कारण यही था कि वे मांधाता (माहिष्मती) मे रहनेवाले पश्चिमी मालवा के वाकाटक-गवर्नर के और पद्मावती के नागो के अधीन थे। वास्तव में गणपति नाग धारा का अधीश्वर (धाराधीश) कहलाता था। हम यह भी जानते है कि सहसानीक और काक लोग भिलसा के आस-पास रहते थे। भिलसा से प्रायः बीस मील

---

१. आरकियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, ख० २, पृ० १४।

२. रायल एशियाटिक सोसाइटी का जरनल, सन् १८९७, पृ० ३०।

की दूरी पर आज-कल जो काकपुर नामक स्थान है, वही प्राचीन काल में काक लोग रहते थे[1]। और साँची की पहाड़ी काकनाड कहलाती थी। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय एक सहसानीक महाराज ने, जो कदाचित् सहसानीकों का प्रजातंत्री नेता और प्रधान था, उदयगिरि की चट्टानों पर चंद्रगुप्त-मंदिर बनवाया था। आभीरों के संबंध मे हमे भागवत से बहुत सहायता मिलती है। भागवत में कहा गया है कि आभीर लोग सौराष्ट्र और आवंत्य शासक (सौराष्ट्रआवन्त्यआभीराः) थे। और विष्णुपुराण मे भी कहा गया है कि आभीरों का सौराष्ट्र और अवंती प्रांतो पर अधिकार था। वाकाटक इतिहास से हमे यह भी ज्ञात है कि पश्चिमी मालवा मे पुष्यमित्र लोग और दो ऐसे दूसरे प्रजातंत्री लोग रहते थे, जिनके नाम के अंत में "मित्र" शब्द था। ये आभीर प्रजातंत्र थे; और आगे चलकर गुप्त इतिहास मे हम देखते है कि उनके स्थान पर मैत्रक लोग आ गए थे, जिनमे एकतंत्री शासन प्रचलित था। आभीरों से आरंभ होने वाला और खर्परिको से समाप्त होने वाला यह वर्ग काठियावाड़ और गुजरात से आरंभ होकर दमोह तक अर्थात् मालवा प्रजातंत्र के नीचे और वाकाटक राज्य के ऊपर एक सीधी रेखा मे था। पेरिप्लस के समय मे आभीर लोग गुजरात मे रहते थे, और डा० वि० स्मिथ ने जो बुंदेलखंड मे उनका स्थान निश्चित किया है (रा० ए० सो० का जरनल, १८९७, पृ० ३०) वह किसी तरह ठीक और न्यायसंगत नहीं हो सकता। डा० स्मिथ ने यह निश्चय इसीलिये किया था कि उनके समय मे लोगों मे यह भ्रमपूर्ण विचार फैला हुआ था कि काठियावाड़ और

१. विहार और उडीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १८; पृ० २१३।

गुजरात पर उन दिनों पश्चिमी क्षत्रप राज्य करते थे। परंतु पुराणों से भी और समुद्रगुप्त के शिलालेख से भी यही सिद्ध होता है कि काठियावाड़ अथवा गुजरात में क्षत्रपों का राज्य नहीं था। काठियावाड़ पर से पश्चिमी क्षत्रपों का अधिकार नाग-वाकाटक काल में ही उठा दिया गया था। इस विषय पर पुराणों से बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

पौराणिक प्रमाण

§ १४६. भागवत में कहा गया है कि सुराष्ट्र और अवंती के आभीर और अरावली के सूर तथा मालव लोग अपना स्वतंत्र प्रजातंत्र रखते थे। उनके शासक "जनाधिपः" कहे गए हैं, जिसका अर्थ होता है—जन या जनता के (अर्थात् प्रजातंत्र) शासक। भागवत में माद्रकों का उल्लेख नहीं है। जान पड़ता है कि आर्यावर्त्त युद्धों के परिणामस्वरूप माद्रक लोग समुद्रगुप्त के साम्राज्य में सम्मिलित हो गए थे, और जब प्रजातंत्रों का अधीश्वर परास्त हो गया था, तब उनमें से सबसे पहले माद्रकों ने ही गुप्त सम्राट् की अधीनता स्वीकृत की थी। भागवत के शूर वही प्रसिद्ध यौधेय हैं। "शूर" शब्द (जिसका अर्थ 'वीर' होता है) "यौधेय" शब्द का ही अनुवाद और समानार्थक है। और यही यौधेय उनकी प्रसिद्ध और लोक-प्रचलित उपाधि या जातिनाम था। इससे दो सौ वर्ष पहले रुद्रदामन् इस बात का उल्लेख कर गया था कि यौधेय लोग क्षत्रियों में अपनी 'वीर' उपाधि से प्रसिद्ध थे[1]। पुराणों के अनुसार यौधेय लोग अच्छे और पुराने क्षत्रिय

---

१. सर्वक्षत्राविष्कृत-वीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानाम्। (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ८, पृ० ४४) अर्थात् "यौधेय लोग बहुत कठिनता से अधीनता स्वीकार करते थे और समस्त क्षत्रियों में अपनी 'वीर'

थे। मालवों की तरह वे लोग भी पहले पंजाब मे रहते थे। यौधेयों और मालवो ने ही सिंध की पश्चिमी सीमा पर भी और इधर मथुरा की तरफ पूर्वी सीमा पर भी कुशन-शक्ति को आगे बढ़ने से रोक रखा था। ये लोग साधारणतः शूर अथवा वीर कहलाते थे। भागवत ने यौधेयो को आभीरो के उपरात और मालवो से पहले रखा है अर्थात् उन्हे इन दोनो के बीच मे स्थान दिया है; और इससे यह सूचित होता है कि वे आभीरो के उत्तर में और मालवों के उत्तर-पश्चिम मे अर्थात् राजपूताने के पश्चिमी भाग मे रहते थे। विष्णुपुराण मे कहा है—"सौराष्ट्र-अवंती-शूरान् अर्बुद-मरुभूमि-विपयांश्च व्रात्या द्विजा आभीरशूद्र (इसे 'शूर' समझना चाहिए) आद्याः भोक्ष्यन्ति।" विष्णुपुराण मे अवंती के उपरांत "शूद्र" शब्द आया है, परंतु उसका एक और पाठ "शूर" भी है और इसका समर्थन स्वयं विष्णुपुराण मे ही एक और स्थान पर[1] और हरिवंश[2] से भी होता है। हॉ, शौद्रायणो का भी एक प्रजातंत्र था; और यह "शौद्रायण" शब्द निकला तो "शूद्र" शब्द से ही है, परंतु यहॉ "शूद्र" से शूद्रो की जाति का अभिप्राय नही है, बल्कि शूद्र नाम का एक व्यक्ति था, जिसने शौद्रायणो का प्रजातंत्र स्थापित किया था[3]। परंतु स्पष्ट रूप से यही जान पड़ता है कि

उपाधि सार्थक करने के कारण उन्हे गर्व था।" (कीलहार्न के अनुवाद के आधार पर)

१. विल्सन द्वारा संपादित विष्णुपुराण, (अँगरेजी) खंड २, पृ० २३३, "शूर आभीराः" मिलाओ हरिवंश, १२.८३७ का शूर आभीराः।

२. देखो विल्सन के विष्णुपुराण खंड २, पृ० १३३ मे हाल (Hall) की लिखी हुई टिप्पणी।

३. देखो जायसवाल-कृत हिंदू-राज्यतंत्र, पहला भाग, पृ० २५७।

भागवत और विष्णुपुराण का इस अवसर पर शूरों से ही अभिप्राय है और यह "शूर" शब्द यौधेयों के लिये ही है। भागवत और विष्णुपुराण में आर्जुनों, सहसानीकों, काकों और खर्परों का कोई उल्लेख नहीं है। ये सब नाग वर्ग के थे और पूर्वी मालवा में थे।

§ १४६ क. इसके उपरांत म्लेच्छ-राज्य आता है, जो भागवत के अनुसार इसके बाद वाला राज्य है। यह कुशन राज्य था। यहाँ समुद्रगुप्त के शिलालेख के लिये पुराण मानों भाष्य का काम देते हैं। यथा—

सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां
कौन्ती काश्मीर मंडलम्
भोक्ष्यन्ति शूद्राश्च आन्त्याद्या (अथवा व्रात्याद्या)
म्लेच्छाश्च आब्रह्मवर्चसः। [Purana Text, पृ० ५५]

अर्थात्—सिंधु के तट पर और चंद्रभागा के तट पर कौंती (कच्छ[1]) और काश्मीर मंडल में वे म्लेच्छ लोग शासन करेंगे जो शूद्रों में सबसे निम्न कोटि के और वैदिक वर्चस्व के विरोधी है।

विष्णुपुराण में कहा गया है—"सिंधुतटदार्वीकोर्वीचंद्रभागा-काश्मीर-विषयान् व्रात्यम्लेच्छा-शूद्रायाः" (अथवा म्लेच्छादयः शूद्राः) भोक्ष्यंति।" यहाँ विष्णुपुराण यह सिद्ध करना चाहता है कि सिंधु-चंद्रभागा की तराई (सिंध-सागर दोआब) और दार्वी-कोर्वी (दार्वीक तराई अर्थात् खैबर का दर्रा और उसके पीछे का

---

१. बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जरनल, सन् १८५१, पृ० २३४।

प्रदेश) सब एक साथ ही संबद्ध थे, और इससे यह सूचित होता है कि विष्णुपुराण का कर्त्ता यह बात अच्छी तरह समझता था कि भारतवर्ष की प्राकृतिक सीमाएँ कहाँ तक है। चंद्रभागावाली सीमा इस बात से निश्चित सिद्ध होती है कि गुप्त संवत् ८३ मे शोरकोट मे गुप्त संवत् का इस प्रकार व्यवहार होता था कि केवल उसका वर्ष लिख दिया जाता था[1] और उसके साथ यह बतलाने की भी आवश्यकता नही होती थी कि यह किस संवत का वर्ष है; और इससे यह सूचित होता है कि वहाँ यह संवत् कम से कम २५ वर्षों से अर्थात् समुद्रगुप्त के शासन-काल से ही प्रचलित रहा होगा।

म्लेच्छ शासन का वर्णन

§ १४६ ख. म्लेच्छ लोग यहाँ शूद्रो मे सबसे निम्न कोटि के कहे गए है। यहाँ हम पाठको को मानव धर्मशास्त्र तथा उन दूसरी स्मृतियो आदि का स्मरण करा देना चाहते है जिनमे भारत मे रहने वाले शकों को शूद्र कहा गया है। पतंजलि ने सन् १८० ई० पू० के लगभग इस बात का विवेचन किया था कि शक और यवन कौन है, और ये शक तथा यवन पतंजलि के समय मे राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष से निकाल दिए गए थे, परंतु फिर भी उनमें से कुछ लोग इस देश मे प्रजा के रूप मे निवास करते थे। महाभारत मे भी इस बात का विवेचन किया गया है कि ये शक तथा इन्ही के समान जो दूसरे विदेशी लोग, भारतवर्ष मे आकर बस गए थे और हिंदू हो गए थे, उनकी क्या स्थिति थी और समाज मे

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १६, पृ० १५।

वे किस वर्ण मे समझे जाते थे[1]। प्रायः सभी आरंभिक आचार्य एक स्वर से शकों को शूद्र ही कहते है और उन्हे द्विज आर्यों के साथ खान-पान करने का अधिकार नही था। ये शासक शक लोग अपनी राजनीतिक और सामाजिक नीति के कारण राजनीतिक विरोधी और शत्रु समझे जाते थे और इसीलिये इन्हे भागवत मे शूद्रों मे भी निम्नतम कोटि का कहा गया है, और इस प्रकार वे अंत्यजों के समान माने गए है। और इसका कारण भी स्वयं भागवत मे ही दिया हुआ है। वे लोग सनातन वैदिक रीति-नीति की उपेक्षा तो करते थे ही, पर साथ ही वे सामाजिक अत्याचार भी करते थे। उनकी प्रजा कुशनों की रीति-नीति का पालन करने के लिये प्रोत्साहित अथवा विवश की जाती थी। वे लोग यह चाहते थे कि हमारी प्रजा हमारे ही आचार-शास्त्र का अनुकरण करे और हमारे ही धार्मिक सिद्धांत माने। इस संबंध मे कहा गया है—"तन्नाथस्ते जनपदास् तच्छीला चारवादिनः।' राजनीतिक क्षेत्र मे वे निरंतर आग्रहपूर्वक वही काम करते थे जो काम न करने के लिये शक क्षत्रप रुद्रदामन् से शपथपूर्वक प्रतिज्ञा कराई गई थी। जब रुद्रदामन् राजा निर्वाचित हुआ था, तब उसने शपथपूर्वक इस बात की प्रतिज्ञा की थी कि हिंदू-धर्म-शास्त्रों मे बतलाए हुए करों के अतिरिक्त मै और कोई कर नहीं लगा-

---

१ इस संबंध मे महाभारत मे जो कुछ उल्लेख है, उसका विवेचन मैने अपने "बड़ौदा-लेक्चर" (१९३१) मे किया है। महाभारत, शान्तिपर्व ६५, मनुस्मृति १०,४४। पाणिनि पर पतंजलि का महाभाष्य २। ४ १०।

ऊँगा[1]। भागवत और विष्णुपुराण में जो वर्णन मिलते हैं, उनके अनुसार म्लेच्छ राजा अपनी ही जाति की रीति-नीति बरतते थे और प्रजा से गैरकानूनी कर वसूल करते थे। यथा—"प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्य-रूपिणः।" वे लोग गौओं की हत्या करते थे (उन दिनों गौएँ पवित्र मानी जाने लगी थीं, जैसा कि वाकाटक और गुप्त-शिलालेखों से प्रमाणित होता है), ब्राह्मणों की हत्या करते थे और दूसरों की स्त्रियाँ तथा धन संपत्ति हरण कर लेते थे (स्त्री-बाल-गोद्विजघ्नाश्च पर-दारा धनाहृताः)। उनका कभी अभिषेक नहीं होता था (अर्थात् हिंदू-धर्म-शास्त्र के अनुसार वे कानून की दृष्टि से कभी राजा ही नहीं होते थे)। उनके राजवंशों के लोग निरंतर एक दूसरे की हत्या करके विद्रोह करते रहते थे ('हत्वा चैव परस्परम्' और 'उदितोदितवंशास्तु उदितास्तमितस्तथा') और उनके संबंध की ये सब बातें ऐसी हैं जिनका पता उनके सिक्कों से मुद्राशास्त्र के आचार्यों को पहले ही लग चुका है। इस प्रकार सारे राष्ट्र में एक पुकार सी मच गई थी और वही पुकार पुराणों में व्यक्त की गई है। इस प्रकार मानों उस समय के गुप्त सम्राटों और हिंदुओं से कहा गया था कि उत्तर-पश्चिमी कोण का यह भीषण नाशक रोग किसी प्रकार समूल नष्ट करो। और इस रोग को दूर करने के ही काम में चंद्रगुप्त द्वितीय को विवश होकर लगना पड़ा था और यह काम उसने बहुत ही सफलतापूर्वक पूरा किया था।

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, पृ० ३३–४३ (जूनागढवाला शिलालेख पंक्ति ९–१०) सर्व-वर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं (म्) पतित्वे वृतेन आप्र-णोच्छ्वासात् पुरुषवध-निवृत्ति-कृत सत्य-प्रतिज्ञेन अन्यत्र संग्रामेषु। तत्र पंक्ति १२—यथावत्-प्राप्तैर्बलि शुल्क-भागैः।

§ १४७. यह वर्णन यौन शासन का है और उन यवनों का नहीं है जो इंडो-ग्रीक कहलाते हैं[1]। यह "यौन" शब्द ही आगे चलकर "यवन" हो गया है। ब्रह्मांड पुराण में जहाँ आरंभिक गुप्तों के सम-कालीन राजवंशों और शासकों का वर्णन समाप्त किया है, वहाँ १९९ वे श्लोक के अंतिम चरण मे कहा है—

तुल्यकालं भविष्यन्ति सर्वे ह्येते महीक्षितः।

और इसके उपरांत दूसरे श्लोक (सं० २००) मे कहा है—

अल्पप्रसादा ह्यनृता महाक्रोधा ह्यधार्मिकाः।
भविष्यन्तीः यवना धर्मतः कामतोऽर्थतः॥

(इस देश मे यवन लोग होंगे जो धर्म, काम और अर्थ से प्रेरित होंगे और वे लोग तुच्छ विचार वाले, झूठे, महाक्रोधी और अधार्मिक होंगे।)

बस, इसी श्लोक से उस काल की सब बातों का संक्षिप्त वर्णन आरंभ होता है। मत्स्य पुराण मे भी, जिसकी समाप्ति सातवाहनों के अंत मे होती है, ठीक वही वर्णन है, यद्यपि सब बातें तीन ही चरणों मे समाप्त कर दी गई हैं। यथा—

भविष्यन्तीः यवनाः धर्मतः कामतोऽर्थतः।
तैर्विमिश्रा जनपदा आर्या म्लेच्छाश्च सर्वशः।
विपर्ययेन वर्त्तन्ते क्षयमेष्यन्ति वै प्रजाः[2]।

---

१. मिलाओ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १८, पृ० २०१ मे प्रकाशित The Yaunas of the Puranas (पुराणों के यौन) शीर्षक लेख।

२. अध्याय २७२, श्लोक २५-२६।

(इसका आशय यही है कि आर्य जनता म्लेच्छों के साथ मिल जायगी और प्रजा का क्षय होगा।)

भागवत मे सिंधु-चंद्रभागा-कौंती-काश्मीर के म्लेच्छों के संबंध मे यही वर्णन मिलता है और उसमे अध्याय (खंड १२, अध्याय २)[1] के अंत तक वही सब ब्योरे की बाते दी गई हैं जिनका सारांश ऊपर दिया गया है। इस विषय मे विष्णुपुराण में भी भागवत का ही अनुकरण किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि दूसरे पुराणों मे जिन्हे यवन कहा गया है, उन्हीं को विष्णुपुराण और भागवत मे म्लेच्छ कहा गया है। ऊपर जिन यवनो के संबंध की बातें कही गई है, वे इंडो-ग्रीक यवन नहीं हो सकते, क्योंकि पौराणिक काल-निरूपण के अनुसार भी और वंशावलियों के विवरण के अनुसार भी इंडो-ग्रीक यवन इससे बहुत पहले आकर चले गए थे। यहाँ जिन यवनो का वर्णन है, वे वही यौन अर्थात् यौवा या यौवन् शासक है जिनके संबंध मे ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि वे कुशान थे[2]। यौव अथवा यौवा उन दिनो कुशानों की राजकीय उपाधि थी और

---

१. इसके बाद के अध्याय मे यह वर्णन आया है कि कल्कि म्लेच्छों के हाथ से देश का उद्धार करेगा। और इस संबंध मे मैंने यह निश्चय किया है कि यहाँ कल्कि से उस विष्णु यशोधर्मन् का अभिप्राय है जिसने हूणों का पूरी तरह से नाश किया था। परंतु महाभारत और ब्रह्मांड पुराण में इस कल्कि का जा वर्णन आया है, वह ब्राह्मण सम्राट् वाकाटक प्रवरसेन प्रथम के वर्णन से मिलता है। [साथ ही देखो ऊपर पृ० ६८ की पाद-टिप्पणी]

२. बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १६, पृ० २८७ और खंड १७, पृ० २०१।

पुराणों मे कुशनो को तुखार-मुरुंड और शक कहा गया है। भागवत मे कुछ ही दूर आगे चलकर (१२, ३, १४) स्वयं "यौन" शब्द का भी प्रयोग किया है।

§ १४८. सिंध-अफगानिस्तान-काश्मीर वाले म्लेच्छों के अधिकार मे करीब चार प्रांत थे जिनमे कच्छ भी सम्मिलित था। यह हो सकता है कि म्लेच्छों के कुछ अधीनस्थ शासक ऐसे भी हों जो म्लेच्छ न रहे हों, जैसा कि भागवत मे कहा गया है कि प्रायः म्लेच्छ ही गवर्नर या भूभृत् थे (म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः)। कौती या कच्छ उन दिनों सिंध मे ही सम्मिलित था, क्योंकि विष्णु-पुराण मे उसका अलग उल्लेख नहीं है। कच्छ-सिंध उन दिनों पश्चिमी क्षत्रपों के अधिकार मे था, जिनके सिक्के हमे उस समय के प्रायः तीस वर्ष बाद तक मिलते हैं, जब कि कुशनों ने अधीनता स्वीकृत की थी; और कुशनों के अधीनता स्वीकृत करने का समय हम सन् ३५० ई० के लगभग रख सकते है।

म्लेच्छ राज्य के प्रांत

§ १४९. इस प्रकार पुराणों में हमे भारशिव-नाग-वाकाटक-काल और आरंभिक गुप्त काल का विश्वसनीय और बिलकुल ठीक ठीक वर्णन मिल जाता है। वाकाटक-काल और समुद्रगुप्त के काल का उनमे पूरा-पूरा वर्णन है। राजतरंगिणी मे तो अवश्य ही कर्कोट राजवंश (ई० सातवीं शताब्दी) का पूरा और ब्योरेवार वर्णन दिया गया है, परंतु उससे पहले के हिंदू इतिहास के किसी काल का उतना पूरा और ब्योरेवार वर्णन हमे अपने साहित्य मे और कहीं नहीं मिलता, जितना उक्त कालों का पुराणों मे मिलता है।

पौराणिक उल्लेखों का मत

द्वीपस्थ भारत

§ १४६ क. भारशिव-वाकाटक-काल मे द्वीपस्थ भारत भी भारतवर्ष का एक अंश ही माना जता था। उसकी यह मान्यता हमे सबसे पहले मत्स्यपुराण मे मिलती है[1]। यों तो हिमालय या हिमवत् पर्वत और समुद्र के बीच मे ही भारतवर्ष है, परंतु वास्तव में भारतवर्ष का विस्तार इससे बहुत अधिक था, क्योंकि भारतवासी (भारती प्रजा) आठ

द्वीपस्थ भारत और उसकी मान्यता

---

१. मत्स्य-पुराण, अध्याय ११३, श्लोक १-१४ (साथ ही मिलाओ वायुपुराण १, अध्याय ४५, श्लोक ६६-८६)।

यदिदं भारतं वर्षं यस्मिन् स्वायम्भुवादयः।
चतुर्दशैव मनवः (१)
अथाहं वर्णयिष्यामि वर्षेऽस्मिन् भारते प्रजाः (५)
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां भूमौ कर्मविधिः स्मृतः।
उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत्।
वर्षं यद्भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा॥ (वायु० ७५)
भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निबोधत॥ (७)
समुद्रांतरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् (वायु० ७८)
इंद्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णी गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः॥ (८)
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः। (६)

इसके उपरांत भारतवर्ष के नवें द्वीप या विभाग का वर्णन आरम्भ होता है जिसमें समस्त वर्त्तमान भारत आ जाता है और जिसे यहाँ मानवद्वीप कहा गया है।

और द्वीपों मे भी बसते थे। और इन द्वीपों के सम्बन्ध में कहा गया है कि बीच में समुद्र पड़ने के कारण इनमे जल्दी परस्पर आवागमन नही हो सकता था। इन द्वीपोंवाली योजना मे भारत-वर्ष नवाँ है। स्पष्ट रूप से इसका आशय यही है कि ये आठो द्वीप अथवा प्रायद्वीप, जिनमे भारतवासी रहते थे, भारतीय प्राय-द्वीप की एक ही दिशा मे थे। इस दिशा का पता ताम्रपर्णी की स्थिति से लगता है जो आठ हिंदू-द्वीपों मे से एक थी। ये सभी द्वीप पूर्व की ओर थे, अर्थात् ये सब वही द्वीप हैं जिन्हें आज-कल दूरस्थ भारत (Further India.) कहते है। द्वीपो की इस सूची मे सबसे पहले इंद्रद्वीप का नाम आया है जिसके संबंध मे संतोषजनक रूप से यह निश्चित हो चुका है कि वह आज-कल का बरमा ही है[1]। उन दिनों भारतवासियों को मलाया प्रायद्वीप का बहुत अच्छी तरह ज्ञान था, और इस बात का प्रमाण ई० चौथी शताब्दी के एक ऐसे शिलालेख से मिल चुका है (जो आज-कल के वेलेस्ली (Wellesly) जिले मे एक स्तंभ पर उत्कीर्ण हुआ था। यह शिलालेख एक हिंदू महानाविक ने, जिसका नाम बुधगुप्त था और जो पूर्वी भारत का रहनेवाला था,[2] उत्कीर्ण

---

१. देखो बि० उ० रि० सो० के जरनल (मार्च, १९२२) में एस० एन० मजुमदार का लेख जो अब उन्होंने कनिंघम के Ancient Geography of India १९२४ के पृ० ७४९ मे फिर से छाप दिया है। उन्होंने जो कसेरुमत् को मलाया प्रायद्वीप बतलाया है, वह युक्तिसंगत है। पर हाँ, और द्वीपो के संबंध मे उन्होंने जो कुछ निश्चय किया है, वह बिलकुल ठीक नही है।

२ उक्त ग्रंथ, पृ० ७५२ जिसमें कर्न (Kern) V, G खंड ३ (१९१५) पृ० २५५ का उद्धरण दिया गया है।

कराया था; और इंद्रद्वीप के उपरांत जिस कसेरु अथवा कसेरुमत द्वीप का उल्लेख है, बहुत संभव है कि यह वही द्वीप हो, जिसे आज-कल स्टेट्स सेटिलमेंटस (Straits Settlements) कहते हैं। इसके आगे दूसरे विभाग मे ताम्रपर्णी (आधुनिक लंका या सीलोन का पुराना नाम) से नामावली आरंभ की गई है और उसमे इन द्वीपो के नाम हैं—ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गांधर्व और वरुण द्वीप। नागद्वीप आज-कल का नोकोबार है[1]। कंबोडिया के शिलालेखो से हमें पता चलता है कि कंबोडिया (इंडो-चाइना) पर पहले नागो का अधिकार था, जिन्हे भारतवर्ष के सनातनी हिंदू-कौडिन्य के वंशधरो ने अधिकार-च्युत करके वहाँ अपना राज्य स्थापित किया था[2]। हम यह मान सकते है कि इन उपनिवेशो मे हिंदुओं के जाकर बसने से पहले जो लोग रहा करते थे उन्हीं का जातीय नाम "नाग" था। गभस्तिमान् (सूर्य का द्वीप), सौम्य, गांधर्व और वरुण वही द्वीप है जो आज-कल द्वीपपुंज (Archipelago) कहलाते है और जिनमे सुमात्रा, बोरनियो आदि द्वीप हैं; और इनमे से सुमात्रा और जावा में ईसवी चौथी शताब्दी से पहले भी अवश्य ही भारतवासी जाकर बसे हुए थे। यह बात निश्चित है कि पुराणो के कर्त्ताओं को ईसवी तीसरी और चौथी शताब्दियो में इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान था कि भारत के पूर्वी द्वीपो मे हिंदुओं के उपनिवेश है और

---

१. गेरिनी (Gerini) द्वारा संपादित Ptolemys Geography पृ० ३७९-३८३

२. डा० आर० सी० मजुमदार-कृत Champa नामक ग्रंथ पृ. १८, २३

वे उन सब उपनिवेशों को भारतवर्ष के अंग ही मानते थे[1]। उन दिनों लोग भारतवर्ष का यही अर्थ मानते थे कि इसमें भारत के साथ-साथ वे द्वीप भी सम्मिलित हैं जिनमें भारतवासी जाकर बस गए हैं और इन्हीं में आज-कल का सीलोन या लंका भी सम्मिलित था। भारत के अतिरिक्त इन सबके आठ विभाग थे और इन्हीं नौ देशों को मिलाकर नवद्वीप कहते हैं।

समुद्रगुप्त और द्वीपस्थ भारत

§ १५०. इलाहाबादवाले शिलालेख की २३ वीं पंक्ति में शाहानुशाही तथा दूसरे राजाओं का जो वर्ग है और जिसे हम आज-कल के शब्दों में "प्रभाव-क्षेत्र के राज्यों का वर्ग" कह सकते हैं, उसके संबंध में लिखा है—"सैंहलक आदिभिस्च सर्वद्वीप-वासिभिः'। (अर्थात् सिंहल का राजा और समस्त द्वीप-वासियों का राजा) और इन सब राजाओं के विषय में लिखा है कि उन्होंने अधीनता स्वीकृत कर ली थी और समुद्रगुप्त को अपना सम्राट् मान लिया था। उन राजाओं ने कोई कर तो नहीं दिया था, परंतु वे अपने साथ बहुत कुछ भेंट या उपहार लाए थे और उन्होंने स्पष्ट रूप से उसका प्रभुत्व स्वीकृत कर लिया था। समुद्रगुप्त ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है कि मैंने अपनी दोनों भुजाओं में सारी पृथ्वी को इकट्ठा करके ले लिया है। इसलिये हम कह सकते हैं कि जिसे उसने भारतवर्ष या पृथ्वी कहा है, उसमें द्वीपस्थ भारत भी सम्मिलित

---

१. वायुपुराण को देखने से जान पड़ता है कि उसके कर्ता को द्वीपपुंज का विस्तृत ज्ञान था; और ४८ वें अध्याय में उनके वे नाम दिए गए हैं जो गुप्त-काल में प्रचलित थे। यथा—अंग, (चंपा), मलय य (व) आदि।

था। यहाँ जो "समस्त द्वीप" कहा गया है, उससे भारतवर्ष के अथवा भारती प्रजा के समस्त उपनिवेशो से अभिप्राय है (देखो § १४९ क)। डा० विसेट स्मिथ का विचार है कि लंका के राजा मेघवर्ण का राजदूत समुद्रगुप्त की सेवा मे वोध-गया मे सिंहली यात्रियों के लिये एक वौद्ध-मठ या विहार वनवाने की अनुमति प्राप्त करने के लिये आया था; और समुद्रगुप्त ने अपने शिलालेख में इसी बात की ओर संकेत करते हुए यह कहा है कि उसने भी उपहार भेजा था[1]। परंतु ये दोनो बाते एक दूसरी से विलकुल स्वतंत्र जान पड़ती हैं। शिलालेख मे केवल लका या सिहल के ही राजा का उल्लेख नही है, वलिक समस्त द्वीपो के शासको का उल्लेख है। यह वात प्रायः सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं कि और भी ऐसे कई भारतीय उपनिवेश थे जिनके साथ भारतवर्ष का आवागमन का संवंध था। चंपा (कंवोडिया) मे ईसवी तीसरी शताब्दी का एक ऐसा संस्कृत शिलालेख मिला है जो श्रीमार कौडिन्य के वंश के किसी राजा का है[2] और जिसमे लोक-प्रिय वसंततिलका छंद अपने पूर्व रूप मे है और उसकी भाषा तथा शैली वाकाटक तथा गुप्त-अभिलेखो की सी है। चंपा के उक्त शिलालेख से यह प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय उपनिवेशो का भार-शिव और वाकाटक भारत के साथ सवंध

१. Early History of India, पृ० २०४-२०५।

२. डा० आर० सी० मजुमदार-कृत Champa (चपा) नामक ग्रथ का अभिलेख, स० १। साथ ही मिलाओ रायल एशियाटिक सोसाइटी का जरनल, १९१२, पृ० ६७७ जिसमें वतलाया गया है कि चीनी यात्री फान-ये (मृत्यु सन् ४४५ ई०) ने लिखा था कि (गुप्त) भारत का विस्तार कावुल से वरमा या अनाम तक है।

था; और जिस प्रकार उन दिनों भारतवर्ष में संस्कृत का पुनरुद्धार हुआ था, उसी प्रकार उन द्वीपों मे भी हुआ था। ईसवी दूसरी शताब्दी के जितने राजकीय अभिलेख आदि उत्तर भारत मे भी और दक्षिण भारत मे भी पाए गए है वे सभी प्राकृत मे हैं[१]। जिस भद्रवर्म्मन् ने (जिसे चीनी लोग फान-हाउ-ता कहते थे) चीनी सैनिकों को परास्त किया था (सन् ३८०-४१० ई०) वह चंद्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था। उसका पिता, जो समुद्रगुप्त का समकालीन था, उस समय चीनी सम्राट् के साथ लड़ रहा था और उसने भारतीय सम्राट् के साथ सबंध स्थापित करना बहुत खुशी के साथ मंजूर किया होगा। भद्रवर्म्मन् का पुत्र गंगराज गंगा-तट पर कालयापन करने के लिये भारत चला आया था और तब यहाँ से लौटकर फिर चंपा गया था और वहाँ उसने शासन किया था[२]। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि सन् २४५ ई० से ही फ़ूनन (Funan) के हिंदू राजा का भारतवर्ष के साथ सबंध था। हिंदू उपनिवेशो पर समुद्रगुप्त के समय की इतनी अधिक छाप मिलती है कि इलाहाबादवाले शिलालेख पर हमें आवश्यक रूप से गंभीरतापूर्वक विचार करना पड़ता है और उतनी ही गंभीरता के साथ विचार करना पड़ता है, जितनी गंभीरता के साथ हम उसमे दिए हुए भारतीय विषयों का विचार करते है। समुद्रगुप्त का शासन-काल वही था, जिस काल मे फ़ूनन मे राजा

---

१. इसका एकमात्र अपवाद उस रुद्रदामन् का जूनागढवाला शिलालेख है जो स्वय संस्कृत का बहुत बड़ा विद्वान् था और जो निर्वाचन के द्वारा राज-पद प्राप्त करने के कारण सनातनी हिंदू राजा बनने का प्रयत्न करता था।

२. Champa (चंपा नामक ग्रंथ), पृ० २५-२६।

श्रुतवर्म्मन राज्य करता था और जब कि वहाँ हिंदुओं के ढंग पर एक नई सामाजिक व्यवस्था स्थापित हुई थी[1]। लगभग उसी समय हम यह भी देखते हैं कि पश्चिमी जावा के हिंदू उपनिवेश में एक शिलालेख संस्कृत में लिखा गया था जो ईसवी चौथी या पाँचवीं शताब्दी की लिपि में था। फा-हियान जिस समय सुमात्रा में पहुँचा था, उस समय से ठीक पहले वहाँ सनातनी हिंदू संस्कृति का इतना अधिक प्रचार हो चुका था कि उसने लिखा था—"ब्राह्मण या आर्य-धर्म के अनेक रूप खूब अच्छी तरह प्रचलित हैं और बौद्ध धर्म इतना कम हो गया है कि उसके संबंध में कुछ कहा ही नहीं जा सकता (फा-हियान, पृ० ११३)। फा-हियान ने इस बात की भी साक्षी दी है कि ताम्रलिप्ति, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, समुद्रगुप्त के समय में उसके राज्य में मिला ली गई थी और गुप्तों का एक बंदरगाह बन गई थी, और भारतवर्ष तथा लंका के मध्य अधिकांश आवागमन उसी बंदरगाह से होता था। ताम्रलिप्ति के लिये फाहियान को चंपा (भागलपुर) से जाना पड़ा था, जहाँ उन दिनों राजधानी थी, और इस बात का पूरा-पूरा समर्थन पुराणों के उस कथन से भी होता है जो चंपा-ताम्रलिप्ति के प्रांत के गुप्त-कालीन संघटन के संबंध में है। फाहियान ने देखा था कि एक बहुत बड़ा व्यापारी जहाज लंका के लिये रवाना हो रहा है। इस

---

१. कुमारस्वामी-कृत History of Indian and Indonesian Art. पृ० १८१ [देखो उसमें उद्धृत की हुई प्रामाणिक लोगों की उक्तियाँ] और Indian Historical Quarterly (इंडियन हिस्टारिकल क्वारटरली) १९२५, खंड १, पृ० ६१९ में फिनोट (Finot) का लेख।

लंका को उसने सिंहल कहा है (और समुद्रगुप्त ने भी उसे अपने शिलालेख में सिंहल ही कहा है) और ताम्रलिप्ति जाने के लिये वह भी उसी जहाज पर सवार हुआ था। भारत और लंका का संबंध इतना सहज और नित्य का था कि सैंहलक राजा को विवश होकर समुद्रगुप्त को सम्राट् मानना पड़ा था। द्वीपस्थ भारत के लिये भी उत्तरी भारत मे ताम्रलिप्ति एक खास बंदरगाप था। ताम्रलिप्ति को जो चंपा के प्रात मे मिला लिया गया था, उसका उद्देश्य यही था कि द्वीपस्थ भारत के उपनिवेशों के साथ घनिष्ट संबंध स्थापित हो जाय और समुद्री व्यापार पर नियंत्रण हो जाय[1]। यह बहुत सोच-समझकर ग्रहण की हुई नीति थी। योंही संयोग-वश लंका तथा दूसरे द्वीपों से जो लोग भारत मे आ जाया करते थे, शिलालेख मे उनका कोई स्पष्ट और अनिर्दिष्ट उल्लेख नहीं है, बलिक साम्राज्य-विस्तार की जो नीति जान-बूझकर ग्रहण की गई थी, उसी के परिणामों का उसमें उल्लेख है।

§ १५१. कला संबंधी साक्षी से यह बात और भी अधिक प्रमाणित हो जाती है कि गुप्तो का भारतीय उपनिवेशों के साथ संबंध था। कबोडिया मे अनेक ऐसी मूर्त्तियाँ मिली हैं जो ईसवी चौथी शताब्दी की हैं और जिन पर वाकाटक-गुप्त-कला की छाप दिखाई देती है और गुप्त शैली के कुछ मंदिर भी वहाँ पाए गए हैं[2]। इसी प्रकार यह भी पता चलता है कि बरमा मे गुप्त लिपि

---

१. इस देश में कदाचित् दक्षिणी भारत मे उतना अधिक सोना नहीं आया था, जितना द्वीपस्थ भारत से आया था। द्वीपस्थ भारत मे बहुत अधिक सोना उत्पन्न होता था।

२. कुमारस्वामी, पृ॰ १५७, १८२, १८३।

का प्रचार हुआ था और बरमावालों ने उसे ग्रहण भी कर लिया था और वहाँ गुप्त शैली की बनी हुई मिट्टी की बहुत-सी मूर्तियाँ भी पाई गई है[1]। इंडोनेशिया की परवर्ती शताब्दियों की कला के इतिहास का गुप्त कला के साथ इतना ओत-प्रोत और घनिष्ठ संबंध है कि उससे यह बात पूर्ण रूप से प्रमाणित हो जाती है कि वहाँ गुप्तों का प्रभाव समुद्रगुप्त के समय से ही पड़ने लगा था। समुद्रगुप्त ने यदि राजनीतिक क्षेत्र में नहीं तो कम से कम सांस्कृतिक क्षेत्र में तो अवश्य अपनी दोनो भुजाओं के साथ एक मे मिला रखा था[2]।

§ १५१ क. समुद्रगुप्त ने सभी दृष्टियों से साम्राज्यवाद के

---

१. कुमारस्वामी, पृ० १६१। विंसेंट स्मिथ ने अपनी Early History of India (चौथा संस्करण) पृ० २६७, पाद-टिप्पणी में कहा है कि बरमा मे गुप्त-संवत् का भी प्रचार हुआ था। बरमा के पुरातत्व-विभाग के सुपरिटेंडेंट मि० डम्या से मुझे मालूम हुआ है कि बरमा में गुप्त-संवत् का कोई उल्लेख नहीं मिलता। परंतु देखो फुहरर का जून १८६४ का A. P. R. प्यू (Pyu) के शिलालेखों से पता चलता है कि बरमी उच्चारणों के लिये गुप्त-लिपि को स्वीकार किया गया था; और इस संबंध के अक्षरों के रूपों के लिये देखो एपिग्राफिया इंडिका, खंड १२, पृ० १२७।

२. बाहुवीर्यप्रसरधरणीबंधस्य। इलाहाबादवाले शिलालेख की २४वीं पंक्ति, Gupta Inscriptons, पृ० ८।

हिंदू आदर्श की सिद्धि की थी[1]। महाभारत के अनुसार सिहल (लंका) और हिंदू द्वीप अथवा उपनिवेश हिंदू सम्राट् के भारतीय साम्राज्य के अंतर्भुक्त अंग थे[2]। उस आदर्श के अनुसार अफगानिस्तान समेत[3] सारा भारत उस साम्राज्य के अंतर्गत होना चाहिए। परन्तु साम्राज्य का विस्तार अफगानिस्तान से और अधिक पश्चिम की ओर नहीं होना चाहिए और न उसके अफगानिस्तान के उस पार के देशों की स्वतत्रता का हरण होना चाहिए। हिंदू भारत मे परंपरा से सार्वराष्ट्रीय विषयों से संबंध रखनेवाली जो शुभ नीति चली आई थी, उसकी प्रशंसा यूनानी लेखको ने भी और अरब के सुलेमान सौदागर ने भी की है[4]। मनुस्मृति मे पश्चिमी भारत की जो सीमा निर्धारित की गई है, उसी सीमा तक समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया था और उससे आगे वह कभी नही बढा था। उस समय के सासानी राजा को रोमन सम्राट् बहुत तग कर रहा था और

हिंदू आदर्श

---

१ महाभारत, सभापर्व, १४, ६-१२ और ७३, २०।

२ उक्त ग्रथ और पर्व, ३१, ७३-७४, (साथ ही देखो दक्षिणी पाट ३४)।

३. महाभारत, सभापर्व, २७, २५, जिसमें उस सीस्तान की सीमाएँ भी निर्धारित हैं जिसमें परम काम्बोज जाति के लोग और उन्हीं से मिलते-जुलते उत्तरी ऋषिक (आर्शी लोग) आदि फिरके बसते थे। ऋषिक और आर्शी के संबंध में देखो जयचद्र विद्यालंकार-कृत "भारतभूमि" नामक ग्रथ के पृष्ठ ३१३-३१५ और बिहार तथा उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जनरल, खंड १८, पृ० ६७।

४. Hindu Polity, दूसरा भाग, पृ० १९०-१९१.

इसी लिये सासानी राजा बहुत दुर्बल हो गया था। यदि समुद्रगुप्त चाहता तो सहज मे सासानी राजा के राज्य पर आक्रमण कर सकता था और संभवतः उसका राज्य अपने साम्राज्य मे मिला सकता था, क्योंकि युद्ध की कला मे उन दिनो उसका सामना करनेवाला कोई नहीं था। परंतु समुद्रगुप्त के लिये पहले से ही धर्म-शास्त्र (जिसका शब्दार्थ होता है—सभ्यता का शासन) बना हुआ मौजूद था और वह धर्म-शास्त्र के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। उसने उसी धर्म का पालन किया था। उस धर्म ने पहले से ही हिंदू राजा के सार्वराष्ट्रीय कार्यों को भी और साम्राज्य संबंधी कार्यों को भी निर्धारित और सीमित कर रखा था। समुद्रगुप्त की विजयों के इतिहास से यह सूचित होता है कि उसके सब कार्य उसी शास्त्र से भली भाँति नियंत्रित होते थे और वह कभी स्वेच्छाचारी सेनापति नहीं बना था—उसने अपनी सैनिक शक्ति के मद से मत्त होकर कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया था।

———

चौथा भाग

दक्षिणी भारत [सन् १५०-३५० ई०]

और

उत्तर तथा दक्षिण का एकीकरण

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

[भारत-गीत]
विष्णुपुराण २, ३, २४।

सम्यक्-प्रजापालनमात्राधिगतराजप्रयोजनस्य।

[अर्थात्—वह सम्राट्, जिसका राज्य ग्रहण करने का प्रयोजन केवल यही है कि प्रजा का सम्यक् रूप से पालन हो।

— दक्षिणी भारत के गंग वंश के शिला-लेख]

१५. आंध्र (सातवाहन) साम्राज्य के अधीनस्थ सदस्य या सामंत

§ १५२. यहाँ सुभीते की बात यह होगी कि हम दक्षिणी इतिहास का भी कुछ सिंहावलोकन कर लें जिससे हमें यह पता

चल जाय कि उत्तरी भारत पर उसका क्या प्रभाव पड़ा था और दक्षिण तथा उत्तर मे किस प्रकार का संबंध था; और तब इस बात का विचार करे कि गुप्तो के साम्राज्य-वाद पर उसका क्या प्रभाव पड़ा था।

साम्राज्य-युगो की पौराणिक योजना

आंध्रों के समय से लेकर उसके आगे के इतिहास का वर्णन करते समय पुराण बराबर यह बतलाते चलते हैं कि साम्राज्य के अधिकार के अधीन कौन-कौन से शासक राजवंश थे। इस प्रकार का उल्लेख उन्होंने तीन राजवंशो के संबंध मे किया है—आंध्र (सातवाहन), विंध्यक (वाकाटक) और गुप्त-राजवंश। यहाँ यह बात देखने मे आती है कि जब साम्राज्य का केंद्र मगध से हटकर दूसरे स्थान पर चला जाता है अथवा जब साम्राज्य का अधिकार काण्वायनो के हाथ से निकलकर सातवाहनों के हाथ मे चला जाता है तब पुराण उन साम्राज्य-भोगी राजकुलो का वर्णन उनके मूल निवास-स्थान से आरंभ करते हैं, उनकी राजवंशिक उपाधियों से नहीं करते हैं। पुराणो मे सातवाहनो को आंध्र कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे आंध्र देश के रहनेवाले थे। इसी प्रकार वाकाटकों को उन्होने विंध्यक कहा है, अर्थात् वे विंध्य देश के रहनेवाले थे, और पुराण जब फिर मगध के वर्णन की ओर आते हैं, तब वे फिर गुप्तों का वर्णन उनकी राजवंशिक उपाधि से करते हैं। अब हम यह देखना चाहते हैं कि आंध्रों के साम्राज्य-संघटन के विषय में पुराणों में क्या कहा गया है, क्योंकि वाकाटकों और गुप्तों से संबंध रखने वाले पौराणिक उल्लेखों का विवेचन हम पहले कर ही चुके हैं।

§ १५३. वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण मे कहा गया है कि

आंध्रो की अधीनता मे पॉच सम-कालीन वंशो की स्थापना हुई थी। यथा—

वायु०—आंध्राणाम् संस्थिताः पंच तेषां वंशाः समाः पुनः।
—वायु० ३७, ३५२[१]।

ब्रह्मांड०—आंध्राणाम् संस्थिताः पंच तेषां वंश्याः ये पुनः।
—ब्रह्मांड० ७४, ७१[२]।

इसके विपरीत मत्स्यपुराण, भागवत और विष्णुपुराण में पॉच की संख्या नहीं दी गई है, वलिक इस प्रकार के तीन राजवशो का वर्णन आया है। वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण मे दो राजवंशो के नाम भी दिए हुए है, और ये वही दोनों नाम हैं जो मत्स्यपुराण और भागवत मे भी आए हैं, अर्थात् उनमे नामशः आभीरों और अधीनस्थ आंध्रों का उल्लेख है, परंतु उनका आशय तीन राजवंशों से है, क्योंकि उनमे कहा गया है कि आध्र के अंतर्गत हम दो राजवशो के वर्ष दे रहे है। वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण मे जो पॉच राजवंशों की गिनती गिनाई गई है, उससे अनुमान होता है कि कदाचित् उन्होने अपनी सूची मे मुंडानदो और महारथी-वंश (मैसूर के कल्याण महारथी का वंश) भी उसमे सम्मिलित कर लिया है, जिनका पता उनके सिक्कों से चलता है[३]। परंतु इन दोनो राजवंशों का कुछ पहले ही अंत हो चुका था, इसलिये दूसरे पुराणो मे केवल तीन राजवंशो का उल्लेख किया गया था। पुराणो मे उन्ही राजवशों के वर्ष तथा क्रम दिए गए हैं जो अगले

---

१. Bibliotheca Indica. खड २, पृ० ४५३.

२. बबई का वेंकटेश्वरवाला सस्करण, पृ० १८६.

३. रैप्सन-कृत C A. D. पृ० ५७-६०, (सशोधन, पृ० २१२ मे।)

पौराणिक युग अर्थात् वाकाटकों (विंध्यकों) के समय तक चले आ रहे थे। इस संबंध मे उनके मूल पाठ इस प्रकार है—

मत्स्य०—आंध्राणाम् संस्थिता राज्ये तेषां भृत्यान्वये नृपाः।
सप्तैव आंध्रा भविष्यन्ति=दश आभीरस्तथा नृपाः।
(२७१, १७-१८)[1]

भाग०—सप्त = आभीर = आंध्रभृत्याः।

विष्णु०—आंध्रभृत्याः सप्त = आभीराः[2] (जहाँ विष्णुपुराण ने भागवत का कुछ अंश उद्धृत करते समय पढ़ने मे कुछ भूल की है और आंध्रभृत्याः को सप्त आभीराः का विशेषण माना है।)

इस प्रकार यह बात स्पष्ट ही है कि मत्स्यपुराण और भागवत से राजवंशो की संख्या नहीं दी गई है। उनमे यही कहा गया है कि आंध्रों के अधीन आभीरो और अधीनस्थ आंध्रों के राजवंश थे (यहाँ यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि साम्राज्य-भोगी आंध्रो से अधीनस्थ आंध्र अलग थे) और इन राजवंशो की स्थापना आंध्रों ने की थी। मि० पारजिटर ने इन दोनो भिन्न भिन्न बातो को इस प्रकार मिलाकर एक कर दिया है, मानों वे दोनों एक ही हों और उनका एक ही अर्थ हो; और तब एक ऐसा नया पाठ प्रस्तुत कर दिया है जो यहाँ सबसे ज्यादा गड़बड़ी पैदा करता है। इन दोनों राजवंशों के अतिरिक्त मत्स्यपुराण में एक और राजवंश का उल्लेख किया है, जिसका नाम उसमें श्रीपार्वतीय दिया है।

---

१. जे० विद्यासागर का संस्करण, पृ० ११६०.

२. जे० विद्यासागर का संस्करण, पृ० ५८४, ४, १४, १५.

परंतु इस वंश का उल्लेख केवल उसी मे मिलता है, और किसी स्थान पर नहीं मिलता। मत्स्यपुराण मे यह भी कहा गया है कि ये सब वंश अधीनस्थ या सामंत आंध्रों के समकालीन थे; और इसलिये यह जान पड़ता है कि वे भी सातवाहनों के ही स्थापित किए हुए थे, परंतु आंध्रों के समय मे कदाचित् उनका उतना अधिक महत्व नहीं था, जितना बाकी दोनों राजवंशों का था। अब हम इन तीनों राजवंशों के इतिहास का विवेचन करते हैं।

अधनस्थ आंध्र और श्री-पार्वतीय

§ १५४. आंध्र वही हैं जिन्हे विष्णुपुराण मे आंध्र भृत्यु कहा गया है, अर्थात् वे अधीनस्थ आंध्र हैं। मत्स्यपुराण, वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण मे सबसे पहले उन्हीं का विवेचन हुआ है। इस वंश मे सात पीढ़ियाँ हुई थी। इस विषय मे भागवत भी उक्त पुराणों से सहमत है, पर उसमे अंतर केवल इतना ही है कि उसमें आभीरों को आंध्रों से पहले रखा गया है. परंतु इस बात मे हमारे विवेचन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पडता, क्योंकि ये दोनों ही वंश सम-कालीन थे। भागवत नें कदाचित् भौगोलिक दृष्टि से वर्णन किया है और उसका विवेचन उत्तर की ओर से आरंभ होता है। मत्स्यपुराण, वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण मे यह भी बतलाया गया है कि किन किन वंशों ने कितने कितने दिनों तक राज्य किया था। (१) आंध्र (अधीनस्थ आंध्र) और (२) श्री-पार्वतीय राजवंशों के संबंध मे मत्स्यपुराण की अधिकाश हस्त-लिखित प्रतियों मे यह पाठ मिलता है—

आंध्राः श्रीपार्वतीयाश्च
ते द्वे पंच शतं समाः[1]।

---

१. पारजिटर कृत Purana Text, पृ० ४६, टिप्पणी ३२।

अर्थात्--आंध्रो और श्री-पार्वतीयों ने (अर्थात् दोनो ने) १०५ वर्षों तक राज्य किया था।

इसके विपरीत वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण मे यह पाठ है--

अंध्रा भोक्ष्यन्ति वसुधाम्
शतं[1] द्वे च शतं च वै।

अर्थात्—आंध्र लोग वसुधा का दो (राजवंश) एक सौ (वर्ष) और एक सौ (वर्ष) क्रमशः भोग करेंगे।

यहाँ यह बात स्पष्ट है कि वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण मे "आंध्र" शब्द के अंतर्गत दो राजवंशो का अंतर्भाव किया गया है—एक तो अधीनस्थ या भृत्य आंध्र जो साम्राज्यवाली उपाधि धारण करते थे और दूसरे आंध्र श्रीपार्वतीय। वायु और ब्रह्मांड दोनों ही पुराणो मे इनका राज्य-काल एक सौ वर्ष कहा गया है; परंतु मत्स्यपुराण मे एक सौ पाँच वर्ष कहा गया है। डा० हॉल (Dr. Hall) की ब्रह्मांडपुराणवाली प्रति मे[2] और मि० पारजिटर की वायुपुराणवाली प्रति मे जो वस्तुतः ब्रह्मांडपुराण की-सी प्रति है, एक वंश के लिये सौ वर्ष और दूसरे के लिये

---

१. Purana Text पृ० ४६, टिप्पणी ३३। कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'शते' शब्द को इस प्रकार बदल दिया गया है कि उसका अन्वय "दो" के साथ होता है, परंतु वास्तव में यह 'द्वे' शब्द वर्षो के लिये नहीं, बल्कि राजवंशों के लिये आया है।

२ विल्सन और हॉल का वायुपुराण ४, २०८ Purana Text, पृ० ४६, टि० ३४।

सौ वर्ष छः महीने मिलते हैं। इस प्रकार वास्तव में ये तीनों ही पुराण तीन सामंत-वंशों के ही वर्णन करते हैं।

ऊपर जो यह कहा गया है कि "आंध्र लोग वसुधा का भोग करेंगे" उससे यह सूचित होता है कि उन परवर्ती आंध्रों ने साम्राज्य के अधिकार ग्रहण किए थे। हम अभी आगे चलकर यह बतलावेंगे कि आंध्र देश के श्रीपार्वतीयों ने साम्राज्य का अधिकार ग्रहण किया था और सातवाहनों के पतन के उपरांत दक्षिणी भारत में उन्हीं के राजवंश ने सबसे पहले साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

§ १५५. मत्स्यपुराण के अनुसार आभीरों की दस पीढ़ियाँ हुई थीं और उनका राज्यकाल ६७ वर्ष कहा गया है (सप्त षष्टिस्तु वर्षाणि दशाभीरास्तथैव च। तेषुत्सन्नेषु

आभीर

कालेन ततः किलकिला-नृपाः।) वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में भी आभीरों की दस पीढ़ियाँ बतलाई गई हैं, परंतु भागवत में केवल सात ही पीढ़ियाँ बतलाई गई हैं और साथ ही भागवत में यह भी नहीं कहा गया है कि उनका राज्य-काल कितना था। विष्णुपुराण ने भी इस विषय में भागवत का ही अनुकरण किया है।

§ १५६. इन सब बातों का सारांश यही है कि सब मिलाकर तीन राजवंश थे, जिनमें से दो की स्थापना तो साम्राज्य-भोगी आंध्रों ने की थी और तीसरे राजवंश का उदय भी उसी समय हुआ था और जान पड़ता है कि वह तीसरा वंश भी उन्हीं के अधीन था। यद्यपि उस समय तो उस तीसरे राजवंश का कोई

विशेष महत्त्व नहीं था, परंतु सातवाहनों के पतन के उपरांत उन्होंने विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया था।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि –

(१) अधीनस्थ (भृत्य) छोटे आंध्रों की सात पीढ़ियाँ थीं और उनका राज्य-काल १०० वर्ष अथवा १०५ वर्ष था।

(२) आभीर १० (अथवा ७) पीढ़ियाँ, ६७ वर्ष।

(३) श्रीपार्वतीय १०० अथवा १०५ वर्ष।

अधीनस्थ या भृत्य आंध्र कौन थे और उनका इतिहास

§ १५७. ये अधीनस्थ या भृत्य आंध्र वस्तुतः वही प्रसिद्ध सामंत सातवाहन अथवा आंध्र हैं जिनके वंशजों में चुटु वंश के दो हारितीपुत्र हुए थे और जिनके शिलालेख कन्हेरी (अपरांत), कनारा (वनवसी) और मैसूर (मलवल्ली) में मिले हैं[1]। इन शिलालेखों की लिपियों को देखते हुए इनका समय सन् २०० ई० से पहले नहीं रखा जा सकता[2]। यद्यपि वनवसीवाले लेख की

---

१. रैप्सन कृत C. A. D. ३१, ४३, ४६ और ५३-५५ कन्हेरी A. S. W. I. खंड ५, पृ० ८६, वनवसी, इं० एंटि०, खं० १४, पृ० ३३१। मैसूर (मलवल्ली का शिमोगा) E. C. ७, २५१।

२. राइस कृत E. C. खं० ८, पृ० २५२ के सामने का प्लेट। इं० एंटि०, खंड १४। सन् १८८५ पृ० ३३१, पृ० ३३२ के सामने-वाला प्लेट। डा० बुहलर ने समझा था कि वनवसीवाला लेख ईसवी पहली शताब्दी के अंत या दूसरी शताब्दी के आरंभ का है;

लिपि पुरानी है, परंतु उसी शासन-काल का मलवल्लीवाला जो शिलालेख है, उसकी लिपि वही है जो सन् २०० ई० में प्रचलित थी। यह मलवल्लीवाला शिलालेख भी उसी प्रकार के अक्षरों में लिखा है, जिस प्रकार के अक्षरों में राजा चंडसाति का कोडवली-वाला शिलालेख है। सातवाहनों की शाखा मे इस चंडसाति के बाद केवल एक ही और राजा हुआ था (दे० एपिग्राफिया इंडिका, खंड १८, पृ० ३१८) और उसके लेख मे जो तिथि मिलती है, उसका हिसाब लगाकर मि० कृष्णशास्त्री ने उसे दिसंबर सन् २१० ई० स्थिर किया है, और यह तिथि पुराणों मे दी हुई उसकी तिथि के बहुत ही पास पड़ती है (पुराणों के अनुसार इसका समय सन् २२८ ई० आता है। देखो विहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, सन् १६३०, पृ० २७६)। राजा हारितीपुत्र विष्णु-कद चुटुकुलानंद शातकर्णि और उसके दौहित्र हारिती-पुत्र शिव-स्कंद वर्म्मन् (वैजयंतीपति)[1] की वंशावली प्रो० रैप्सन ने बहुत ही ध्यान और विचारपूर्वक, इस वश के तीन शिलालेखों और पहले कदंब राजा के एक लेख के आधार पर, फिर से ठीक करके तैयार की थी[2]। जिस सामग्री के आधार पर उन्होंने यह

परंतु डा० भगवानलाल इंद्रजी का मत है कि वह कुछ और बाद का है। प्रो० रैप्सन ने C. A. D. पृ० २३ (भूमिका) में कहा है कि राजा हारितीपुत्र का समय अधिक से अधिक सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी के आरंभ में रखा जा सकता है, इससे और पहले किसी तरह रखा ही नहीं जा सकता।

१ E. C. खंड ७, पृ० २५२।

२. C. A D. पृ० ५३ से ५५ (भूमिका)।

वंशावली प्रस्तुत की थी, उसे मैंने खूब अच्छी तरह देख और जाँच लिया है और इसलिये उसी को ग्रहण कर लेना मैंने सबसे अच्छा समझा है। हाँ, उसमें जो विण्हुकद नाम आया है, उसे मैंने विण्हु-स्कंद कर दिया है। यह वंशावली इस प्रकार है—

राजा हारितीपुत्र विण्हु-स्कंद (विण्हु-कद)
चुटुकुलानंद शातकर्णि = महाभोजी—
|
महारथी = नागमुलनिका
|
हारितीपुत्र शिव-स्कंद वर्म्मन्
(वैजयंती-पति)

§ १५८. इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि इस वंश का नाम चुटु है। अभी तक "चुटु" शब्द की व्याख्या नहीं हुई है। यह वही शब्द है जिसका संस्कृत रूप

चुटु चुणट है और जिसका अर्थ होता है—छोटा होना। यह अभी तक चुटिया नागपुर में 'चुटिया' के रूप में पाया जाता है जिसका अर्थ होता है—छोटा नागपुर; और यह नाम उस नागपुर के मुकाबले में रखा गया है जो मध्यप्रदेश में है। बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि यह द्रविड़ भाषा का शब्द है जिसे आर्यों ने ग्रहण कर लिया था। आधुनिक हिंदी में इसी का समानार्थक शब्द छोटू है, जिसका अर्थ होता है—छोटा लड़का या भाई आदि। यह छोटू भी वही शब्द है जो चुटिया नागपुर में चुटिया के रूप में है। चुटु और चुटुकुल का अर्थ होता

चाहिए—छोटी शाखा अर्थात् साम्राज्य-भोगी सातवाहनों की छोटी शाखा।

रुद्रदामन् और सातवाहनों पर उसका प्रभाव

§ १५६. पुराणों के अनुसार इस चुटु कुल का अंत वाकाटक-काल में अर्थात् सन् २५० ई० के लगभग हुआ था और उससे पहले १०० अथवा १०५ वर्षों तक उनका अस्तित्व रहा। इससे हम कह सकते हैं कि इस कुल का आरंभ सन् १५० ई० के लगभग हुआ होगा; और यह वह समय था जब कि रुद्रदामन् की शक्ति के उदय के कारण सातवाहनों को सबसे अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। राजकीय संघटन के विचार से रुद्रदामन् की जो स्थिति थी, उसका ठीक ठीक महत्त्व अभी तक भारतीय इतिहास ज्ञाताओं ने नहीं समझा है। उसे बहुत बड़ी शक्ति केवल अपनी उस कानूनी हैसियत के कारण प्राप्त हुई थी जो हैसियत किसी शक-शासक को न तो उससे पहले ही और न उसके बाद ही इस देश में हासिल हुई थी। उसका पिता पूर्ण रूप से अधिकार-च्युत कर दिया गया था और राज्य से हटा दिया गया था। परंतु काठियावाड़ (सुराष्ट्र) और उसके आस-पास के समस्त हिंदू-समाज के द्वारा रुद्रदामन् राजा निर्वाचित हुआ था (सर्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं (म्) पतित्वे वृतेन)। जिन सौराष्ट्रों ने उसे राजा निर्वाचित किया था, वे अर्थशास्त्र[1] के अनुसार प्रजातंत्री थे। निर्वाचित होने पर रुद्रदामन् को शपथपूर्वक एक प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी, जिसकी घोषणा और पुष्टि उसने अपने जूनागढ़वाले शिलालेख

---

१. ११. १२५।

में भी की है। उसमें उसने यह प्रतिज्ञा भी की थी कि--"मैं अपनी प्रतिज्ञा (अर्थात् राज्याभिषेक के समय की हुई शपथ[१]) का सदा सत्यतापूर्वक पालन करूँगा।" रुद्रदामन् ने जो शपथ या प्रतिज्ञा की थी और अपने जूनागढ़वाले शिलालेख में उसने जो सार्वजनिक घोषणा की थी, उसका आशय यही था कि जब तक मुझमे दम रहेगा, तब तक मै एक सच्चे हिंदू राजा की भाँति व्यवहार और आचरण करूँगा; और इस वात के उदाहरण-स्वरूप उसने कहा था कि जव मैने सुदर्शन सागर नाम की झील फिर से बनवाने का विचार किया, तब मेरे मंत्रियों ने उसका इसलिये विरोध किया कि उसमें बहुत अधिक धन व्यय होगा। उस समय मैंने उनका निर्णय मान लिया और अपने निजी धन से उसे फिर से बनवा दिया। इस राजा का आचरण और व्यवहार वैसा ही था, जैसा किसी पक्के से पक्के और कट्टर हिंदू राजा का हो सकता था; और इसी-लिए हम यह भी मान सकते है कि यह बहुत ही लोकप्रिय नेता बन गया होगा। वह संस्कृत का अच्छा जानकार और शास्त्रों का बड़ा पंडित था और उसने संस्कृत को ही अपने यहाँ फिर से राजभापा का स्थान दिया था। सातवाहन राजा को उससे बहुत वड़ा खटका हो गया था और उसने दक्षिणापथ के अधीश्वर को दो बार परास्त भी किया था। परंतु फिर भी हिंदू धर्म-शास्त्र के अनुसार उसने भ्रष्ट राजा (अर्थात् अपने पराजित शत्रु) को फिर से उसके राज-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था। उसके शासन के कारण सातवाहन साम्राज्य मे एक नया संघटन हुआ था।

---

१. सत्य प्रतिज्ञा अर्थात् वह प्रतिज्ञा जो राजा को अपने राज्याभिषेक के समय करनी पडती थी। देखो Hindu Polity दूसरा भाग, पृ० ५०।

§ १६०. बस इन्हीं सब परिस्थितियों मे चुटु कुल या छोटे कुल का उदय हुआ था और उसके साथ ही साथ कुछ और भी अधीनस्थ या भृत्य-कुलों का भी उदय हुआ था। जो चुटुकुलानंद सिक्के मिलते हैं, वे संभवतः इसी काल के माने जा सकते हैं। यह चुटु या छोटा कुल पश्चिमी समुद्र-तट की रक्षा करता था। उनकी राजधानी वनवसी (कनारा) प्रांत की वैजयंती नाम की नगरी मे थी। उनका शिलालेख हमे उत्तर मे कन्हेरी नामक स्थान मे मिलता है और उनके सिक्के दक्षिण में करवार नामक स्थान मे मिलते हैं जो वनवसी प्रांत मे समुद्र-तट पर है। उनके जो सिक्के चुटुकुलानंद (नंबर जी० पी० २)[1] कहे जाते है, उन पर के अक्षर यद्यपि सन् १५० ई० से भी अधिक पुराने जान पड़ते हैं, परंतु फिर भी उनमे "कु" का जो रूप है, जिसका सिरा कुछ मोटा है और उनमें जिस रूप मे "न" के ठीक ऊपर अनुस्वार लगाया गया है और "स" का जो रूप है, वह बाद का है। ऐसा जान पड़ता है कि अक्षरों के पुराने रूप उन दिनो सिक्कों मे प्रायः रख दिए जाते थे; और कुल मिलाकर वे सब सिक्के सौ बरसों के दरमियान मे बने थे। यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि ये सिक्के चुटु-कुल के किसी राजा या व्यक्ति के नाम से नहीं बने थे, बल्कि उन सब पर उनकी राजकीय उपाधि या चुटु-कुल का ही नाम दिया जाता था। [राञो चुटुकुडानंदस= अर्थात् चुटु-कुल को आनंद देनेवाले (का सिक्का)]। और मुंडराष्ट्र के गवर्नर या शासक मुंडानंद के सिक्कों मे भी हमे

---

१. C, A. D. पृ० २२, प्लेट ८, G. P. २, G. P. ३, २३५।

यही विशेषताएँ दिखाई देती हैं। पल्लव शिलालेखों के अनुसार यह मुंडराष्ट्र आंध्र देश का एक प्रांत था[१]।

चुटुलोग और सातवाहनों की जाति—मलवल्ली शिलालेख

§ १६१. ये चुटु राजा, जिन्हें पुराणों में भृत्य आंध्र कहा गया है, साम्राज्य-भोगी आंध्रों की एक शाखा के ही थे और इन्हीं के द्वारा हमें सातवाहनों की जाति का भी कुछ पता चल सकता है। मैंने एक दूसरे स्थान पर[२] यह बतलाया है कि साम्राज्य-भोगी आंध्र ब्राह्मण जाति के थे। इस शाखा-कुल के वर्णन से इस मत की और भी पुष्टि होती है। उनका गोत्र मानव्य था जो केवल ब्राह्मणों का ही गोत्र होता है; और चुटु राजाओं के बाद भी यह बात मानी जाती थी कि वे ब्राह्मण थे। मैसूर के शिमोगा जिले में मलवल्ली नामक स्थान में शिव का एक मंदिर था जिसमें स्थापित मूर्त्ति का नाम मट्टपट्टि-देव था। इस मंदिर में एक चुटु-राजा ने कुछ जागीर चढ़ाई थी और उसे ब्रह्म-देय के रूप में एक ब्राह्मण को दान कर दिया था, जिसका नाम हारितीपुत्र कोंडमान था और जो कौडिन्य-गोत्र का था। इस दान का उल्लेख एक छः-पहलू खंभे पर अंकित है जो मलवल्ली

१. मुडानंद का सिक्का, नं० २६६ इसी वर्ग का है। जान पड़ता है कि इसका संबंध मुंडराष्ट्र से था और मुंडराष्ट्र का नाम पल्लव शिलालेखों में आया है। (एपि० इं० ८, १५६) चुटिया नागपुर की मुंडारी भाषा में मुंडा शब्द का अर्थ होता है—राजा।

२. बि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १६, पृ० २६३-२६४।

मे जमीन पर पड़ा हुआ था[१]। उसमे चुटु राजा का नाम और वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है—वैजयंतीपुर राजा मानव्य सगोत्तो हारितीपुत्ती विरहु कद चुटुकुलानंद सातकरिणा। इसी राजा ने अपने महावल्लभ रज्जुक को इस संबंध की आज्ञा भेजी थी। जान पड़ता है कि उसके बाद वाली किसी सरकार ने वह जागीर देवोत्तर समझकर फिर से किसी को दे दी थी। एक कदंब राजा ने बाद में फिर से "बहुत ही प्रसन्न मन से"[२] (परितुत्थेण अर्थात् परितुष्ट होकर) कोंडमान के एक वंशज को वह जागीर दान कर दी थी जो उस राजा का मामा और कौशिकीपुत्र था। इस दान मे पुरानी जागीर तो थी ही, पर साथ ही उसमें बारह नए गाँव भी जोड दिए गए थे और उन सब गाँवों के नामों का भी वहाँ अलग-अलग उल्लेख कर दिया गया है; और इस दान का भी उसी खंभे पर सार्वजनिक रूप से उल्लेख कर दिया गया था। पूर्वकालीन दाता ने जो दान किया था, उसका उस खंभे पर इस प्रकार उल्लेख है—शिव (खद) वम्मणा मानव्यसगोत्तेण हारितीपुत्तेन वैजयती-पतिना पुव्व-दत्तिति। यहाँ शिवखद वम्मेन करण कारक में आया है और इसके विपरीत कदंब राजा प्रथमा मे रखा गया है और यह शिवखद वम्मन ही वह पहला राजा था

---

१. E C. खंड ७, २५१–२५२, अंक २६३–२६४।

२. देखो रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल, सन् १६०५, पृ० २०५, पाद-टिप्पणी २ मे फ्लीट द्वारा इसका संशोधन। डा० फ्लीट ने यह मानकर कुछ गड़बड़ी पैदा कर दी है कि शिवस्कद वर्म्मन् एक कदंब राजा था। परंतु वास्तव में यह चुटु राजा का नाम है जिसे प्रो० रैप्सन ने स्पष्ट कर दिया है। देखो C. A. D, L. I. V.

जिसने वह दान किया था (पुव्वदत्ता)। इसमें उसके नाम के साथ भी वही उपाधियाँ हैं जो विष्णु-स्कंद शातकर्णि के शिलालेख में मिलती है। उन दिनो नाम के आगे उसका सम्मान बढ़ाने के लिये "शिव" शब्द जोड़ देने की बहुत अधिक प्रथा थी। इस राजा की माता का जो शिलालेख बनवसी मे उत्कीर्ण हुआ था,

'शिव' सम्मान-सूचक है

उसके अनुसार इस राजा का नाम शिवखदनागरि सिरी था; और कन्हेरी मे उसकी माता का जो शिलालेख है, उसमे उसका नाम खंड नाग सातक दिया है। इसलिये इसके आरंभ का 'शिव' शब्द केवल सम्मान-सूचक है। सात और साति वास्तव मे स्वाति शब्द का ही रूप है और पुराणो मे यह सात या साति शब्द आंध्रो के कई नामो के साथ आया है। स्वाति का अर्थ होता है—तलवार। उसकी माता विष्णुस्कंद की कन्या थी। इसी का नाम विण्हुकद या विण्हुकद्द भी मिलता है। यह चुटु-कुल का राजा था और बनवसीवाले शिलालेख मे इसी को सात-कण्णि भी कहा गया है। पहला दान स्वयं वैजयंती-पति पारितीपुत्र शिवस्कंद वर्म्मन्[1] ने नहीं किया था और न उसने उसका उल्लेख ही कराया था, बल्कि उसके दादा विष्णु-स्कंद (विण्हु कद्द[2]) सातकर्णि ने

---

१. कदव राजा ने "सात" को वदलकर "वर्म्मन्" कर दिया है अथवा "सात" के बाद ही वर्म्मन् भी जोड़ दिया है, और यद्यपि उससे पहले तो यह प्रथा नही थी, पर हाँ उसके समय मे राजा लोग अपने नाम के साथ "वर्म्मन्" शब्द जोड़ लिया करते थे।

२. मै इसे "कड्डु" नही वल्कि "कद्द" पढता हूँ। दूसरी पंक्ति मे जो "द" है, उसे पहली पंक्ति के मट्टपट्टिदेव और नंद मे के, तथा तीसरी पंक्ति के देय्य और दिन्नम् मे के "द" के साथ मिलाओ।

वह दान किया था और उसी ने उसे उत्कीर्ण भी कराया था। और दूसरे अभिलेख मे जो यह कहा गया है कि जब कदंब राजा ने यह सुना कि शिवस्कंद वर्म्मन् ने पहले यह दान किया था, तब उसने बहुत ही प्रसन्नतापूर्वक और परितुष्ट होकर उसे फिर से दान कर दिया, उसका आशय यह है कि प्रपिता और पौत्र के नामो मे कुछ गडबड़ी हो गई थी और प्रपिता के नाम के स्थान पर भूल से पौत्र का नाम लिख दिया गया था[1]।

मलवल्ली का कदंब राजा, चुटु-राजाओ के उपरात पल्लव हुए थे

§ १६२. मैंने वह प्लेट बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ा है और चौथी पंक्ति में "शिव" शब्द के पहले मैने देखा कि "कदबानाम् राजा" पढ़ना असंभव है। हॉ अंतिम पक्ति मे मुझे कदंबो के वैभव का अवश्य उल्लेख मिला है, और उसी पंक्ति से यह भी सूचित होता है कि वह कदंबो का लिखवाया हुआ दानपत्र है। उस लेख की चौथी पक्ति से ही बादवाले दान का उल्लेख आरंभ होता है, और उसमे का जो अंश पढ़ा जा सकता है, वह इस प्रकार है—शिव ख (द) वमरणा मानव्य स (गो) त्तेन हारितिपत्तेन वैजयंतीपति (न) (पंक्ति की समाप्ति)। "शिव" के पहले दो शब्द (राञा)

---

१. अथवा यह भी हो सकता है कि शिवस्कद ने फिर से उस दान की स्वीकृति दी हो और उसका समर्थन किया हो, जैसा कि उस पल्लव दान के संबंध में हुआ था जो एपि० इ १, पृ० २ में प्रकाशित हुआ है और जिसमें पल्लव-सम्राट् ने अपने पिता "बप्प" के किए हुए दान का समर्थन या पुष्टि की है।

और थे और तब उसके बाद खाली जगह है। "शिव" शब्द के पहले मि० राइस ने पढ़ा था—"सिद्धम् जयति मट्टपट्टिदेवो वैज-यंती-धम्म महाराजे पति-कत सौभ्मायिच्छपरा कदंबानाम् राजा" और इसी में मुझे जयतिमट—ध (म्) महा ··जा ··लिखे होने के भी कुछ चिन्ह मिलते हैं। इसके उपरांत मि० राइस ने जिसे "धिराजे" पढ़ा है, वह ठीक और साफ तरह से पढ़ा नहीं जाता, परंतु उसकी जगह पर मेरी समझ में यह पाठ है र (शा) म्मा अराप-ति···क। मि० राइस ने जो 'पति कद' आदि पढ़ा है, उसका कोई अर्थ नहीं होता। उन्होंने जिसे 'धि रा जे प ति क त' पढ़ा है, वह मेरी समझ में 'र (शा)म्मा अराप-ति' है। मुझे इस बात में कुछ भी संदेह नहीं है कि "धम्ममहाराजो" के बाद (मयु)-रशाम्मा आराप (य) ति था। "राञा" से पहले "प" के बाद जो छः अक्षर और "क" के बाद जो चार अक्षर मिट से गए हैं, यदि उन्हे खूब अच्छी तरह रगड़ कर साफ किया जाय और तब उनकी प्रतिलिपि तैयार की जाय तो उनके वास्तविक स्वरूपों का पता चल सकता है। मयूरशम्र्मा पहला कदंब राजा था। उसी ने यह दान फिर से जारी किया या दोहराया था।

परतु यह कोई आवश्यक निष्कर्ष नहीं हो सकता कि कदंबों के बाद तुरंत ही चुटु-वंश का राज्य आरंभ हो गया था। चुटुओं और कदंबो का परस्पर संबंध था और कदंब लोग चुटुओं की ही एक शाखा थे (देखो § २००)। अवश्य ही इन दोनों के मध्य में कोई शत्रु भी प्रबल हो गया होगा और वह शत्रु पल्लवों के सिवा और कोई नहीं हो सकता। तालगुंड वाले शिलालेख को देखते हुए इस विषय मे कल्पना या अनुमान के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि उसमें यह कहा गया है कि पल्लवों के राज्य

के कुछ अंश पर मयूरशर्म्मा ने अधिकार कर लिया था और उस पर अपना राज्य स्थापित किया था, और वह इसलिये राजा मान लिया गया था कि वह हारितीपुत्र मानव्य का वंशधर था[1]। इस प्रकार ईसवी तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे चुटुओं को पल्लवों ने दबा लिया था, और जिस पल्लव राजा ने इस प्रकार चुटुओं को दबाया था, वह शिवस्कंद वर्म्मन् पल्लव से ठीक पहले हुआ था; अर्थात् वह शिवस्कंद वर्म्मन् का पिता था जिसने एक अश्वमेध यज्ञ किया था (देखो § १८३)।

§ १६३. कौडिन्य लोग ईसवी दूसरी शताब्दी के आरंभ में ही क्षेत्र मे आ गए थे। ये लोग कदाचित् उसी वंश के वंशधर थे जिसने अपना एक वंशधर चंपा (इंडो-चाइना) मे कौंडिन्य राज्य स्थापित करने के लिये भेजा था। जान पड़ता है कि साम्राज्य-भोगी सातवाहनों के समय मे ये लोग उत्तरी भारत से बुलाए गए थे। यह वंश बहुत ही प्रतिष्ठित था। दो मलवल्ली अभिलेखों मे इनका नाम बहुत सम्मानपूर्वक आया है और इनका राज-वंश के साथ संबंध था। चंपा मे कौंडिन्यों के संबंध मे जो अनुश्रुति है, उसका हमे यहाँ ऐतिहासिक समर्थन मिलता है। चंपा में जो उपनिवेश स्थापित हुआ था, उसे बसाने के लिये कौंडिन्यों के नेतृत्व मे दक्षिण भारत से कुछ लोग गए थे। फिर समुद्रगुप्त के शासन-काल मे एक और कौंडिन्य चंपा गया था, जहाँ उसने समाज-सुधार किया था। बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि उसका संबंध भी इसी वंश के साथ रहा होगा। इन

कौडिन्य

---

१. एपि० इं० खंड ८, पृ० ३१, ३२, शिलालेख की पंक्तियाँ ६,७।

कौंडिन्यों का अपनी चंपावाली शाखा के साथ अवश्य ही संपर्क रहा होगा और वह संपर्क उनके लिये बहुत कुछ लाभदायक भी होता ही होगा। इस प्रकार ईसवी दूसरी, तीसरी और चौथी शताब्दियों मे दक्षिण भारत मे भी और उपनिवेशों मे भी वे लोग सामाजिक नेता थे।

§ १६४. पुराणों मे दी हुई बातों से आभीरों का इतिहास बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि आभीरों की १० अथवा ७ पीढ़ियाँ कही गई हैं, परंतु फिर भी उनका राज्य-काल केवल ६७ वर्ष था। साधारणतः यही माना जाता है कि उस समय के सातवाहनों के समय मे इन आभीरों ने 'उस ईश्वरसेन की अधीनता मे एक राज्य स्थापित किया था, जिसका शिलालेख हमे नासिक मे मिलता है[1]। उस शिलालेख मे दो महत्त्वपूर्ण जानकारी की बातें मिलती है। (१) जो ईश्वरसेन उसमें राजा कहा गया है और जिसके शासन-काल के नवे वर्ष मे वह लेख उत्कीर्ण हुआ था, वह किसी राजा का लड़का नहीं था, बल्कि उसका पिता शिवदत्त एक सामान्य आभीर था (शिवदत्तआभीर-पुत्रस्य)। और (२) जिस महिला ने वह दान किया था और सभी तरह के रोगी साधुओं की चिकित्सा आदि के लिये कुछ पंचायती संघों के पास धन जमा कर दिया था, उसने अपने आपको "गणपक विश्ववर्म्मन् की माता" और "गणपक रेभिल की पत्नी' कहा है जिससे यह सूचित होता है कि उसके संबंधी किसी गण प्रजातंत्र के प्रधान थे। जिन आभीरों का साम्राज्य-भोगी सात-

आभीर

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ८, पृ० ८८।

वाहनों के समय में उदय हुआ था, जान पड़ता है कि उनका एक गण या प्रजातंत्र था और उनमें ईश्वरसेन ऐसा प्रथम व्यक्ति हुआ था जिसने राजा (राजन्) की उपाधि धारण की थी। उसके संबंध में यह विश्वास किया जाता है कि उसने सन् २३६ और २३९ ई० के मध्य में शक क्षत्रप को अधिकार-च्युत करके निकाल दिया था। मत्स्यपुराण (देखो § १५५) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विंध्यशक्ति के उदय के पहले अर्थात् सन् २४८ ई० के लगभग आभीरों का अंत हो गया था। ऐसा जान पड़ता है कि जिस समय ईश्वरसेन का उदय हुआ था, उसी समय से पुराण यह मान लेते हैं कि आभीरों का गण या प्रजातंत्री और अधीनता का काल समाप्त हो गया था। यदि ६७ वर्ष के अंदर ही दस अथवा सात आदमी बारी बारी से शासन के उत्तराधिकारी हों तो इसका अर्थ केवल यही हो सकता है कि उनमें गणतंत्र या प्रजातंत्र प्रचलित था और उसमें उसी तरह उत्तराधिकारियों या शासकों की पीढ़ियाँ होती थीं, जैसी पुष्यमित्रों तथा इसी प्रकार के दूसरे मित्रों में हुआ करती थीं जिनका उल्लेख पुराणों में है और प्रत्येक अधिकारी का शासन-काल इसी प्रकार अल्प हुआ करता था। जिस समय समुद्रगुप्त क्षेत्र में आता है, उस समय हम फिर आभीरों को गणतंत्री या प्रजातंत्री समाज के रूप में पाते हैं। ईश्वरसेन ने कदाचित् आभीर संघटन बदल डाला था और एक राजवंश स्थापित करने का प्रयत्न किया था। नासिक वाले शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि स्वयं ईश्वरसेन के समय में ही गणपकों का अस्तित्व था, अर्थात् गणतंत्र या प्रजातंत्र प्रचलित था और उसका प्रधान गणपक कहलाता था। यद्यपि अधिकतर संभावना तो इसी बात की जान पड़ती है कि वह गणतंत्र के बाहर का एक नया और एकतंत्री शासक या राजा था, परंतु यह

भी हो सकता है कि वह एक गणतंत्री राजा रहा हो। जो हो, परंतु यह बात अवश्य निश्चित है कि उसके समय मे आभीरो ने एक राजनीतिक समाज के रूप मे सातवाहन राजवंश की अधीनता में रहना छोड़ दिया था। ईश्वरसेन के ६७ वर्ष पहले सातवाहनो ने जो आभीर गणतंत्र को मान्य किया था, उसका समय सन् १६० ई० के लगभग हो सकता है। रुद्रदामन् को गणतंत्री यौधेयो और मालवो ने बहुत तंग कर रखा था; और जान पड़ता है कि सातवाहनो ने आभीरो को बीच में इसीलिये रख छोड़ा था कि यौधेयो और मालवों के साथ विशेष संघर्ष की संभावना न रह जाय और आभीर लोग बीच मे रह कर दोनो पक्षो का संघर्ष बचावें। सातवाहनों ने देखा होगा कि अपने पड़ोसी क्षत्रप के राज्य से ठीक सटा हुआ एक गणतंत्र रखने मे कई लाभ हैं।

§ १६५. पुराणो में आभीर शासको की संख्या के संबंध मे कुछ गड़बड़ी है; कही वे १० कहे गए है और कही ७; और यह गड़बड़ी इसलिये हुई है कि इसके ठीक बाद ही एक और संख्या भी दी गई है अर्थात् कहा गया है कि गर्दभिलो मे सात शासक हुए थे। भागवत मे कहा गया है कि गर्दभिलो मे १० और आभीरो मे ७ शासक हुए थे और दूसरे पुराणो मे कहा गया है कि आभीरो मे १० और गर्दभिलो मे ७ शासक हुए थे। यह संख्या-विपर्यय के कारण होने वाली भूल है। परंतु भागवत के अतिरिक्त और सभी पुराण इस बात में सहमत हैं कि आभीरो मे १० शासक हुए; और इसलिये यही बात अधिक ठीक जँचती है।

§ १६६. जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कौटिल्य के समय मे काठियावाड़ मे सौराष्ट्रो का गणतंत्र था। जान पड़ता है

कि आभीर और सौराष्ट्र लोग यादवों और अंधक वृष्णियों के ही संगी-साथी और रिश्तेदार थे।

श्रीपार्वतीय कौन थे और उनका इतिहास

§ १६७. गंटूर जिले मे कृष्णा नदी के किनारे नागार्जुनीकोंड अर्थात् नागार्जुन की पहाड़ी पर अभी हाल मे जो कई शिलालेख मिले हैं उनके आधार पर डा० हीरानंद शास्त्री ने यह निश्चय कर लिया है कि श्रीपर्वत कौन था। वे सब शिलालेख

श्रीपर्वत

ईसवी तीसरी शताब्दी के है। इन पहाड़ियों के बीच मे एक उपत्यका या घाटी है, और इन पहाड़ियों पर उन दिनों किलेबंदी थी। ईंटों की किलेबंदी के कुछ भग्नावशेष वहाँ अभी तक वर्त्तमान हैं और वे ईंटे मौर्य ढंग की हैं। सैनिक कार्यों के लिये यह स्थान बहुत ही उपयुक्त था और एक दृढ़ गढ़ का काम देता था, और जान पडता है कि मौर्यों के समय अथवा उससे भी और पहले से यह स्थान प्रांतीय राजधानी के रूप मे चला आ रहा था। वहाँ शत्रुओं से अपना बचाव करने के लिये जो प्राकृतिक योजनाएँ थीं, उन्हे ईंटो और पत्थरो की किलेबंदी से और भी ज्यादा मजबूत कर लिया गया था। वे ईंटे २० इंच लम्बी, १० इंच चौड़ी

---

१. आरकियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२६-२७, पृ० १५६ और उसके आगे, १९२७-२८, पृ० ११४। लिपि के संबंध मे देखो आर० स० रिपोर्ट १९२६-२७, पृ० १८५-१८९। जब मेरी यह मूल पुस्तक छपने लगी थी, तब मुझे एपिग्राफिया इंडिका, खंड २० का पहला अंक मिला था जिसमे डा० वोगेल ने इन शिलालेखों को संपादित करके प्रकाशित कराया है।

और ३ इंच मोटी हैं। और यही नाप उन ईंटो की भी है जो बुलंदीबाग में खोदकर निकाली गई हैं। लक्षणो से सिद्ध होता है कि इस स्थान पर सातवाहनो के साम्राज्य की किलेबंदीवाली राजधानी थी, जिनके सिक्के—जिनकी संख्या ४४ थी—एक मठ के भग्नावशेष मे मैमारो के औजारो के साथ पाए गए थे[1]।

आंध्र देश के श्रीपर्वत का इक्ष्वाकु-वंश

§ १६८. मि० हामिद कुरैशी और मि० लांगहर्स्ट ने इस स्थान पर बौद्धों के कुछ ऐसे स्तूपो के भग्नावशेष भी खोद निकाले हैं जिन पर अमरावती के ढंग की नक्काशी है। वहाँ मि० कुरैशी ने अठारह शिलालेख ढूँढ़ निकाले थे जिनमे से पंद्रह शिलालेख संगमरमर के पत्थरो पर खुदे हुए है। ये सब खंभे एक ऐसे महाचेतिय या बड़े स्तूप के चारो ओर गड़े थे जिसके अंदर महात्मा बुद्ध के मृत शरीर का कुछ अंश (दाँत या अस्थि आदि) रक्षित था[2]। शिलालेखो से पता चलता है कि उस स्थान का नाम श्रीपर्वत था। हम यह अनुश्रुति भी जानते है कि सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु और विद्वान् नागार्जुन श्रीपर्वत पर चला गया था और वही उसकी मृत्यु हुई थी, और इस संबंध मे एक बहुत ही अद्भुत बात यह है कि उस पहाड़ीका आजकल भी जो नाम (नागार्जुनीकोंड) प्रचलित है, उससे भी इस बात का समर्थन होता है। युआन-च्वांग ने लिखा है कि नागार्जुन सातवाहन राजा के दरबार

---

१. आरकियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२७-२८, पृ० १२१।

२. महा० बुद्ध के शरीर का वह अवशेष अब मिल गया है। देखो Modern Review (कलकत्ता), १९३२, पृ० ८८।

में रहता था[१]। सब शिलालेख पाली ढङ्ग की प्राकृत भाषा में हैं। पत्थर की कुछ इमारतें और असली इमारतें भी कुछ स्त्रियों की बनवाई हुई थीं; और ये सब इमारतें भिक्षु और स्थपति आनंद के कहने से और उसीकी देख-रेख में बनवाई गई थीं। ये सब स्त्रियाँ इक्ष्वाकु (इखाकु) राजवंश की थीं। सन् १८८२ ई० में जग्गय्य-पेट नामक स्थान में जो तीन शिलालेख मिले थे, उनसे हमें इक्ष्वाकु-वंश का पहले से ही पता लग चुका है, और डाक्टर बुह्लर ने यह निश्चय किया था कि ये सब शिलालेख ईसवी तीसरी शताब्दी के हैं[२]। मि० कुरैशी को जो अठारह शिलालेख मिले थे, उनसे पता चलता है कि राजवंश की कई स्त्रियाँ पक्की बौद्ध थीं, परंतु राजा लोग सनातनी हिंदू थे और उनकी राजधानी विजयपुरी पास ही उस घाटी में थी[३]। इनमें से अधिकांश शिलालेख राजा सिरि-वीर पुरिसदत्त के शासन-काल के ही हैं जो उसके राज्यारोहण के छठे और अठारहवें वर्ष के बीच के हैं। जग्गय्यपेट में, जिसका समय संवत् २० है, एक शिलालेख महाराज वासिठीपुत्र सिरि

१. Watters, २, २००, २०७।

२. इंडियन एंटिक्वेरी, जिल्द ११, पृ० २५६।

३. आरकियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२७–२८, पृ० ११७।

बाहुबल चाटमूल (अथवा चाटमूल द्वितीय) के राज्यारोहण के ग्यारहवें वर्ष का है। इन शिलालेखो और जग्गय्यपेट वाले शिलालेखों के मिलान से नीचे लिखा वंश-वृक्ष तैयार होता है

चातिसिरि = महातलवर[1] पूकिय का कन्दसिरि

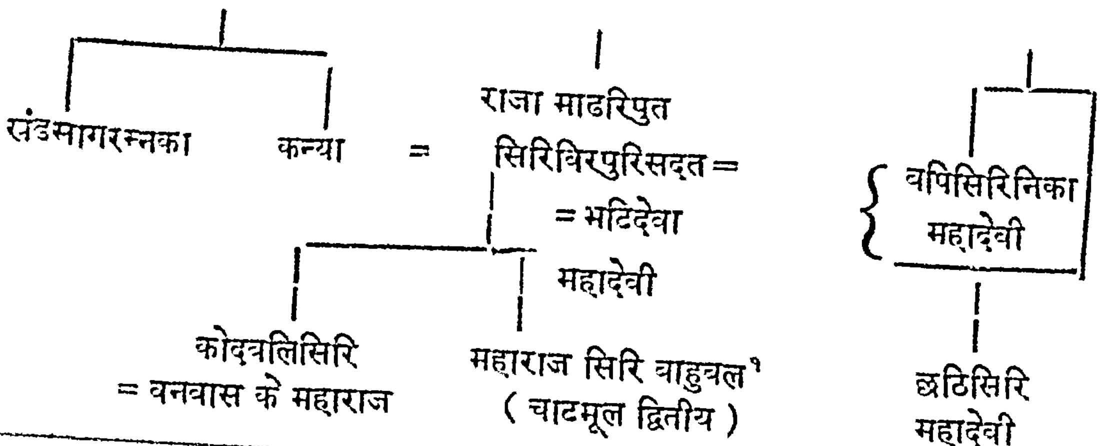
महाराज वासिठीपुत इखाकु सिरि चाटमूल (एपि० इं० २०-१८)

हम्मसिरिणिका

अडवि चाटसिरि = महातलवर[2]

१. जान पड़ता है कि तलवर का सबंध उस तरवाड़ शब्द से है जो अदालतो के मुकदमो की रिपोर्टों (Law Reports) मे तरवाड़ के रूप में मिलता है और जिसका अर्थ है—ऐसा राज्य जो किसी दूसरे को दिया जा सकता हो। महातलवर का मतलब होगा—बड़ा राजा या बहुत बड़ा जागीरदार।

२. इसका विवाह भनकस के महादंडनायक खंड = विशाखाक से हुआ था।



१. इन नामों के संस्कृत रूप इस प्रकार होंगे—

विरपुरिसदत = वीरपुरुषदत्त। चान्तिसिरि = शान्तिश्री। हम्मसिरि = जिका=हर्म्यश्रीका। छठि=षष्ठी (कात्यायिनी देवी)। चाट=शात (जिसका अर्थ होता है—प्रसन्न)।

डा० हीरानंद शास्त्री ने जो "बाहुबल" पढा है, वह ठीक है। देखो ग्यारहवाँ प्लेट जिसमें वह स्पष्ट चोकोर "ब" है। डा० वोगेल ने जो इसे "एहुवल" पढा है, वह प्लेट को देखने से ठीक नहीं जान पड़ता। प्लेट जी (G) में "ब" का रूप गलत बना है, परंतु उसका पूरा रूप प्लेट एच (H) में मिलता है जिसमें वह दो बार आया है और दोनों बार स्पष्ट "ब" ही है।

वीर पुरिसदत्त ने अपनी तीन ममेरी बहनों के साथ विवाह किया था, जिनमें से दो उसी तिथि के शिलालेखों में "महादेवी" कही गई हैं (एपि० इं०, खंड २०, पृ० १६-२०)। इनमें से भटिदेव कदाचित् सबसे बड़ी रानी थी और वह चाटमूल द्वितीय की माता थी। इसके अतिरिक्त राज-परिवार की चार और स्त्रियों ने भी बड़े बड़े दान किए थे, पर शिलालेखों में यह नहीं कहा गया है कि राजा अथवा राज-परिवार के साथ उनका क्या संबंध था। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. महादेवी रुद्रधर भट्टारिका उजनिका (अर्थात् उज्जैन से आई हुई) जो एक महाराज की लड़की थी। महाचेतिय से संबद्ध विहार को इसने चांतिसिरि के साथ मिलकर १०७ खंभे और बहुत से दीनार दिए थे।

२. एक महातलवरी जो महातलवर महासेनापति विण्हुसिरि की माता और प्रकीयों के महासेनापति महातलवर वासिठीपुत महाकुंडसिरि की पत्नी थी।

३. चुल चाटसिरिका महासेनापत्नी जो हिरंजकस के महासेनापति महातलवर वासिठीपुत खंड चलिकिरेम्मणक की पत्नी थी।

वनवास का कोई एक महाराज भी था, जिसे इक्ष्वाकु राज-परिवार की एक स्त्री (चाटमूल द्वितीय की बहन) ब्याही थी। वह या तो चटु राजाओं में अंतिम था और या अंतिम राजाओं में से एक था; और उसकी उपाधियों से यह जान पड़ता है कि वह इक्ष्वाकुओं का अधीनस्थ या भृत्य हो गया था। यह स्पष्ट है कि चाटमूल प्रथम पहले सातवाहनों के अधीन एक महा-

राज था। शिलालेखों मे उसकी उपाधि साधारणतः छोड़ दी गई है और उसके संबंध मे केवल इसी प्रकार उल्लेख किया गया है—"इक्ष्वाकुओ का सिरि चाटमूल।" और जहाँ उसकी उपाधि भी दी गई है [जैसे उसकी लड़की ने एक स्थान पर उसकी उपाधि दी है, देखो एपिग्राफिया इंडिका, खड २०, पृ० १८ (वी २)]। वहाँ उसे सदा "महाराज" ही कहा गया है, परंतु वीरपुरिसदत्त को सदा (केवल दो स्थानो को छोड़कर) राजन् ही कहा गया है। वीरपुरिसदत्त का पुत्र चाटमूल द्वितीय सदा "महाराज" ही कहा गया है (एपिग्राफिया इंडिका, खंड २०, पृ० २४)। इससे सूचित होता है कि चाटमूल प्रथम ने राजकीय पद ग्रहण किया था और उसके वाद केवल एक पीढ़ी तक उसके वंश मे वह पद चला था और चाटमूल द्वितीय के समय मे उसके वंश से वह पद निकल गया था। रुद्रधर भट्टारिका उज्जयिनी के महाराज की कन्या थी; और इससे यह प्रमाणित होता है कि इक्ष्वाकुओं के समय में अवती मे कोई क्षत्रप नहीं वल्कि एक हिंदू शासक राज्य करता था, और इस वात की पुष्टि पौराणिक इतिहास से भी तथा दूसरे साधनो से भी होती है। रुद्रधर भट्टारिका का पिता अवश्य ही भार-शिव साम्राज्य का एक सदस्य रहा होगा (वह भार-शिव साम्राज्य का कोई अधीनस्थ राजा होगा)।

§ १६२. राजा सिरि चाटमूल (प्रथम) ने अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ किया था और वह देवताओ के सेनापति महासेन का उपासक था। इन लोगों मे अपनी मौसेरी और ममेरी वहनो से विवाह करने की इक्ष्वाकुओं वाली प्रथा प्रचलित थी। वौद्ध धर्म के प्रति उन लोगों ने जो सहनशीलता दिखलाई थी, वह अवश्य ही वहुत मार्के की थी। राजपरिवार की प्रायः सभी स्त्रियाँ वौद्ध थीं, और यद्यपि राजाओं तथा राजपरिवार

के दूसरे पुरुषों ने उन स्त्रियों को दान करने के लिये धन दिया था, परंतु फिर भी किसी राजा अथवा राजपरिवार के दूसरे पुरुष ने स्वयं अपने नाम से एक भी दान नहीं किया था। इक्ष्वाकुओं ने अपने पुराने स्वामी सातवाहनों की ही धार्मिक नीति का अनुकरण किया था। उनका शासन बहुत ही शांतिपूर्ण था। वीर पुरुषदत्त के समय के शिलालेखों में से एक शिलालेख में यह कहा गया है कि नागार्जुन की पहाड़ी पर वंग, वनवास, चीन, चिलात, काश्मीर और गांधार तक के यात्री तथा सिंहली भिक्षु आदि आया करते थे।

दक्षिण और उत्तर का पारस्परिक प्रभाव

§ १७०. चांतिसिरि के परिवार के शिलालेखों की लिपि से सिद्ध होता है कि वह ईसवी तीसरी शताब्दी में हुई थी। बुह्लर ने वीर पुरिसदत्त का, जो चांतिसिरि का भतीजा और दामाद था, समय ईसवी तीसरी शताब्दी निश्चित किया है[1]। जान पड़ता है कि राजा चाटमूल (प्रथम) ने सन् २२० ई० के लगभग अर्थात् आंध्र के साम्राज्य भोगी सातवाहन राजवंश के चंडसाति का अंत होने के थोड़े ही दिन बाद अश्वमेध यज्ञ किया था[2]। इसके कुछ ही दशकों के बाद पल्लव

---

१. इंडियन एंटिक्वेरी, खंड ११, पृ० २५८।

२. सन् २१० ई० के लगभग का उसका अभिलेख वहाँ पाया जाता है (एपि० इ० १८, ३१८)। इसके उपरांत राजा पुलोमावि (तृतीय) हुआ था और पुराणों में उसी से इस वंश का अंत कर दिया गया है (बि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १६)। और जान पड़ता है कि राजा पुलोमावि तृतीय अपने पूर्वजों के समस्त राज्य का उत्तराधिकारी नहीं हुआ था।

राजा शिवस्कंद वर्म्मन् ने भी इसी प्रकार के यज्ञ (अग्निष्टोम, वाजपेय, अश्वमेध[1]) किए थे और वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन प्रथम ने भी और भी अधिक ठाट-बाट से ये सब यज्ञ किए थे। इस प्रकार यहाँ आकर उत्तर भारत और दक्षिण भारत के इतिहास परस्पर संबद्ध हो जाते हैं।

§ १७१. इन लोगों का वंश उत्तर से आये हुए अच्छे क्षत्रियों का था। प्राचीन इक्ष्वाकुओं की भाँति ये लोग भी अपनी मौसेरी, और ममेरी आदि बहनों के साथ विवाह करते थे। जान पड़ता है कि जिस समय सातवाहन लोग उत्तर में संयुक्त प्रांत तथा बिहार तक पहुँच गए थे; और जिस समय वे साम्राज्य के अधिकारी थे संभवतः उसी समय ये लोग उत्तर भारत से चलकर दक्षिण की ओर गए थे। श्रीपर्वत के इक्ष्वाकुओं में चाटमूल प्रथम ऐसा पहला राजा था, जिसने अपने पूर्ण स्वाधीन शासक होने की घोषणा की थी; और यह घोषणा उसने संभवतः अपने शासन के अंतिम दिनों में की थी। परंतु यह एक ध्यान रखने की बात है कि शिलालेखों में उसका नाम बिना किसी उपाधि के आया है। केवल भटिदेवा के शिलालेख में उसका नाम उपाधि सहित है, जिसमें उसकी सामंत वाली महाराज की उपाधि दी गई

---

१. एपि० इ० खंड १, पृ० ५. शिवस्कंद वर्म्मन् के पिता के नाम के साथ जो विशेषण लगाए गए हैं, वे इक्ष्वाकु शैली के हैं जिससे सूचित होता है कि इक्ष्वाकुओं के ठीक बाद ही उसे राजकीय अधिकार प्राप्त हुए थे। यथा—

(इक्ष्वाकु) हिरण्य-कोटि-गो-सतसहस्र-हल-सत-सहसदायिस।

(पल्लव) अनेक-हिरण्य-कोटी-गो-हल-सतसहस्र-पदायिनो।

है। केवल वीर पुरिसदत्त को राजन् की उपाधि प्राप्त थी। शिलालेखों में चाटमूल द्वितीय के नाम के साथ वही सामंतो-वाली "महाराज" की उपाधि मिलती है। उसने दक्षिणापथ के दक्षिणी साम्राज्य को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया था और इसका आरंभ उसने एक अश्वमेध यज्ञ से किया था। उत्तर मे जो राजनीतिक काम भार-शिव कर रहे थे, वही दक्षिण मे इक्ष्वाकु लोग करना चाहते थे। जान पड़ता है कि भार-शिवो का उदाहरण देखकर ही चाटमूल (प्रथम) ने भी उनका अनुकरण करना चाहा था, क्योंकि उत्तर मे भारशिव उस समय तक अपनी योजना सफलतापूर्वक पूरी कर चुके थे और उन्होने मध्यप्रदेश मे आंध्र की सीमा तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। उत्तर के साथ इक्ष्वाकुओं का जो संबंध था, उसकी पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि इक्ष्वाकु की रानियो मे से एक रानी उज्जयिनी से आई थी।

§ १७२. हम यह मान सकते हैं कि चंद्रसाति सातवाहन के उपरांत सन् २२० ई० के लगभग इक्ष्वाकु वंश ने साम्राज्य स्थापित करने का विचार किया था[1]। इनकी तीन पीढ़ियों ने

१. एपिग्राफिया इंडिका, खड १८, पृ० ३१८। राजा वासिठिपुत समि (स्वामिन्) चंडसातिवाला शिलालेख उसके राज्य-काल के दूसरे वर्ष मे उत्कीर्ण हुआ था और उस पर तिथि दी है म १, हे २, दि १। मि० कृष्ण शास्त्री इसका अर्थ लगाते हैं—मार्गशीर्ष बहुल प्रथमा, और हिसाब लगाकर उन्होने निश्चय किया है कि वह शिलालेख दिसंबर सन् २१० ई० का है। मिलान करो पुराणों मे दिया हुआ इस राजा का तिथि-काल सन् २२८-२३१ ई०, जिसका विवेचन बिहार-उडीसा रिसर्च सोसाइटीके जरनल खड १६, पृ० २७६ मे हुआ है। उक्त शिलालेख पिठापुरम् से नौ मील को दूरी पर कोडवलि नामक स्थान में है।

राज्य किया था, इसलिये हम कह सकते हैं कि इस वंश का अंत सन् २५०-२६० ई० के लगभग हुआ होगा; और इस बात का मिलान पुराणों से भी हो जाता है; क्योंकि उनमें कहा गया है कि जिस समय विंध्यशक्ति का उदय हुआ था, उसी समय इक्ष्वाकु वंश का अंत हुआ था। सातवाहनों ने जिस समय चुटुओं और आभीरों की स्थापना की थी, लगभग उसी समय इक्ष्वाकुओं की भी स्थापना की थी। चुटु और आभीर लोग तो पश्चिम की रक्षा करते थे और इक्ष्वाकु लोग पूर्व की ओर नियुक्त किए गए थे। चाटमूल द्वितीय इस वंश का कदाचित् अंतिम राजा था। शिवस्कंद वर्म्मन् पल्लव के एक सामंत महाराज (जिसे स्वामी पिता या वप्पस्वामिन् कहा गया है) के शासन-काल के दसवें वर्ष में हम देखते हैं कि आंध्र देश पर पल्लव सरकार का अधिकार था अर्थात् सन् २७० ई० के लगभग (§§ १८०, १८७) इक्ष्वाकु लोग अज्ञात हो गए थे। अतः इन शासनों का समय लगभग इस प्रकार होगा—

चाटमूल प्रथम (सन् २२०—२३० ई०)
पुरिसदत्त (सन् २३०-२५० ई०)
चाटमूल द्वितीय (सन् २५०-२६० ई०)

§ १७२ क. श्रीपर्वत की कला में द्वारपाल के रूप में एक शक की मूर्त्ति मिलती है[1] और इसका संबंध सातवाहन काल से ही हो सकता है। विरोधी और शत्रु शक को जो द्वारपाल का पद दिया गया है, उसी से उसका समय निश्चित हो सकता है, और एक विहार के खँडहरों में जो सातवाहन सिक्के पाए गए हैं, उनसे भी समय निश्चित हो सकता है।

श्रीपर्वत और वेंगी-वाली कला

1. माडर्न रिव्यू, कलकत्ता, जुलाई १९३२, पृ० ८८।

खंभो मे जो मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं, वे उसी अमरावती की कला की है जिसे भारतीय-कला की वेंगीवाली शाखा कहते है। जैसा कि अमरावती-वाले शिलालेखों (एपि० इं०, खंड १५, पृ० २६७) से प्रमाणित होता है, यह कला ईसवी सन् से कई शताब्दी पहले से चली आ रही थी। अमरावती मे जो बहुत बढ़िया नक्काशी के काम है, वे मेरी समझ में सातवाहनो के ही समय के है, जिनका व्यक्तिगत नाम शियेन-ते-क या शन्ते-क (वाट्टर्स Watters २. २०७) था और जो मुझे शांतकर्ण का ही बिगड़ा हुआ रूप जान पड़ता है; और शांतकर्ण शब्द सातवाहन सूची मे तीन बार आया है। युआन च्वांग ने जो यह अनुश्रुति सुनी थी कि सातवाहन राजा नागार्जुन का संरक्षक था, वह तब तक प्रामाणिक नही हो सकती, जब तक नागार्जुन ईसा या ईसवी सन् से पहले न हुआ हो। युआन-च्वांग ने लिखा है कि मूल स्तूप अशोक का बनवाया हुआ था। इक्ष्वाकुओं ने जो काम किया था, वह सातवाहनो की नकल थी। केवल शातकर्णि द्वितीय ही इतना संपन्न था कि वह अशोक के आंध्र देशवाले स्तूप को अलंकृत कर सकता। उसका शासनकाल भी बहुत विस्तृत था (उसने ई० पू० सन् १०० से सन् ४४ तक राज्य किया था। देखो बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १६, पृ० २७८)। और अशोक के स्तूप को अलंकृत करने के लिये उसी को यथेष्ट समय मिला था। फिर युआन-च्वांग ने भी यही लिखा है कि वह सातवाहन राजा बहुत दीर्घजीवी था और उसके पुत्र का शासन-काल अमरावती मे एक स्थान पर अंकित है (देखो ल्यूडर्स नं० १२४८) यह भी प्रवाद है कि स्तूप बनवाने मे जब राजा शांतक सातवाहन का खजाना खाली हो गया, तब नागार्जुन ने पहाड़ी मे से निकालकर उसे बहुत सा सोना दिया था। और हो सकता है कि इस जनश्रुति का

मूल यह हो कि नागार्जुन ने ही सबसे पहले मैसूर या बालाघाट-वाली सोने की खान का पता लगाया हो। नागार्जुन ने अपने दीर्घ जीवन में जिन बहुत-सी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया था, उनमें धातुओं और रसायन की विद्याएँ भी थीं।

१६. पल्लव और उनका मूल

§ १७३. जो पल्लव लोग सातवाहनों के अंतिम अवशिष्टों अर्थात् इक्ष्वाकुओं और चुटुओं को दबाकर और अधिकारच्युत करके स्वय उनके स्थान पर बैठे थे, उनका भारतीय इतिहास मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्हे दक्षिण भारत के वाकाटक और गुप्त ही समझना चाहिए। जिस प्रकार उत्तर भारत मे वाकाटको ने सस्कृत का फिर से प्रचार किया था, उसी प्रकार दक्षिण भारत मे पल्लवों ने किया था। और जिस प्रकार उत्तर भारत मे वाकाटको ने शैव धर्म को राजकीय धर्म बनाया था, उसी प्रकार पल्लवो ने उसे दक्षिण मे राजकीय धर्म बनाया था। जिस प्रकार गुप्तों ने उत्तरी भारत मे वैष्णव धर्म को ऐसा स्थायी रूप दिया था कि वह आज तक प्रचलित है, उसी प्रकार पल्लवो ने दक्षिणी भारत मे शैव धर्म की ऐसी जबरदस्त छाप बैठाई थी कि वह धर्म आज तक वहाँ प्रचलित है। जिस प्रकार वाकाटकों और गुप्तों ने समस्त उत्तरी भारत को मिलाकर एक किया था, उसी प्रकार पल्लवों ने दक्षिणी भारत मे वह एकता स्थापित की थी जो विजय नगर के अतिम दिनों तक ज्यों की त्यो बनी रही थी। जिस प्रकार वाकाटको और गुप्तो ने उत्तर भारत को तक्षण-कला और स्थापत्य से अलंकृत किया था, उसी प्रकार पल्लवो ने दक्षिणी भारत को तक्षण और स्थापत्य से सुशोभित

भारतीय इतिहास मे पल्लवों का स्थान

किया था। उनकी वह प्रणाली वास्तव मे समस्त भारतवर्ष अर्थात् समस्त भारत और द्वीपस्थ भारत के लिये सार्वदेशिक, सामाजिक प्रणाली बन गई थी। जो एकता स्थापित करने मे अशोक को भी विफल मनोरथ होना पड़ा था, वह एकता वाकाटको और पल्लवो के समय मे भारत मे पूर्ण रूप से स्थापित हो गई थी। और सभ्यता की वही एकता बराबर आज तक चली आ रही है। जो कांची चोलो की पुरानी राजधानी थी और जो उस समय पवित्र आर्यभूमि के बाहर मानी जाती थी, उसे इन पल्लवो ने दूसरी काशी बना डाला था और उनके शासन में रहकर दक्षिणी भारत भी हिंदुओ का उतना ही पवित्र देश बन गया था, जितना पवित्र उत्तरी भारत था। जो भारतवर्ष खारवेल के समय मे कदाचित् उत्तरी भारत तक ही परिमित था[1], उसकी अब एक ऐसी नई व्याख्या बन गई थी जिसके अनुसार कन्याकुमारी तक का सारा देश उसके अंतर्गत आ जाता था। पहले आर्यावर्त्त और दक्षिणापथ दोनो एक दूसरे से बिलकुल अलग माने जाते थे, पर अब उनका एक ही संयुक्त नाम भारतवर्ष हो गया था[2]। और विष्णुपुराण मे हिंदू इतिहास लेखक ने इस आशय का एक राष्ट्रीय गीत बनाकर सम्मिलित कर दिया था—

"भारतवर्ष मे जन्म लेनेवालो को देवता भी बधाई देते और उनसे ईर्ष्या करते है। स्वर्ग मे देवता लोग भी यह गाते है कि

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड २०, पृ० ६२, पंक्ति १०।

२. विष्णुपुराण, खंड २, अ० ३, श्लोक १—२२।

भारतवर्ष में जन्म लेनेवाले पुरुष धन्य हैं। और हम लोग भी उसी देश में जन्म लें[1]।"

अब लोगों का वह पुराना आर्योंवाला दृष्टिकोण नहीं रह गया था और उसके स्थान पर उनका दृष्टिकोण "भारतीय" हो गया था और लोग "भारती संततिः" पद का प्रयोग करने लगे थे, जिसके अंतर्गत इस देश में जन्म लेनेवाले सभी लोग आ जाते थे, फिर चाहे वे आर्य हों और चाहे अनार्य[2]।

पल्लवों का उदय नागों के सामंतों के रूप में हुआ था।

§ १७४. जिन पल्लवों ने दक्षिण को पवित्र हिंदू देश बनाया था, वे ब्राह्मण थे; और जैसा कि उन्होंने गर्वपूर्वक अपने शिलालेखों में कहा है, उन लोगों ने विकट तथा उग्र राजनीतिक कार्य करके अपनी मर्यादा बढ़ाई थी और वे क्षत्रिय बन गए थे। उनका यह कथन बिलकुल ठीक है। पल्लव राजवंश के संस्थापक का नाम वीरकूर्च था और उसका विवाह नाग सम्राट् की कन्या और नाग राजकुमारी के साथ हुआ था और इसीलिये वह पूर्ण राजचिन्हों से अलंकृत हुआ था[3]। उन दिनों अर्थात् तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जो नाग सम्राट् था, वह भार-शिव नाग था जिसका राज्य नागपुर और बस्तर से होता हुआ ठेठ आंध्र देश तक जा पहुँचा था। वीरकूर्च (अथवा वीरकोर्च) के पौत्र का एक शिलालेख

---

१ उक्त, २४-२६।

२. उक्त, श्लोक १७।

३ यः फणीन्द्रसुतया महाग्रहीद्राजचिन्ह मखिल यशोधनः। South Indian Inscriptions, २, ५०८।

आंध्र देश में मिला है जिसमे वह पल्लव राजवंश का मूल पुरुष कहा गया है, और उसके नाम के साथ सामंतो वाली "महाराज" की उपाधि दी गई है; और उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि यद्यपि वह ब्राह्मणो के सर्वोच्च लक्षणो से युक्त (परम ब्रह्मराय) था, तथापि उसने क्षत्रिय का पद प्राप्त किया था[1]। और इस प्रकार वह भार-शिव साम्राज्य का एक सदस्य और अंग था और उसे उप-राज का पद प्राप्त था। स्वयं आंध्र देश मे इससे पहले और कोई नाग वंश नहीं था। वहाँ तो इक्ष्वाकु[2] लोग थे और उनसे भी पहले सातवाहन थे।

---

१. परमब्रह्मरायस्य स्वबाहुबलार्ज्जितक्षात्रतपोनिधेर्विधिविहितसर्व्व-मर्यादस्य। एपिग्राफिया इंडिका १, ३९८ (दर्शी-वाले ताम्रलेख)। यहाँ महाराज को वीरकोर्च वर्म्मन कहा गया है। यही वह सबसे पुराना अभिलेख है जिसमे उसका नाम आया है।

२. कृष्णा जिले मे वृहत् पलायनो का एक वंश था (एपि० इं० ६, ३१५) और इस वशवाले कदाचित् इक्ष्वाकुओ के अथवा आरभिक पल्लवो के सामंत थे। जयवर्म्मन् वृहत् पलायन के पहले या वाद मे उसके वंश का और कोई पता नहीं मिलता। इसके ताम्रलेखो के अक्षर पल्लव युवराज शिवस्कंद वर्म्मन् के ताम्रलेख के अक्षरों से मिलते हैं (एपि० इं०, ६, ८४)। यहाँ यह एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वृहत् फल से प्रसिद्ध दक्षिणी वंश वृहत्-बाण का ही अभिप्राय तो नहीं है, क्योकि बाण के अग्र भाग को भी फल ही कहते हैं? मयूर शर्म्मन् के समय में वृहत् बाण लोग पल्लवो के सामंत थे (एपि० इं०, ८, ३२)। जान पड़ता है कि कदाचित् "बाण" और "फल" दोनो ही शब्द किसी तामिल शब्द के अनुवाद हैं।

जिन नागो ने वीरकूर्च पल्लव को युवराज के पद पर प्रतिष्ठित किया था, वे अवश्य ही साम्राज्य के अधिकारी रहे होंगे और अवश्य ही आंध्र राज्यों की सीमा पर के होंगे और ये सब बाते केवल साम्राज्यभोगी भार-शिव नागो मे ही दिखाई देती है।

§ १७५. यहाँ हमे बौद्ध इतिहास से सहायता मिलती है और उससे कई बातों का समर्थन होता है। श्याम देश के बौद्ध इतिहास के अनुसार सन् ३१० ई० में आंध्र देश नाग राजाओं के अधिकार में था और उन्हीं मे महात्मा बुद्ध के उस दाँत का कुछ अंश सिंहल ले जाने की आज्ञा प्राप्त की गई थी जो आंध्र देश के दंतपुर नामक स्थान मे था[१]। आंध्र देश मे इस स्थान को मजेरिक कहते है जो मेरी समझ मे गोदावरी की उस शाखा का नाम है जिसे आजकल मंझिर कहते हैं[२]। बौद्धों ने जिस "नाग" राजा का वर्णन किया है, वह पल्लव राजा होना चाहिए जो नाग साम्राज्य के अधीन था, और उस समय (अर्थात् सन् ३०० ई० के लगभग) नाग सम्राट् था और उस नाग राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था जिसके साथ वीरकूर्च ने विवाह किया था (देखो § १८२ और उसके आगे)।

सन् ३१० ई० के लगभग नाग साम्राज्य मे आंध्र

---

१. कनिंघम कृत Ancient Geography of India (१९२४ वाला संस्करण) पृ० ६१२।

२. उक्त ग्रंथ, पृ० ६०५. कनिंघम का विचार है कि जिस स्तूप से महात्मा बुद्ध का दाँत निकालकर स्थानांतरित किया गया था, वह अमरावती वाला स्तूप ही है।

§ १७६. आखिर ये पल्लव कौन थे ? जब से पल्लवों के ताम्र-लेखों से पल्लव राजवंश का पता चला है, तभी से अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न की मीमांसा करने का प्रयत्न किया है। लेकिन फिर भी पल्लव संबंधी रहस्य का अभी तक कुछ भी पता नहीं चला है। कुछ दिनों यह प्रथा सी चल गई थी कि जिस राजवंश के संबंध में कुछ पता नहीं चलता था, उसके संबंध में यही समझ लिया जाता था कि उस राजवंश के लोग मूलतः विदेश से आए हुए थे, और इसी फेर मे पड़कर लोगों ने पल्लवों को पार्थियन मान लिया था। परंतु इतिहासज्ञों को इससे संतोष नहीं होता था और बहुत कुछ अपने अंतःकरण की प्रेरणा से ही वे लोग इस परिणाम पर पहुँचे थे कि पल्लव लोग इसी देश के निवासी थे। परंतु वे लोग या तो उन्हे द्रविड़ समझते थे और या यह समझते थे कि लंका या सिहल के द्रविड़ों के साथ उनका संबंध था। ये सभी सिद्धांत स्थित करने मे उन लिखित प्रमाणों और सामग्री की उपेक्षा की गई थी जो किसी प्रकार के वाद-विवाद के लिये कोई स्थान ही बाकी नहीं छोड़ती। इतिहासज्ञों के द्वारा जिस प्रकार की दुर्दशा शुंगों की हुई थी, उसी प्रकार की दुर्दशा पल्लवों को भी उनके हाथों भोगनी पड़ी वस्तुतः पल्लव लोग बहुत अच्छे और कुलीन ब्राह्मण थे; परंतु वे अपनी इस वास्तविक और सच्ची मर्यादा से वंचित कर दिए गए थे। सब लोगों ने कह दिया था कि शुंग भी विदेशी ही थे। पर अंत में मैंने यह सिद्ध कर दिखलाया था कि शुंग लोग वैदिक ब्राह्मण थे और उन्होंने एक ब्राह्मण साम्राज्य की स्थापना की थी; और यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसे अब सभी जगह के लोगों ने बिलकुल ठीक मान लिया है। उनके मूल की कुंजी इस देश के

पल्लव कौन थे

सनातनी साहित्य मे मिली थी। पल्लवों की जाति और मूल आदि निर्णय करने के लिये भी हमे उसी प्रणाली का प्रयोग करना चाहिए। पल्लवों के रहस्य का उद्घाटन करनेवाली कुंजी पुराणों के विंध्यक इतिहास में बद है। वह कुंजी इस प्रकार है—साम्राज्य-भोगी विंध्यकों अर्थात् साम्राज्य-भोगी वाकाटकों की एक शाखा के लोग उस आंध्र के राजा हो गए थे जो मेकला के वाकाटक प्रांत के साथ संबद्ध हो गया था। मैंने यह निश्चय किया है कि यह मेकला वही सप्त कोशला वाला प्रांत था जो उस मैकल पर्वत-माला के नीचे था जो आज-कल हमारे नक्शों मे दिखलाई जाती है, अर्थात् जहाँ आज-कल रायपुर का अँगरेजी जिला और बस्तर की रियासत है। वाकाटक साम्राज्य के संस्थापक विंध्यशक्ति के समय से लेकर समुद्रगुप्त की विजय के समय तक आंध्र देश के इन वाकाटक अधीनस्थ राजाओं की सात पीढ़ियों ने राज्य किया था। इस प्रकार यहाँ हमे एक ऐसा सूत्र मिल जाता है जिससे हम यह पता लगा सकते हैं कि ये पल्लव कौन थे। दूसरा सूत्र वाकाटकों की जाति और गोत्र है। वाकाटकों के शिलालेखों से हमे यह बात ज्ञात हो चुकी है कि वे लोग ब्राह्मण थे और भार-द्वाज गोत्र के थे। तीसरी बात यह है कि पल्लव लोग आर्यावर्त्त के थे और उनकी भाषा उत्तरी थी, द्रविड़ नहीं थी। चौथी बात विंध्यशक्ति का समय और वंश है। और पाँचवीं बात यह है कि जिस समय विंध्यशक्ति का उदय हुआ था, उस समय आर्यावर्त्त तथा मध्यप्रदेश पर नाग सम्राट् राज्य करते थे और विंध्यशक्ति उन्हीं के कारण और उन्हीं लोगों मे से अर्थात् किलकिला नागों में से निकलकर सबके सामने आया था, क्योंकि उसके संबंध मे कहा गया है कि 'ततः किलकिलेभ्यश्च विंध्यशक्तिर्भविष्यति'। विंध्यशक्ति के राजा और सम्राट् किलकिला नाग अर्थात् भार-

शिव नाग थे (देखो § ११ और उसके आगे)। अब हमें यह देखना चाहिए कि विध्यकों के आंध्र अधीनस्थ राजाओं मे पहचान के ये पाँचों लक्षण कहाँ मिलते है, और हम कह सकते है कि ये पाँचो लक्षण पल्लवों मे मिलते है। सन् २५० ई० के लगभग तक आंध्र देश मे पूर्वी समुद्र-तट पर अवश्य ही इक्ष्वाकु राजा राज्य करते थे और उन्ही के सम-कालीन चुटु सातवाहन थे जो पश्चिमी समुद्र-तट पर राज्य करते थे। विंध्यशक्ति का समय सन् २४८ (अथवा २४४) से २८८ ई० तक है। इस समय मे हम देखते है कि पल्लवों ने इक्ष्वाकुओं और चुटुओं को दबाकर उनके स्थान पर अधिकार कर लिया था। पल्लवों ने जो दान किए थे और जो अभिलेख आदि सन् ३०० ई० के लगभग अथवा उससे कुछ पहले[1] ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराए थे, उनमे वे अपने आपको भारद्वाज कहते हैं; और इस वंश के आगे के जो अभिलेख आदि मिलते है, उनसे यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि पल्लव लोग भारद्वाज गोत्र के थे। वे लोग द्रोणाचार्य और अश्व-त्थामा के वंश के भारद्वाज थे; और इसलिये वे लोग भी उसी ब्राह्मण गोत्र के थे जिसका विंध्यशक्ति था। उनके ताम्रलेखों मे

---

१. मिलाओ कृष्णशास्त्री का यह मत—'शिवस्कंद वर्म्मन् और विजयस्कंद वर्म्मन् के प्राकृत भाषा के राजकीय घोषणापत्र यदि और पहले के नहीं हैं, तो कम से कम ईसवी चौथी शताब्दी के आरंभ के तो अवश्य ही हैं"। (एपिग्राफिया इंडिका, खंड १५, पृ० २४८) और उनके इस कथन से मै पूर्ण रूप से सहमत हूँ। वह लिखावट नाग शैली की है जिनका दक्षिण भारत मे पल्लवों ने पहले-पहल प्रचार किया था। अक्षरों के ऊपरी भाग यद्यपि सन्दूकनुमा या चौकोर नहीं हैं, परंतु फिर भी उन पर शीर्ष-रेखाएं अवश्य हैं।

उनकी भाषा प्राकृत या संस्कृत है, द्रविड़ नहीं है। अपने आरंभिक ताम्रलेखों में उन लोगों ने प्राकृत के जिस रूप का व्यवहार किया है, वह रूप उत्तरी भारत का है। थोड़े ही दिनों बाद अर्थात् तीसरी पीढ़ी में और नाग साम्राज्य का अंत होने के उपरांत तत्काल ही वे लोग संस्कृत का व्यवहार करने लगे थे, जिसकी शैली वाकाटकों की संस्कृत शैली ही है। साम्राज्य-भोगी वाकाटकों की भाँति वे लोग भी शैव थे। जैसा कि हम अभी ऊपर बतला चुके हैं, पल्लव-वंश के अभिलेखों में कहा गया है कि जब पल्लव वंश के मूल पुरुष का एक नाग राजकुमारी के साथ विवाह हुआ था, तब नाग सम्राट् ने इस वंश के मूल पुरुष को राजा बना दिया था। विंध्यशक्ति के इन वंशजों के संबंध में, जो समुद्रगुप्त के समय तक आंध्र देश में राज्य करते थे, पुराणों में कहा गया है कि इनकी सात पीढ़ियों ने राज्य किया था, और समुद्रगुप्त के समय तक के आरंभिक पल्लवों की सात पीढ़ियाँ हुई थीं (देखो § १८३)। इस प्रकार पहचान के सभी लक्षण वाकाटकों की बातों से मिलते हैं। उन दोनों का गोत्र एक ही है और उनकी भाषा, धर्म, समय और संवत् और उनका नागों के अधीन होना आदि सभी बातें पूरी तरह से मिलती हैं। और पुराणों ने विंध्यक वंश की आंध्र-वाली शाखा के संबंध में जितनी पीढ़ियाँ बतलाई हैं, समुद्रगुप्त के समय तक पल्लवों की उतनी ही पीढ़ियाँ भी होती हैं। इस प्रकार इनकी पहचान के संबंध में संदेह होने का कुछ भी स्थान बाकी नहीं रह जाता। पल्लव लोग वाकाटकों की ही एक शाखा के थे। और जब वे लोग अपने अभिलेखों आदि में यह कहते हैं कि हम लोग द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा के वंशज हैं, तब वे मानो एक सत्य अनुश्रुति का ही उल्लेख करते हैं। वाकाटक लोग भारद्वाज थे और इसलिये वे द्रोणाचार्य और

अश्वत्थामा के वंश के थे। और मैंने स्वयं बुंदेलखंड मे वाकाटको के मूल निवास-स्थान वागाट नामक कस्बे मे जाकर यह देखा है कि वह स्थान अब तक द्रोणाचार्य का गॉव कहलाता है, और ये वही द्रोणाचार्य थे जो कौरवों और पांडवों को अस्त्र-विद्या की शिक्षा देते थे (§ ५६–५७)। कला और धर्म के क्षेत्र मे पल्लवों की जो उत्तर भारतीय संस्कृति देखने मे आती है, और जिसके कारण उनका वंश दक्षिणी भारत का सबसे बड़ा राजवंश समझा जाता है, उस संस्कृति का रहस्य इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है। पल्लव लोग न तो विदेशी ही थे और न द्रविड़ ही थे, बल्कि वे उत्तर की ओर से गए हुए उत्तम और कुलीन ब्राह्मण थे और उनका पेशा सिपहगरी का था।

पल्लव

§ १७७. गंग-वंश इस बात का उदाहरण है कि वंशों का कुछ ऐसा नाम रख लिया जाता था, जिसका न तो गोत्र के साथ कोई संबंध होता था और न वंश के संस्थापक के नाम के साथ। संभवतः इसी प्रकार वंश का यह "पल्लव" नाम भी रख लिया गया था। 'पल्लव" शब्द का अर्थ होता है—शाखा; और जान पड़ता है कि इस वंश का यह नाम इसलिये रख लिया गया था कि यह भी साम्राज्य भोगी सातवाहनों की एक छोटी शाखा, चुटुओं की तरह थी, और इस वंशवालों ने सातवाहनों को दबाकर उनके स्थान पर अधिकार कर लिया था। साम्राज्य भोगी सातवाहनों के वंश के साथ चुटुओं का जो संबंध था, वही संबंध पल्लवों का साम्राज्य-भोगी भारद्वाज वाकाटकों के साथ था, अर्थात् यह भी वाकाटकों के वंश की एक शाखा ही थी। पहले पल्लव राजा का नाम वीरकूर्च था। कूर्च शब्द का अर्थ होता है—टहनियों का

गुच्छा या मुट्ठा; और इसका भी आशय वहुत से अंशों मे जो "पल्लव" शब्द का होता है। असल नाम "वीर" जान पडता है जो आगे चलकर उसके पोते वीरवर्म्मन् के नाम में दोहराया गया है (देखो § १८१ और उसके आगे)। विन्ध्यशक्ति के दूसरे लड़के का नाम प्रवीर था जो कदाचित् छोटा था, क्योंकि उसने वहुत दिनो तक शासन किया था। जिस प्रकार प्रवीर ने अपने पुत्र का विवाह नाग सम्राट् की कन्या के साथ किया था और इस प्रकार नाग साम्राज्य पर अधिकार प्राप्त किया था, उसी प्रकार वीर ने भी एक नाग राजकुमारी के साथ विवाह किया था और इस प्रकार वह आंध्र देश का राजा बनाया गया था। संभवतः उसका पिता नागों का सेनापति रहा होगा और उसी ने आंध्र देश पर विजय प्राप्त की होगी। पल्लव शिलालेख मे यह बात बहुत ठीक कही गई है कि वीरकूर्च के पूर्वज नाग सम्राटों को उनके शासन कार्यों मे सहायता दिया करते थे; और इसका मतलब यह होता है कि वे लोग नाग साम्राज्य के अफसर या प्रधान कर्मचारी थे। हम यह बात पहले ही जान चुके है कि विंध्यशक्ति भी पहले केवल एक अफसर या प्रधान कर्मचारी था और कदाचित् नाग सम्राटों का प्रधान सेनापति था (§ ५६)। नाग राजा के शासन-कार्य के भार के संबंध में शिलालेख मे "भार" शब्द आया है[1] और भार-शिव नाग में जो "भार" शब्द है, वह उक्त "भार" शब्द की प्रतिध्वनि भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता।

---

१. भू-भार-खेदालस-पन्नगेन्द्र-साहाय्य-निष्णात-भुजार्गलानाम्। वेलुरपलैयम् वाले प्लेट, श्लोक ४, S. I. I. २. ५०७-५०८। [स्थान नाम भू भारा के संबंध मे देखो आगे परिशिष्ट क।]

§ १७८. पल्लवों ने स्वभावतः साम्राज्यभोगी वाकाटकों के राज-चिह्न धारण किए थे और यह बात उनकी मोहर (S. I. I. २. ५२१) से भी और दक्षिण भारत के साम्राज्य-चिह्नों के परवर्त्ती इतिहास से भी सिद्ध होती है (§ ६१ और पाद-टिप्पणियाँ तथा § ८६)। पल्लवों की मोहर पर भी गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित हैं और इन मूर्तियों के संबंध में हम जानते हैं कि ये वाकाटकों के राज-चिह्न हैं। मकर तोरण भी कदाचित् दोनों में समान रूप से प्रचलित था[1]। शिव का नंदी या बैल भी दोनों में समान रूप से रहता था, जिसका मुँह बाईं ओर होता था और जो स्वयं दाहिनी ओर होता था[2]।

पल्लव राज चिह्न

§ १७९. पल्लवों और वाकाटकों में कभी कोई संघर्ष नहीं हुआ था। आरंभिक पल्लवों ने कभी अपने सिक्के नहीं चलाए थे। दूसरे राजा शिवस्कंदवर्म्मन् ने एक नई राजकीय उपाधि का प्रचार किया था। वह अपने आपको धर्म-महाराजाधिराज कहने लगा था, जिसका अर्थ होता है—धर्म के अनुसार महा-

धर्म-महाराजाधिराज

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ७, पृ० १४४ में और रुद्रसेन के सिक्के (§ ६१ और ८६) में पल्लव, मोहर पर देखो—मकर का खुला हुआ मुँह।

२. देखो एपिग्राफिया इंडिका, खंड ८, पृ० १४४ में यह मोहर और इस ग्रंथ के दूसरे भाग में दिए हुए वाकाटक सिक्कों के चित्रों में बना हुआ नंदी। परवर्त्ती पल्लव अभिलेखों में यह नंदी बैठा या लेटा हुआ दिखलाया गया है।

राजाओं का भी अधिराज। इससे पहले सातवाहनों ने कभी इस उपाधि का प्रयोग नहीं किया था। यह उपाधि उत्तर की ओर से लाई हुई थी अथवा कुशन लोग जो अपने आपको "दैवपुत्र शाहानुशाही" कहते थे, उसी का यह हिंदू संस्करण था अथवा उसी के जोड की यह हिंदू उपाधि थी। पल्लव राजा अपने आपको देवपुत्र नहीं कहता था, बल्कि उसका दावा यह था कि मैं सनातनी धर्म अथवा सनातनी सभ्यता का पक्का अनुयायी हूँ; और यह बात हिंदू राष्ट्रीय संघटन के नियम के बिलकुल अनुरूप थी। देवपुत्र के स्थान पर उसने "धर्म" रखा था। यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि इक्ष्वाकुओं ने कभी इस उपाधि का प्रयोग नहीं किया था, बल्कि वे लोग पुरानी हिंदू शैली के अनुसार अपने पुराने स्वामी सातवाहनों की तरह अपने आपको केवल "राजन्" ही कहते थे[1]। इस प्रकार हम देखते है कि पल्लवों ने आरंभ से ही उत्तर भारत की साम्राज्य-वाली भावना के अनुसार ही सब कार्य किए थे। शिवस्कंद वर्म्मन प्रथम के जीवन काल में अथवा उसकी मृत्यु के उपरांत तुरत ही जब विंध्यशक्ति की आर्यावर्त्तवाली शाखा ने साम्राज्य पद प्राप्त किया था, तब भी यही धर्म के अनुसार सर्व-प्रधान शासक होने का विचार और भी अधिक विस्तृत रूप मे देखने मे आता है। समस्त भारत के सम्राट्

---

१. एक इक्ष्वाकु अभिलेख (एपि० इं०, खंड २०. पृ० २३) मे तीनो राजाओं को "महाराज" कहा गया है। यह अंतिम उल्लेखो में से एक है। कदाचित् उस समय उनकी स्वतंत्रता नष्ट हो गई थी। पहले ये लोग "महाराज" ही थे। इक्ष्वाकुओ मे सबसे पहले वीरपुरुषदत्त ने ही "राजन्" की उपाधि धारण की थी। उसका पुत्र केवल "महाराज" था।

का वही धर्म था जिसका महाभारत मे पूर्ण रूप से विधान किया गया है।

जब मुख्य वाकाटक शाखा ने सम्राट् की उपाधि धारण की, तब पल्लव-वंश ने स्वभावतः "महाराजाधिराज" की पदवी का प्रयोग करना छोड़ दिया। हम लोगो के समय मे दक्षिण भारत में साम्राज्य की शैली ग्रहण करनेवाला शिवस्कंद वर्म्मन् पहला और अंतिम व्यक्ति था[१]। यह बात स्वयं समुद्रगुप्त के शिलालेख से ही प्रकट होती है कि उससे पहले जो शिवस्कंद वर्म्मन् का अंत हो चुका था, क्योंकि उसने अपने शिलालेख मे विष्णुगोप को कांची का शासक लिखा है। इस प्रकार शिवस्कंद वर्म्मन् का समय आवश्यक रूप से सम्राट् प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल मे पड़ता है। प्रवरसेन प्रथम के समय से ही पल्लव राजा लोग धर्म महाराज कहलाते चले आते थे और पहले गंग राजा को, जो प्रवरसेन के समय में गद्दी पर बैठाया गया था, धर्म-अधिराज की उपाधि का प्रयोग करने की अनुमति दी गई थी (§ १६०)। धर्म-महाराज की उपाधि केवल दक्षिणी भारत मे पल्लव और कदंब राजा ही धारण करते थे और वहीं से यह उपाधि सन् ४०० ई० से पहले चंपा (कंबोडिया) गई थी[२]।

---

१. देखो कीलहार्न की Southern List. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ८, पृ० १०५।

२. हम देखते हैं कि चंपा (कंबोडिया) मे राजा भद्रवर्म्मन् यह उपाधि धारण करता था। देखो आर० सी० मजुमदार कृत Champa (चंपा), तीसरा खंड, पृ० ३।

§ १८०. शिवस्कद वर्म्मन् जिस समय युवराज था, उस समय उसने कदाचित् उप-शासक की हैसियत से (युव-महाराज भारद्वायसगोत्तो पल्लवानाम् शिवस्कद्-वम्मो—एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ८६) अपने निवास-स्थान काचीपुर से एक भूमि-दान के सबंध मे एक राजाज्ञा प्रचलित की थी। जो भूमि दान की गई थी, वह आंध्र पथ मे थी और वह आज्ञा उसके पिता के शासन-काल के दसवे वर्ष मे धान्यकटक नामक स्थान के अधिकारी के नाम प्रचलित की गई थी। दान संबंधी उस राजाज्ञा से सूचित होता है कि दूसरी पीढ़ी मे पल्लवो का राज्य दूसरे तामिल राज्यो को दबा लेने के कारण इतना अधिक बढ़ गया था कि वह शिवस्कंद वर्म्मन् की उच्च अभिलाषा के अनुरूप हो गया था। धर्ममहाराजाधिराज शिवस्कंद वर्म्मन् ने अपने पिता[1] को "महाराज बप्प स्वामिन्" (सामी) लिखा है जिससे सूचित होता है कि उसका पिता अपने आरंभिक जीवन मे एक सामत मात्र था और अपने वश मे सबसे पहले शिवस्कद वर्म्मन् ने ही पूरी राजकीय उपाधि धारण की थी। उसके पिता ने दस वर्ष या इससे कुछ अधिक समय तक शासन किया था; क्योंकि युव-महाराज शिवस्कंद वर्म्मन् ने जो दान किया था, वह अपने पिता के शासन-काल के दसवे वर्ष मे किया था।

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १, पृ० ६ मे कहा गया है कि बप्पा ने सोने की करोड़ो मोहरें लोगों को बाँटी थीं, और यह उल्लेख वास्तव में उसके अश्वमेध यज्ञ के संबंध मे होना चाहिए। मिलाओ चाटमूल प्रथम का वर्णन, एपिग्राफिया इंडिका, खंड २०, पृ० १६। एरि० इं० १. ८ से पता चलता है कि उसका पुत्र अपने आपको "पल्लवों के वश का" कहता था। एपिग्राफिया इंडिका ६, ८२।

जान पड़ता है कि उसका पिता नागों का सामंत था और उसने इक्ष्वाकुओं की सु-संघटित और व्यवस्थित सरकार या राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त किया था, क्योंकि इन दोनों प्राकृत ताम्रलेखों और उसके पुत्र के तथा इक्ष्वाकुओं के दूसरे लिखित प्रमाणों से यही बात सिद्ध होती है।

§ १८१. वीरवर्म्मन् और उसका पुत्र स्कंदवर्म्मन् द्वितीय भी प्रवरसेन प्रथम के सम-कालीन ही थे। स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के समय में पल्लव दरबार की भाषा प्राकृत से बदलकर संस्कृत हो गई थी। उसकी पुत्र-वधू ने जो दान किया था, वह उसके शासन-काल में ही किया था (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ७, पृ० १४३) और उसका उल्लेख उसने प्राकृत भाषा में किया है; परंतु स्वयं स्कंदवर्म्मन ने (एपि० इं०, १५) और उसके पुत्र विष्णुगोप ने संस्कृत का व्यवहार किया है। और संस्कृत का यह प्रयोग उसके बाद की पीढ़ियों में बराबर होता रहा था। यदि कांची का युव-महाराज विष्णुगोप (इंडियन एंटिक्वेरी, खंड ५, पृ० ५०-१५४) वही समुद्रगुप्तवाला विष्णुगोप हो—और ऐसा होना निश्चित जान पड़ता है—तो हमें इस बात का एक और प्रमाण मिल जाता है कि राजाज्ञाओं की सरकारी भाषा के इस परिवर्त्तन के साथ वाकाटकों का विशेष संबंध था और वाकाटक लोग इस भाषा-परिवर्त्तन के पूरे पक्षपाती थे। वाकाटक अभिलेखों के भार-शिव वर्णन की ही विष्णुगोप ने भी नकल की है। यथा—

यथावदाहृत अनेक-
अश्वमेधानाम पल्लवानाम्[1]।

---

१. पृथिवीषेण और उसके उत्तराधिकारियों के शिलालेखों में जो वाकाटक इतिहास-लेखनवाली शैली पाई जाती है, वह बिलकुल नाने

अर्थात्—पल्लव लोग जिन्होंने पूर्ण विधानों से युक्त अनेक अश्वमेध यज्ञ किए थे।

इस प्रकार संस्कृत का व्यवहार समुद्रगुप्त की विजय से पहले से ही होने लग गया था।

§ १८८. आरंभिक पल्लवों का वंश-वृक्ष स्वयं उन्हीं के उन ताम्रपत्रों से प्रस्तुत किया जा सकता है जिनकी संख्या बहुत अधिक है[१]। करीब करीब हर दूसरी पीढ़ी का हमें एक ताम्र-लेख मिलता है। उन लोगों में यह प्रथा सी थी कि सभी लोग अपने ऊपर की चार पीढ़ियों तक का वर्णन कर जाते थे। इस नियम का एकमात्र अपवाद शिव-स्कंद वर्म्मन् की राजाज्ञाएँ है, और इसका कारण यही है कि उसके समय तक राजाओं की चार पीढ़ियाँ ही बनी हुई थीं। यहाँ काल क्रम से उनके दानों की सूची दे दी जाती है और साथ ही यह भी बतला दिया जाता है कि उन दोनों के संबंध की आज्ञाएँ किन लोगों ने प्रचलित की थीं।

आरम्भिक पल्लवों की वंशावली

मयिदवोलु, जिसके संबंध की राजाज्ञा कांचीपुर से युवमहाराज (शिव) स्कंदवर्म्मन् (प्रथम) ने (अपने पिता के शासन के १० वें वर्ष में) प्रचलित की थी।

एपि० इं० ६. ८४. प्राकृत में।

में ढली हुई शैली है और इससे सिद्ध होता है कि वह शैली साम्राज्य-भोगी वाकाटकों के समय से चली आ रही थी।

१. यह एक अद्भुत बात है कि आरंभिक पल्लवों का एक भी अभिलेख या पत्थर नहीं पाया गया है।

हीरेहडगल्ली, जिसके संबंध की आज्ञा कांचीपुर से धर्ममहा	
एपि० इं० १.	राजाधिराज (शिव) स्कंदवर्म्मन्
२. प्राकृत मे	(प्रथम) ने अपने शासन-काल के ८ वे वर्प मे प्रचलित की थी।
दर्शी	जिसके संबंध की आज्ञा 'दशनपुर
एपि० इं० १. ३०७,	राजधानी (अधिष्ठान) से महाराज
संस्कृत मे	वीरकोर्चवर्म्मन् के प्रपौत्र ने प्रचलित की थी।
ओमगोड़ ...	जिसके संबंध की आज्ञा तांत्राप से
एपि० इं० १५. २५१,	महाराज (विजय) स्कंदवर्म्मन्
संस्कृत मे	(द्वितीय) ने अपने शासन-काल के ३३ वे वर्प मे प्रचलित की थी।

इन राजाओ के उक्त दानपत्रो मे दी हुई वंशावली से इस बात का बहुत सहज मे पता चल जाता है कि आरंभिक पल्लवो मे कौन-कौन से राजा और किस क्रम से हुए थे। हमे इस बात का पूर्ण निश्चय है कि स्कंदवर्म्मन् प्रथम का पिता अथवा शिवस्कंदवर्म्मन् का पिता वही कुमार विष्णु था जिसने अश्वमेध यज्ञ किया था और स्कंदवर्म्मन् प्रथम का पुत्र और उत्तराधिकारी वीरवर्म्मन् था जिसका लड़का और उत्तराधिकारी स्कंदवर्म्मन् द्वितीय था। कल्पना और अनुमान के लिये यदि कोई प्रश्न रह जाता है तो वह केवल वीरकोर्च की स्थिति के संबंध का ही है, जो अवश्य ही स्कंदवर्म्मन् प्रथम से पहले हुआ होगा, क्योंकि वही पल्लव-वंश का संस्थापक था। यहाँ रायकोटा (एपि० इं०, ५, ४६) और वेलुर-पलैयम (S. I. I. २, ५०७) वाले ताम्रलेखों से हमें सहायता मिलती है। यह बात तो सभी प्रमाणो से सिद्ध है कि पल्लव-वंश

का पहला राजा वीरकोर्च या वीरकूर्च था, और शिलालेखों मे पता चलता है कि उसने एक नाग-राजकुमारी के साथ विवाह किया था, और रायकोटवाले ताम्रपत्रों से पता चलता है कि स्कंदशिष्य अथवा स्कंदवर्म्मन् उसका पुत्र था जो उसी नाग महिला के गर्भ से उत्पन्न हुआ था[1]। अब हमे

---

१. कुछ पाठ्य पुस्तकों में भूल से यह मान लिया गया है कि रायकोटवाले ताम्रपत्रों से पता चलता है कि स्कदशिष्य अश्वत्थामन् का पुत्र था और एक नाग महिला के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। परतु ताम्रलेखो में यह बात कहीं नहीं है। उनमें केवल यही कहा गया है कि स्कद-शिष्य एक अधिराज था और एक नाग महिला का पुत्र था। उनमे अश्वत्थामान् का उल्लेख केवल एक पूर्वज के रूप में हुआ है।

वेळुरपलेयम-वाले ताम्रलेखों मे जिस स्कंदशिष्य का उल्लेख है, वह कुमारविष्णु का पिता और बुद्धवर्म्मन् का प्रपिता था; और वह स्पष्ट रूप से स्कदवर्म्मन् द्वितीय था, जिसका लड़का, जैसा कि हमें कुमार-विष्णु तृतीय के शिलालेख (एपि० इ०, ८, २३३) से ज्ञात होता है, कुमारविष्णु द्वितीय था। वेळुरपलैयमवाले ताम्रपत्रो के संपादक और कुछ पाठ्य पुस्तकों के लेखकों ने भूल से यह बात मान ली है कि वह (स्कदशिष्य) वीरकोर्च का पुत्र था। परतु वास्तव में उन ताम्रलेखो में यह बात कहीं नहीं लिखी गई है। सातवें श्लोक में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वीरकोर्च के उपरात (ततः) और उसके वंश में स्कद-शिष्य हुआ था। इसका यह अभिप्राय है कि वीरकूर्च और स्कद-शिष्य के बीच मे शृंखला टूट गई थी (मिलाओ इंडियन एंटि-क्वेरी १६ ७४. १० में का ततः और उन पर कीलहार्न की सम्मति जो एपि० इ० ५ के परिशिष्ट स० १६५, पाद-टिप्पणी और एपि० इ०

यही सिद्ध करना बाकी रह गया है कि कुमारविष्णु वही था, जिसे दर्शीवाले ताम्रलेख मे वीरकोर्चवर्म्मन् कहा गया है, और तब यह सिद्ध हो जायगा कि वह स्कंदवर्म्मन् द्वितीय का वृद्ध-प्रपिता था। हम देखते हैं कि स्कंदवर्म्मन् द्वितीय ने ही सबसे पहले दानपत्रों में संस्कृत का प्रयोग करना आरंभ किया था। दर्शीवाला ताम्रपत्र, जो संस्कृत मे है, उसी का प्रचलित किया हुआ जान पड़ता है। प्रभावती गुप्ता और प्रवरसेन द्वितीय के ताम्रलेख, परवर्त्ती वाकाटक ताम्रलेखों और उससे भी पहले के अशोक के शिलालेखों से हम यह बात जानते है कि अभिलेखों आदि मे एक ही व्यक्ति के दो नामों अथवा दोनों मे से किसी एक नाम का प्रयोग हुआ करता था। स्कंदवर्म्मन् प्रथम के पुत्र का नाम जो "वीर" के रूप मे दोहराया गया है, उससे यह भी सिद्ध होता है कि वीरकूर्च ही कुमारविष्णु प्रथम था और वही स्कंदवर्म्मन् प्रथम का पिता था और दादा का नाम पोते के नाम मे दोहराया गया था। अतः आरंभिक वंशावली इस प्रकार होगी–

१. [वीरकोर्चवर्म्मन्] कुमार विष्णु (दस वर्ष या इससे अधिक काल तक शासन किया था)

|

२. स्कंदवर्म्मन् प्रथम जो "शिव" कहलाता था (आठ वर्ष

---

३. ४८. में प्रकाशित हुई है)। इन भूलों और विशेषतः इनमें से अंतिम भूल के कारण पल्लव राजाओं की पहचान और उनका इतिहास फिर से प्रस्तुत करने मे बहुत गड़बड़ी पैदा हो गई।

या इससे अधिक काल तक शासन किया था)

|

|

३. वीरवर्म्मन् (इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता)

|

|

४. स्कंदवर्म्मन् द्वितीय या विजय (तेतीस वर्ष या इससे अधिक काल तक शासन किया था)

स्कंदवर्म्मन् प्रथम ने अपने पिता का नाम नहीं दिया है, परंतु अपने पिता के नाम के स्थान पर उसने केवल "वप्प" शब्द दिया है, जिसका अर्थ है—पिता, क्योंकि बादवाले राजा भी अपने पिता के संबंध में इस "वप्प" शब्द का प्रयोग करते हुए पाए जाते हैं; यथा—वप्प भट्टारक पादभक्तः (एपिग्राफिया इंडिका, १५, २५४। इंडियन एंटिक्वेरी ५. ५१. १५५)। नाम का पता स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के दानपत्र से चलता है (एपि० इं०, १५, २५१)। इस वंश के बहुत से परवर्त्ती अभिलेखों में बराबर यही कहा गया है कि इस वंश का संस्थापक वीरकूर्च था (और उसका नाम अधिकांश स्थानों में दो और पूर्वजों कालभर्तृ और चूतपल्लव[1] के

---

१. क्या यह वही काल-भर्तृ तो नहीं है जिसके संबंध में पुराण में कहा गया है 'तेषूत्सन्नेषु कालेन" [अर्थात् जब काल द्वारा (मुरुंड आदि) परास्त हुए थे ?] यदि यही बात हो तो पुराणों के अनुसार विन्ध्यशक्ति का, जिसका उदय काल के उपरांत हुआ था, असल नाम चूत-पल्लव था, और ऐसी अवस्था में काल एक नाग सेनापति और विन्ध्यशक्ति का पूर्वज रहा होगा।

नामों के उपरांत मिलता है जिनका उल्लेख राजाओं के रूप में नहीं हुआ है) और जैसा कि अभी बतलाया जा चुका है, परवर्त्ती ताम्रलेखों में से एक में यह बात स्पष्ट रूप में कही गई है कि उसे इसलिये राजा का पद दिया गया था कि उसका विवाह नाग सम्राट् की एक राजकुमारी के साथ हुआ था। समस्त पल्लव ताम्रलेखों में वीरकूर्च का नाम केवल एक ही बार दोहराया गया है। जिस ताम्रलेख में वीरकोर्च का नाम आया है, उसकी लिपि और शैली बहुत पहले की है। स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के पौत्र के अभिलेख से हमें स्कंदवर्म्मन् प्रथम के पिता तक के सभी नाम मिल जाते हैं; और इसलिये यह बात स्पष्ट ही है, जैसा कि अभी विवेचन हो चुका है, कि वीरकोर्च का नाम सबसे पहले और ऊपर रखा जाना चाहिए। इस बात में कुछ भी संदेह नहीं हो सकता कि वीरकोर्च पहला राजा था। और उससे भी पहले के नामों के संबंध में जो अनुश्रुति मिलती है, उसकी अभी तक पुष्टि नहीं हो सकी है। हाँ, इस बात की अवश्य पुष्टि होती है कि वीरकोर्च के पूर्वज नाग सम्राटों के सेनापति थे। और यह बात बिलकुल ठीक है, क्योंकि उनका उदय नाग-काल में हुआ था। वे लोग किसी दक्षिणी राजा के अधीन नहीं थे और जिस आंध्र देश में उनका पहले-पहल अस्तित्व दिखाई देता है, उस आंध्र देश के आस-पास कहीं कोई दक्षिणी नाग राजा भी नहीं था। हाँ, नागों का साम्राज्य आंध्र देश के बिलकुल पड़ोस में, मध्यप्रदेश में अवश्य वर्तमान था।

§ १८४. स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के बाद की वंशावली की भी इसी प्रकार भली भाँति पुष्टि हो जाती है। विजयस्कंदवर्म्मन् द्वितीय के पुत्रों में एक विष्णुगोप भी था। उसका एक ताम्रलेख

मिलता है जो सिहवर्म्मन् प्रथम के शासन-काल का है। उदयेंदिरम् वाले ताम्रलेखो (एपि० इं०, ३, १४७) से यह वात भली भाँति सिद्ध की जा सकती थी कि सिंहवर्म्मन् प्रथम इस विष्णुगोप का बडा भाई था, परंतु अभाग्यवश मेरी सम्मति मे उदयेदिरम् वाले प्लेट स्पष्ट रूप से बिलकुल जाली है, क्योकि वे कई शताब्दी बाद की लिपि मे लिखे हुए है। परंतु फिर भी युवराज विष्णुगोप के अभिलेख से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सिह-वर्म्मन् इस विष्णुगोप का पुत्र नही था, बल्कि उसका बडा भाई था, और गंग ताम्रलेख (एपि० इं०, १४, ३३१) से भी यही सिद्ध होता है, जिसमे यह कहा गया है कि सिहवर्म्मन् प्रथम और उसके पुत्र स्कंदवर्म्मन् (तृतीय) ने क्रमशः लगातार दो गंग राजाओ को राजपद पर प्रतिष्ठित किया था (§ १६०)। इसके अतिरिक्त विष्णुगोप के पुत्र सिंहवर्म्मन् द्वितीय के भी दो दानपत्र मिलते है जिनमे वंशावली दी गई है (एपि० इं०, ८, १५६ और १५, २५४)। अब विष्णुगोप और उसके पुत्र के उल्लेखो तथा गंग ताम्रलेखो के अनुसार बाद की वंशावली इस प्रकार निश्चित होती है—

स्कंदवर्म्मन् द्वितीय
|
सिहवर्म्मन् प्रथम — विष्णुगोप (युवराज) जिसका दानपत्र इं० ए० ५, १५४ मे है

सिहवर्म्मन् प्रथम
|
स्कंदवर्म्मन् तृतीय

विष्णुगोप (युवराज) जिसका दानपत्र इं० ए० ५, १५४ मे है
|
सिंहवर्म्मन् द्वितीय (एपि० इं० १५, २५४ और ८, १५६)

विष्णुगोप ने स्कंदवर्म्मन् प्रथम तक की वंशावली दी है, जिसका उल्लेख यहाँ बिना "शिव" शब्द के हुआ है, और उसके पिता स्कंदवर्म्मन् द्वितीय ने भी स्कंदवर्म्मन् प्रथम का उल्लेख इसी प्रकार बिना "शिव" शब्द के ही किया है[1]। सिहवर्म्मन् द्वितीय ने वीरवर्म्मन् तक की वंशावली दी है, परंतु वीरवर्म्मन् का नाम इसके बाद और किसी वंशावली मे नहीं दोहराया गया है। ये दोनो शाखाएँ वास्तव मे एक मे ही मिली हुई थी और दोनो के ही राजा निरंतर एक के बाद एक करके शासन करते थे। विष्णुगोप का दानपत्र (इं० ए०, ५, १५४) उसके बड़े भाई के शासन-काल का है; और जब आगे चलकर उसके बड़े भाई के वंश में कोई नहीं रह गया, तब जान पड़ता है कि विष्णुगोप का लड़का राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था। परंतु अभी स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के वंशजो की एक और छोटी शाखा बची हुई थी। इस शाखा का पता दो ताम्रलेखो से लगता है (एपि० इं० ८, १४३ और एपि० इं० ८, २३३)। इनमे से पहला तो ब्रिटिश म्यूजियम वाला ताम्रलेख है जो युवमहाराज बुद्धवर्म्मन् की पत्नी चारुदेवी ने विजयस्कंदवर्म्मन्

---

१. जैसा कि हम चुटुओवाले प्रकरण (§ १६१) मे बतला चुके हैं, "शिव" केवल एक सम्मान-सूचक शब्द था जो नामो के आगे लगा दिया जाता था। इस वश के नामो के साथ जो "विष्णु" शब्द मिलता है, उसका संबंध कदाचित् विष्णुवृद्ध के नाम के साथ है, जो इनके आरंभिक पूर्वजो (भारद्वाजो) मे से एक था और जिसका वाकाटको ने विशेष रूप से वर्णन किया है। यदि यह बात न हो तो फिर इस बात का और कोई अर्थ ही नही निकलता कि नामो के साथ "विष्णु" शब्द क्यो लगा दिया जाता था, क्योकि यह बात परम निश्चित ही है कि इस वंशवाले शैव थे।

द्वितीय के शासन-काल मे प्रचलित किया था, और दूसरा बुद्ध-वर्म्मन् के पुत्र कुमार विष्णु (तृतीय) ने प्रचलित किया था और जिसके दादा का नाम कुमारविष्णु द्वितीय था और जिसका पर-दादा विजयस्कंदवर्म्मन् था। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस बुद्धवर्म्मन् को उसकी पत्नी ने स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के शासन-काल मे युव-महाराज कहा है, वह कुमारविष्णु द्वितीय का पुत्र था, और उसके संबंध मे साधारणतः जो यह माना जाता है कि वह स्कंदवर्म्मन् द्वितीय का पुत्र था, वह ठीक नहीं है। वह अपने दादा का युव-महाराज था और जान पड़ता है कि उसके पिता का देहांत उसके पहले ही हो चुका था। ब्रिटिश-म्यूजियम वाले ताम्रलेख से इस बात का पता नहीं चलता कि स्कंदवर्म्मन् (द्वितीय) के साथ उसका क्या संबंध था। हम यह जानते है कि युवराज का पद पोतों को उनके पिता के जीवन-काल मे भी दे दिया जाया करता था[१]। इस प्रकार उस समय के पल्लवों की जो पूरी वंशावली तैयार होती है, वह यहाँ दे दी जाती है (इनमे से जिन राजाओं ने शासन किया था, उन पर अंक लगा दिए गए है और अंक १ से ७ क तक उस समय की वंशावली पूरी हो जाती है, जिस समय का हम यहाँ वर्णन कर रहे हैं)।

१. कुमारविष्णु वीरकोर्चवर्म्मन् (एपि० इं० १५, २५१. एपि० इं० १, ३९७)

(अश्वमेधिन्) = नाग राजकुमारी (S. I. I. २,

---

१. देखो जायसवाल कृत Hindu Polity दूसरा भाग, पृ० १२५।

५०८, एपि० इं० ६, ८४) १० वर्ष या अधिक तक शासन किया

|

२. (शिव) स्कंदवर्म्मन् प्रथम (एपि० इं० ६, ८४, एपि० इं० १, २, इं० ए० ५, ५०) (अश्वमेधिन्) ८ वर्ष या इससे अधिक शासन किया

|

३. वीरवर्म्मन् (इं० ए० ५, ५०, १५४)

|

४. स्कंदवर्म्मन् द्वितीय (एपि० इं० १५, २२१, इं० ए० ५, ५०, १५४) तेतीस वर्ष या इससे अधिक शासन किया।

|

५. सिहवर्म्मन् प्रथम (इं० ए० ५, ५०) या अधिक तक शासन किया

७. विष्णुगोप प्रथम (इं० ए० ५, ५०, १५४) [राजकार्य देखता था, पर अभिषिक्त नहीं हुआ]

कुमारविष्णु द्वितीय एपि० इं० ८, २३३ ११ वर्ष

|

६. स्कंदवर्म्मन् तृतीय द्वितीय एपि० इं० १४, ३३१

७ (क) सिंहवर्म्मन् (एपि० इं०

१५, २५४, ८, १५६,
इं० ए० ५, १५४)
८ वर्ष या अधिक तक
शासन किया

८. (विजय) विष्णुगोप द्वितीय
M. E. R. १९१४, पृ० ८२][1]

९. बुद्धवर्म्मन्[2]
[एपि० इं० ८ ५०, १४३]

१. यह ताम्रलेख नरसराओपेटट-वाला ताम्रलेख कहलाता है। भारत सरकार के लिपिवेत्ता (Epigraphist) से पत्र-व्यवहार करके मैंने पता लगाया है कि यह वही ताम्रलेख है जिसे गट्टरवाला ताम्रलेख या चुरावाला ताम्रलेख कहते हैं। इस समय यह ताम्रलेख जिसके पास है, उसने इसकी प्रतिलिपि नहीं लेने दी। इस पर कोई तिथि नहीं दी है। यह दानपत्र विजय-पलोत्कट नामक स्थान से सिंह-वर्म्मन् के पुत्र महाराज विष्णुगोप वर्म्मन् के पौत्र और कदवर्म्मन् (अर्थात् स्कदवर्म्मन्) के प्रपौत्र राजा विजय विष्णुगोप वर्म्मन् ने उत्कीर्ण कराया था और इसमें उस दान का उल्लेख है जो उसने कुड्डूर के एक ब्राह्मण को दिया था। यह संस्कृत में है।

२. जान पड़ता है कि बुद्धवर्म्मन् ने न० ८ वाले (विजय विष्णुगोप

१०. कुमारविष्णु तृतीय (एपि० इं० ८, ५०; एपि० इं० ८, १४३)

११. नंदिवर्म्मन् [S. I. I. २, ५०१, ५०८]

१२. सिंहवर्म्मन् [S. I. I. २, ५०८]

वेलुरपलैयमवाले ताम्रलेखों (S I. I. २, ५०१) का उपयोग करते हुए हमने इस वंशावली को उस काल से भी आगे तक पहुँचा दिया है, जिस काल का हम उल्लेख कर रहे है। इन ताम्रलेखों से वंश के उस आरंभिक इतिहास का पता चलता है जिसका हम इस समय विवेचन कर रहे है। इसके अतिरिक्त और कई दृष्टियो से भी ये ताम्रलेख महत्त्व के है। उनसे पता चलता है कि वंश का आरंभ वीरकूर्च से होता है, और साथ ही उनमे स्कंदवर्म्मन् द्वितीय तक की वंशावली दी गई है। नंदिवर्म्मन् प्रथम के राज्यारोहण के संबंध मे इससे यह महत्वपूर्ण सूचना मिलती है कि जब विष्णुगोप द्वितीय का देहांत हो गया था और दूसरे सब राजा भी नहीं रह गए थे, तब नंदिवर्म्मन् सिंहासन पर बैठा था। इसका अर्थ यह है कि जब विष्णुगोप के वंश मे भी कोई नहीं रह गया और कुमारविष्णु तृतीय का वंश भी मिट गया, तब नंदिवर्म्मन् को राज्य मिला था। उदयेदिरम्वाले ताम्रलेखों (एपि० इं० ३, १४२) में एक नंदिवर्म्मन् का उल्लेख है; और उसके संबंध में उनमे कहा गया है कि वह सिंहवर्म्मन्

द्वितीय) के उपरांत राज्याधिकार ग्रहण किया था, क्योंकि उसके इस वर्णन से यही सूचित होता है—भर्त्ता भुवोभूदथ बुद्धवर्म्मा, जो S. I. I. २, ५०८ मे दिया है।

प्रथम के पुत्र स्कंदवर्म्मन् तृतीय के उपरांत सिंहासन पर बैठा था; परंतु जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, वे ताम्रलेख इसलिये जाली हैं कि उनकी लिपि कई सौ वर्ष बाद की है, और उस ताम्रलेख का कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। वेलुरलैयम्वाले अभिलेख के अनुसार कुमारविष्णु द्वितीय के वंश मे नंदिवर्म्मन् प्रथम हुआ था। सिंहवर्म्मन् प्रथम की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र स्कंदवर्म्मन् तृतीय सिंहासन पर बैठा था; और जब उसके वंश मे कोई न रह गया, तब युवराज विष्णुगोप का पुत्र सिंहवर्म्मन् तृतीय सिंहासन पर बैठा था। यह प्रतीत होता है कि विष्णुगोप ने सिंहासन पर बैठना स्वीकार नहीं किया था। वह राज्य के सब कार-बार तो देखता था, परंतु उसने राजा के रूप मे कभी शासन नहीं किया था (§ १८७)। नरसराओपेटवाले ताम्रलेखों (M. E. R. १९१४, पृ० ८२) के अनुसार सिंहवर्म्मन् द्वितीय ने अपने पिता का राज्य प्राप्त किया था। वयलुरवाले स्तंभ-शिलालेख मे जो सूची दी है, उससे भी इस बात का समर्थन होता है[1]। विष्णुगोप द्वितीय के उपरांत स्कंदवर्म्मन् द्वितीयवाली तीसरी शाखा के लोग राज्य के उत्तराधिकारी हुए थे। इनमे से पहले तो बुद्धवर्म्मन् और उसका पुत्र कुमारविष्णु तृतीय सिंहासन पर बैठा था और तब उसके बाद उसका चचेरा भाई नंदिवर्म्मन् राज्य का अधिकारी हुआ था। "सविष्णुगोपे च नरेंद्रवृंदे[2] गते ततोऽजायत नंदिवर्म्मा" का यही अर्थ होता है।

---

१. एपि० इं० १८, १४५; मौलिक सामग्री के रूप मे इसका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि इसमे कई सूचियाँ एक साथ मिला दी गई हैं।

२. शुद्ध पाठ वृंदे है।

विष्णुगोप प्रथम के उपरांत इस वंश मे यह प्रथा चल पड़ी थी कि प्रत्येक पूर्व-पुरुष को "महाराज" कहते थे, फिर चाहे वह पूर्वपुरुष पल्लव राज-सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ हो और चाहे न हुआ हो, जैसा कि स्वयं विष्णुगोप प्रथम के संबंध मे हुआ था। विष्णुगोप प्रथम को उसके लड़के ने तो केवल "युव-महाराज" ही लिखा था, पर उसके पोते ने उसे "महाराज" की उपाधि दे दी थी। इसी प्रकार कुमारविष्णु तृतीय ने अपने ताम्र-लेखो मे अपने प्रत्येक पूर्वज को "महाराज" लिखा है। जब तक हमे उनके दान संबंधी मूल लेख न मिल जायँ, तब तक शासको की गौण शाखा के रूप में भी हम उनके उत्तराधिकार के संबंध में कुछ भी निश्चय नही कर सकते। ताम्रलेखो के प्रमाण पर केवल यही कहा जा सकता है कि केवल एक ही शाखा शासक के रूप मे दिखाई देती है; और अभी तक हमे इस वंश की केवल एक से अधिक शासक शाखा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नही मिला है। केवल विष्णुगोप प्रथम ही समुद्रगुप्त का सम-कालीन हो सकता था और सिहवर्म्मन् द्वितीयके समयमे यह विष्णुगोप प्रथम बालक शासक के अभिभावक के रूप मे राज्य के कारबार देखता था और कांची की सरकार का प्रधान अधिकारी था, और इसीलिये वह "कांचेयक" कहा जायगा। इस वंशवाले अस्थायी रूप से स्थानीय शासक या गवर्नर रहे होगे, जिन्हे उन दिनो "महाराज" कहते थे अथवा लेफ्टिनेट गवर्नर रहे होगे जो "युव-महाराज" कहलातेथे।

आरंभिक पल्लव राजालोग

§ १८४ क. वीरकूर्च कुमारविष्णु ने एक अश्वमेध यज्ञ किया था, अर्थात् उसने इस बात की घोषणा कर दी थी कि मै इक्ष्वाकुओं का उत्तराधिकारी हूँ। फिर शिव-स्कंदवर्म्मन् ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। जान पड़ता है कि वीरवर्म्मन् के हाथ से

कांची निकल गई थी[1] और कुमारविष्णु द्वितीय को फिर से उस पर विजय प्राप्त करके उसे अपने अधिकार मे करना पड़ा था[2]। वेलुरपलैयम्वाले ताम्रलेखो मे शिवस्कद वर्म्मन् को राजा या शासक नही कहा गया है। जान पड़ता है कि उसने युवराज रहने की अवस्था मे अपने पिता की ओर से काची पर विजय प्राप्त की थी। पिता और पुत्र दोनो को चोलो के साथ और कदाचित् कुछ दूसरे तामिल राजाओ के साथ भी युद्ध करना पडा था[3]। स्कदवर्म्मन् द्वितीय ने फिर से कांची में रहकर राज्य करना आरंभ किया था। उसके समय मे गंग लोग भी और कदंब लोग भी तामिल सीमाओं पर सामंतों के रूप मे नियुक्त किए गए थे (§ १८८ और उसके आगे)। उन सवकी उपाधियॉ बिलकुल एक ही सी है जिससे सूचित होता है कि वे सभी लोग वाकाटक सम्राट् के अधीन महाराज या गवर्नर के रूप मे शासन करते थे। वे लोग जो "धर्म महाराज" कहे जाते थे, उसका अभिप्राय यह जान पडता है कि वे लोग सम्राट् के द्वारा नियुक्त किए गए थे, और वे वाकाटको द्वारा स्थापित धर्म-साम्राज्य के अधीन थे।

---

१. उस पक्ति मे यह नाम कहीं दोहराया नहीं गया है। जान पड़ता है कि वह अशुभ या अशकुन-कारक और विफल समझा जाता था। परतु फिर भी वीरवर्म्मन् की वीरता का अभिलेखो मे उल्लेख है (वसुधातलैकवीरस्य)।

२. गृहीतकाची नगरस्ततोभूत् कुमारविष्णुस्समरेषु जिष्णुः (श्लोक ८)—एपि० इ० २, ५०८।

३. अन्ववाय नभश्चन्द्रः स्कन्दशिष्यस्ततोभवत्, द्विजानां घटिका राजस्सत्यसेनात् जहार यः। (उक्त मे श्लोक ७) सत्यसेन कदाचित् कोई चोल या दूसरा पड़ोसी तामिल राजा था।

वहुत दिनो तक चोलो के साथ उनका लगातार युद्ध होता रहा था और अंत मे बुद्धवर्म्मन् ने चोलो की शक्ति का पूरी तरह से नाश किया था[१]।

§ १८५. पल्लवो के पूर्वजो का राज्य नव-खंड कहलाता था[२]। महाभारत मे[३] एक नव-राष्ट्र का भी उल्लेख है, परंतु वह पश्चिमी भारत में था। यह नवखंड कही आंध्र के आस-पास होना चाहिए। कोसल में जो १८ वन्य राज्य थे, उनमे अनुश्रुतियो के अनुसार एक नवगढ़ भी था[४]। यह वस्तर के कही आस-पास था और भार-शिव राज्य के नागपुर विभाग के पास था, जहाँ से आंध्र पर आक्रमण करना सहज था। वहुत कुछ संभावना इस बात की जान पड़ती है कि वीरकोर्चवर्म्मन् का पिता कोसल मे गवर्नर या अधीनस्थ उप-राजा था, और वही से आंध्र प्राप्त किया गया था।

नवखड

§ १८६. वीरकोर्च कुमारविष्णु प्रथम अवश्य ही यथेष्ट अधिक काल तक जीवित रहा होगा। उसने अश्वमेध यज्ञ किया था और कांची पर विजय प्राप्त की थी। कदाचित् उसके स्वामी अथवा पिता ने इक्ष्वाकुओ और आंध्र पर विजय प्राप्त की थी और उसने चोलो पर भी विजय प्राप्त की थी और कांची पर अधिकार किया था। उसका पुत्र शिव-स्कंद युवराज

पल्लवो का काल-निरूपण

१. भर्त्ता भुवोऽभूदथ वुद्धवर्म्मा यश्चोलसैन्यार्णव-वाडवाग्निः। (श्लोक ८) S. J. I. २, ५०८।

२. S. I. I. २, ५१५ (श्लोक ६)।

३. सभापर्व ३१, ६।

४. हीरालाल, एपि० इ०, ८, २८६।

और कांची का उप-शासक था और इसलिये वीरकोर्च के दसवे वर्ष उसकी अवस्था कम से कम १८ या २० वर्ष की रही होगी। कांची पर आंध्र के राज-सिंहासन से अधिकार किया गया था। यह नहीं हो सकता कि जिस समय वीर-कोर्च का विवाह हुआ हो, उसी समय वह उप-शासक भी बना दिया गया हो, क्योंकि उसके शासन के दसवें वर्ष मे शिव-स्कंद इतना बड़ा हो गया था कि वह कांची का गवर्नर होकर शासन करता था। अपने विवाह के समय वीरकोर्च कदाचित् "अधिराज" ही था और "महाराज" नहीं बना था और "महाराज" की उच्च पदवी उसे कांची पर विजय प्राप्त करने के उपरांत मिली होगी। यदि हम यह मान ले कि आंध्र पर सन् २५०-२६० ई० मे विजय प्राप्त हुई थी, तो कांची की विजय हम सन् २६५ ई० मे रख सकते हैं। और "महाराज" के रूप मे वीरकोर्च का दसवॉ वर्ष सन् २७५ ई० के लगभग होगा, जब कि शिवस्कंद २० वर्ष का हुआ होगा। यह आरंभिक तिथि ठीक है या नहीं, इसका निर्णय करने मे हमे विष्णुगोप प्रथम की तिथि से बहुत कुछ सहारा मिल सकता है। अब हमे यह देखना है कि हमने ऊपर जो तिथि बतलाई है, वह विष्णुगोप प्रथम की तिथि को देखते हुए ठीक ठहरती है या नहीं।

§ १८७. शिवस्कंदवर्म्मन् ने युव-महाराज रहने की दशा मे जो दान किया था, यदि उसके पॉच वर्ष बाद वह सिहासन पर बैठा हो अर्थात् २८० ई० मे उसने राज्यारोहण किया हो और पंद्रह वर्षों तक शासन किया हो, तो उसका समय (सन् २८०-२९५ ई०) उस समय से मेल खा जायगा जो उसके दान-लेखो की लिपि के आधार पर उसके लिये निश्चित किया गया है और जिसका ऊपर विवेचन किया गया है। वीरवर्म्मन् के समय

ही पल्लवों के हाथ से कांची निकल गई थी, और यह कहीं नहीं कहा गया है कि उसने कोई विजय प्राप्त की थी; परंतु फिर भी यह कहा गया है कि वह बहुत वीर था। लेकिन उसके नाम पर उसके किसी वंशज का फिर कभी नाम नहीं रखा गया था। जान पड़ता है कि वह (वीरवर्म्मन्) रणक्षेत्र में चोल शत्रुओं के हाथ से मारा गया था। शिवस्कंदवर्म्मन् के मरते ही चोलों को बहुत अच्छा अवसर मिल गया होगा और उन्होंने आक्रमण कर दिया होगा। वीरवर्म्मन् ने साल दो साल से अधिक राज्य न किया होगा। वीरवर्म्मन् ने प्राचीन सनातनी प्रथा के अनुसार अपने प्र-पिता वीरकोर्च के नाम पर अपना नाम रखा था। परंतु जैसा कि अभी ऊपर बतलाया जा चुका है, यह नाम इसके बाद फिर कभी दोहराया नहीं गया था। वीरवर्म्मन् ने कांची अपने हाथ से गँवाई थी और वह चोलों के द्वारा परास्त भी हुआ था, और इसीलिये "वीर" शब्द अशुभ और राजनीतिक दुर्भाग्य का सूचक माना जाता था और इसीलिये इस वंश ने इस नाम का ही परित्याग कर दिया था। स्कंदवर्म्मन् द्वितीय दोबारा पल्लव शक्ति का संस्थापक बना था और इस बार पल्लव शक्ति ने स्थायी रूप से कांची से अपना केंद्र स्थापित कर लिया था। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के समय में वाकाटक वंश का नेतृत्व प्रवरसेन प्रथम के हाथ में था, जिसके समय में वाकाटक वंश अपनी उन्नति की चरम सीमा तक जा पहुँचा था, और वह बिंदु इतना उच्च था कि उस ऊँचाई तक उससे पहले कोई साम्राज्य-भोगी वंश नहीं पहुँचा था। जान पड़ता है कि स्कंदवर्म्मन् द्वितीय को वाकाटक सम्राट् से सहायता मिली थी। उसने "विजय" की उपाधि धारण की थी और वह उसका पात्र भी था। उसका शासन दीर्घ-काल-व्यापी था और

इसीलिये दक्षिण मे उसे अपनी तथा वाकाटक साम्राज्य की स्थिति दृढ़ करने का यथेष्ट समय मिला था। प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल के आधे से अधिक दिनों तक वह उसका समकालीन था। हमे यह मान लेना चाहिए कि उसने कम से कम पैंतीस वर्षों तक राज्य किया था क्योंकि उसके शासन-काल के तेंतीसवें वर्ष तक का तो उल्लेख ही मिलता है। उसके बाद हमे उसके पुत्र सिहवर्म्मन् प्रथम के शासन का एक उल्लेख मिलता है और उसके दूसरे पुत्र विष्णुगोप के गवर्नर होने का उल्लेख मिलता है परंतु उसके पौत्र स्कंदवर्म्मन् तृतीय का हमे कोई उल्लेख नहीं मिलता, और स्कंदवर्म्मन् तृतीय के उपरात विष्णुगोप प्रथम का पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था, इसलिये हम कह सकते है कि स्कंदवर्म्मन् तृतीय ने बहुत ही थोड़े दिनो तक राज्य किया होगा। जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त ने अपने राज्याभिषेक से पहले ही विष्णुगोप को परास्त किया था और उस समय की प्रसिद्ध प्रथा के अनुसार उसने अपने पुत्र के पक्ष मे राजसिंहासन का परित्याग कर दिया था और वह कभी कानूनी दृष्टि से महाराज नहीं हुआ था, और इसका अर्थ यह है कि यद्यपि उसने राज-कार्यों का संचालन तो किया था, परंतु राज-पद पर अभिषिक्त होकर नहीं किया था। अतः इस वंश के राजाओं का कालनिरूपण इस प्रकार होता है—

१. वीरकूर्च कुमार विष्णु (कांची मे)	लगभग	सन्	२६५-२८० ई०
२. (शिव) स्कंदवर्म्मन् प्रथम ...	"	"	२८०-२९५ "
३. वीरवर्म्मन्	"	"	२९५-२९७ "
४. (विजय)स्कंदवर्म्मन् द्वितीय ...	"	"	२९७-३३२ "
५. सिंहवर्म्मन् प्रथम	"	"	३३२-३४४ "
६. स्कंदवर्म्मन् तृतीय ..	"	"	३४४-३४६ "

७ विष्णुगोप प्रथम	...	”	”	३४६	”
७. क. सिंहवर्म्मन् द्वितीय	...	”	”	३४६-३६०	”

इस काल-निरूपण का पूरा पूरा समर्थन विष्णुगोप की उस तिथि से होता है जो हमें समुद्रगुप्त के इतिहास से मिलती है।

१७. दक्षिण के अधीनस्थ या भृत्य ब्राह्मण राज्य गंग और कदंब

ब्राह्मण गंग-वंश

§ १८८. पल्लवों की अधीनता में ब्राह्मण काण्वायनों का एक अधीनस्थ या भृत्य राज्य स्थापित हुआ था और इस राज्य के अधिकारियों ने अपने मूल निवास-स्थान के नाम पर अपने वंश का नाम गंग-वंश या गंगा का वंश रखा था; और उन्होंने अपना यह नामकरण उसी प्रकार किया था, जिस प्रकार गुप्तों की अधीनता में कलिंग राजाओं ने अपने वंश का नाम "मगध वंश" रखा था। गंग वंश के तीसरे राजा के समय से इस वंश के सब राजा हर पीढ़ी में पल्लवों के द्वारा अभिषिक्त किए जाते थे, जिनमें से सिंहवर्म्मन् पल्लवेंद्र और साथ ही उसके उत्तराधिकारी स्कंदवर्म्मन् (तृतीय) के नाम उनके सबसे आरंभिक और असली ताम्रलेख में मिलते हैं[1]। बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि ये काण्वायन लोग मगध के साम्राज्य-भोगी काण्वायनों की ही एक शाखा के थे जिनमें का अंतिम राजा (सुशर्मन्) कैद हो गया था

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, १४ ३३३।

(प्रगृह्य तं)[1] । और सातवाहन ने उसे कैद करके दक्षिण पहुँचा दिया था[2] । सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से ब्राह्मण अधीनस्थ या भृत्य वंश महत्त्वपूर्ण हैं । दक्षिण मे पहले से ही राजनीतिक ब्राह्मणों का एक वर्ग वर्तमान था ।

दक्षिण मे एक ब्राह्मण अभिजात-तंत्र

§ १८६. ऊपर हम कौडिन्यों का उल्लेख कर चुके है। ये कौडिन्य लोग उस सातवाहन साम्राज्य के समय मे जो कुछ समय तक दक्षिण और उत्तर दोनों मे स्थापित था, उत्तर से लेकर दक्षिण में बसाए गए थे । बहुत दिनों से यह अनुश्रुति चली आती है कि मयूरशर्म्मन् मानव्य के पूर्वजों के समय मे कुछ ब्राह्मण वंश अहिच्छत्र से चलकर दक्षिण भारत मे जा बसे थे,[3] और जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, यह मयूरशर्म्मन् मानव्य चटु शातकर्णि वंश का था । जान पड़ता है कि यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर ही प्रचलित हुई थी । सातवाहनों ने कुछ विशिष्ट ब्राह्मण वंशों अर्थात् गोतम गोत्र, वशिष्ठ गोत्र, माठर गोत्र, हारीत गोत्र आदि मे विवाह किए थे । दक्षिण (मैसूर) गोतमों की एक अच्छी खासी बस्ती थी[4] । इक्ष्वाकुओं ने इस परंपरा का दृढ़तापूर्वक पालन किया था और कदंबों ने भी कुछ सीमा तक इसका पालन

---

१. मत्स्यपुराण, पारजिटर कृत Purana Text, पृ० ३८, ३, ६ ।

२. बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, १६. २६४ ।

३. E. C. ७ १८६ ।

४. उक्त ७, प्रस्तावना पृ० ३ ।

किया था। दक्षिण में ब्राह्मण वंश बहुत संपन्न थे और राज-दरबारो मे ऊँचे पदो पर रहते थे और राज्य करते थे। वे लोग अपना विशिष्ट स्थान रखते थे और राज-वंशो के साथ उनका घनिष्ठ संबंध था। आज तक दक्षिण में ऐयर और ऐयंगर वहाँ के असली रईस और सरदार हैं। आरंभिक शताब्दियो के ब्राह्मख शासको को दबाकर पुनरुद्धार काल के वाकाटक-पल्लवो और गंगो ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया था। और जिन ब्राह्मणो के साथ उन्होने विवाह संबंध स्थापित किया था, वे दक्षिणी भारत के निर्माता थे, जिन्होने दक्षिणी भारत मे अपनी संस्कृति का प्रचार करके दक्षिणापथ को हिंदू भारत का अंतर्भुक्त अंग बना दिया था; और वास्तव मे उन्होने भारतवर्ष की सीमा का सचमुच विस्तार करके समस्त दक्षिणी भारत को भी उसके अंतर्गत कर लिया था।

§ १९०. इस समय हम लोग गंग वंश की वंशावली उस ताम्रलेख के आधार पर फिर से तैयार कर सकते है जो निस्संदेह रूप से गंगो का असली ताम्रलेख है और आरभिक गंग वशावली जिसे मि० राइस (Mr. Rice) ने एपिग्राफिया इंडिका, खंड १४, पृ० ३३१ मे प्रकाशित किया था और जो चौथी शताब्दी के अंत अथवा पाँचवीं शताब्दी के आरंभ (अर्थात् लगभग सन् ४०० ई०) का लिखा हुआ है। इस वंशावली को पूरा करने और सही साबित करने के लिए मैने दूसरे उल्लेखों के आधार पर इसमे एक और नाम बढ़ा दिया है। यह वंशावली इस प्रकार बनती है—

कोंकणिवर्म्मन्, धर्माधिराज

|
|

माधव (प्रथम) महाराजाधिराज
अय्यवर्म्मन् (अरि[1] अथवा हरिवर्म्मन्) गंग-राज
(जिसे पल्लव-वंश के सिंहवर्म्मन् महा-
राजा ने राज्य पर बैठाया था)

| [2]
|

माधव (द्वितीय) महाराज, सिंहवर्म्मन् जिसे पल्लवों
के महाराज, स्कंदवर्म्मन् तृतीय ने
राज्य पर बैठाया था

|
|

अविनीत कोंगणि, महाधिराज (इसने कदंब राजा
काकुस्थवर्म्मन् की एक कन्या के साथ विवाह
किया था जो महाधिराज कृष्णवर्म्मन्
की बहन थी)[3]

---

१. मिलाओ कीलहार्न की सूची, एपिग्राफिया इंडिका, ८, क्रोड़पत्र, पृ० ४।

२. [मि० राइस (Mr. Rice) के कथनानुसार कदाचित् भूल से अय्य और माधव द्वितीय के बीच में एक विष्णुगोप का नाम छूट गया था] एपिग्राफिया इंडिका १४, ३३३ मिलाओ कीलहार्न पृ० ५।

३. कीलहार्न पृ०, ५ मि० राइस ने एपिग्राफिया इंडिका १४ पृ०, ३३४ में अपना यह विचार प्रकट किया था कि माधव द्वितीय (जिसे उन्होंने माधव तृतीय इसलिये कहा है कि उन्होंने कोंगणिवर्म्मन् को उसके व्यक्तिगत नाम "माधव" के कारण माधव प्रथम मान लिया था) ने कदंब राजकुमारी के साथ विवाह किया था। परंतु गंग अभि-

§ १६१. गंग अभिलेखो में यह कहा गया है कि अविनीत कोंगणि ने एक कदंब राज-कुमारी के साथ विवाह किया था और जान पड़ता है कि इसका समर्थन काकुस्थवर्म्मन् के तालगुंड वाले शिलालेख से होता है, जिसमे कहा गया है काकुस्थवर्म्मन् ने कई राजनीतिक विवाह कराए थे। कहा गया है कि अविनीत कोंगणि ने कृष्णवर्म्मन् प्रथम की बहन के साथ विवाह किया था; और यह कृष्णवर्म्मन् काकुस्थ का पुत्र था[1]। इस प्रकार अविनीत कोंगणि का समय काकुस्थ के समय (लगभग सन् ४०० ई०) की सहायता से निश्चित हो जाता है। तीसरे राजा अय्यवर्म्मन् को पल्लव सिंहवर्म्मन् द्वितीय ने राजपद पर प्रतिष्ठित किया था, जिसका समय लगभग सन् ३३०–३४४ ई० है (देखो § १८७), और माधव द्वितीय को पल्लव स्कंद वर्म्मन् तृतीय (लगभग ३४४–३४६ ई०) ने, जो सिंहवर्म्मन् का उत्तराधिकारी था, राज्य पर बैठाया था। इस प्रकार इन तीनो सम-कालीन वंशो से एक दूसरे का काल-निरूपण हो जाता है, और यह भी सिद्ध हो जाता है कि गंग काण्वायन वंश का संस्थापक सन् ३०० ई० से पहले नहीं हुआ होगा[2]। अनुमान से उनका समय इस प्रकार होगा (जिसमे

लेखो के प्रमाण के आधार पर और आगे (§§ १६०–१६१) दिए हुए इन राजाओ के काल-निरूपण के आधार पर यह बात मिथ्या सिद्ध होती है।

१. मिलाओ Kadamba Kula, पहला नक्शा।

२. इससे यह सिद्ध होता है कि जिन अभिलेखो पर आरंभिक शक संवत् (सन् २४७ ई० आदि, मिलाओ कीलहार्न की सूची, एपिग्राफिया इंडिका ८, पृ० ४, पाद-टिप्पणी) दिए गए हैं, उनमें यद्यपि बहुत कुछ ठीक वंशावली दी गई है, परंतु फिर भी असली नहीं हो

मोटे हिसाब से हर एक के लिये औसत १६ या १७ वर्ष पडते हैं)–

१. कोंकणिवर्म्मन्	लगभग सन्	३००-३१५ ई०
२. माधववर्म्मन् प्रथम	,, ,,	३१५-३३० ,,
३. अय्य अथवा अरिवर्म्मन्	,, ,,	३३०-३४५,,[१]
४. माधववर्म्मन् (द्वितीय) सिंहवर्म्मन्	,, ,,	३४५-३७५ ,,
५. अविनीत कोंगणि	,, ,,	३७५-३९५ ,,

§ १९२ पहले राजा ने अपना नाम कोंकणिवर्म्मन् कदाचित् इसलिये रखा होगा कि वह कुछ ही समय पहले कोंकण से आया था। उसका राज्य मैसूर मे उस स्थान पर था जो आजकल गंगवाड़ी कहलाता है। पेनुकोंड प्लेट (एपिग्राफिया इंडिका, १४, ३३१) मदरास के अनंतपुर जिले मे पाए गए हैं। गग लोग कदंबो के प्रदेश से बिलकुल सटे हुए प्रदेश मे रहते थे और कदंब लोग उसी समय अथवा उसके एक पीढ़ी बाद अस्तित्व मे आए थे।

§ १९३. इस वंश के राजाओं के नाम के साथ जो "धर्माधिराज" की उपाधि मिलती है, उससे यह सूचित होता है कि गंग लोग भी कदंबो की भाँति पल्लवो के धर्म-साम्राज्य के अंतर्गत थे और उसका एक अंग थे।

§ १९४. पहला गग राजा विजय द्वारा प्राप्त राज्य का अधि-

सकती। जिन लोगों को पुराने जमाने मे जमीने दान-रूप में मिली थीं, अपने आपको उनके वंशज बतलानेवाले लोगो ने कई जाली गंग दानपत्र बना लिये थे। परतु फिर भी उन्हे गग राजाओं की वंशावली का बहुत कुछ ठीक ज्ञान था।

१. विष्णुगोप का अस्तित्व निश्चित नहीं है (§१९० पाद-टिप्पणी)।

कारी बना था और जान पड़ता है कि वह विजय या तो उसने पल्लवों के और या मुख्य वाकाटकों के सेनापति के रूप में प्राप्त की थी, जैसा कि उनकी उपाधि "गंग" से सूचित होता है।

कोकणिवर्म्मन्

उसने ऐसे देश पर अधिकार प्राप्त किया था जिस पर सुजनो का निवास था (स्व-भुज-नव-जय-जनित-सुजन-जनपदस्य) और उसने विकट शत्रुओं के साथ युद्ध किया था (दारुण अरिगण)। इस राजा के शरीर पर (युद्ध-क्षेत्र के) व्रण भूषण-स्वरूप थे (लब्ध-व्रण-भूषणयस्प काण्वायनसगोत्रस्य श्रीमत् कोकणिवर्म्म-धर्म-महाधिराजस्य)।

§ १९५. उसका पुत्र माधव महाधिराज संस्कृत के पवित्र और मधुर साहित्य का बहुत बड़ा पंडित था और हिंदू नीति-शास्त्र की व्याख्या और प्रयोग करने मे बहुत कुशल था (नीतिशास्त्रस्य वक्तृ-प्रयोक्तृ-कुशलस्य)।

§ १९६. माधव के पुत्र अर्य्यवर्म्मन् के शरीर पर अनेक युद्धों में प्राप्त किए हुए व्रण आभूषण के स्वरूप थे। यथा—

अनेक-युद्धोपलब्ध
व्रण-विभूषित-शरीरस्य

उसने अपना समय इतिहास के अध्ययन मे लगाया था।

§ १९७. गंगो का जो वंशानुक्रमिक इतिहास ऊपर सक्षेप मे दिया गया है, उसमे वाकाटक परंपरा की भावना दिखाई देती है। वह इतिहास उस समय से पहले का है जब कि समुद्रगुप्त दक्षिण मे पहुँचा था। वह इतिहास संस्कृत मे है और आरंभिक काल के दस्तावेजो से नकल करके तैयार किया गया है, और इस

वाकाटक भावना

परिवार के बाद वाले दान-पत्रों और दस्तावेजों आदि में बराबर वही इतिहास नकल किया गया था। गंगों का एक ऐसा सु-संस्कृत वंश था जिसकी सृष्टि वाकाटकों ने की थी।

§ १६८. आरंभिक गंगों का व्यक्तिगत आदर्श भी और नागरिकता संबंधी आदर्श भी बहुत महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है। इस वंश के राजा लोग भी विंध्यशक्ति की तरह रणक्षेत्र के घावों से अपने आपको अलंकृत करते थे। इसकी प्रतिध्वनि समुद्रगुप्त के शिलालेख में सुनाई देती है। गंगों का नागरिकता संबंधी आदर्श पूर्ण और निश्चित था। उनका सिद्धांत था कि किसी का राजा होना तभी सार्थक होता है, जब वह बहुत अच्छी तरह प्रजा का पालन करता है। यथा—

गंगों की नागरिकता

सम्यक्-प्रजा-पालन
मात्र=अधिगत-राज्य-प्रयोजनस्य।

अर्थात्—(महाराज माधव (प्रथम) महाधिराज के लिये) राजा होने का उद्देश्य केवल यही था कि प्रजा का सम्यक् रूप से पालन किया जाय।

§ १६६. साधारणतः यही समझा जाता है कि समुद्रगुप्त के आक्रमण के प्रत्यक्ष परिणाम-स्वरूप ही कदंबों की सृष्टि हुई थी। परंतु यह बात वस्तव में ठीक नहीं है। बल्कि उनकी सृष्टि मानव्यों के आरंभिक इतिहास के कारण हुई थी। उनके इतिहास का अभी हाल में मि० माओरेस (Mr. Maores) ने एक पाठ्य पुस्तक में स्वतंत्र रूप से विवेचन किया है। उस इतिहास की कुछ

कदंब लोग

बातें ऐसी हैं जिन पर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया है और जिनका उस युग से विशेष संबंध है, जिस युग का हम इस पुस्तक में विवेचन कर रहे हैं। अतः वे बातें यहाँ कही जाती हैं।

उनके पूर्वज

§ २००. कदंबों के जो सरकारी अभिलेख और दस्तावेज आदि मिलते हैं और जिनका आरंभ तालगुंड-वाले स्तंभाभिलेख से होता है, उनमें वे अपने आपको हारितीपुत्र मानव्य कहते हैं[1]। हम यह बात पहले से ही जानते हैं कि वनवासी आंध्र (अर्थात् चुटु लोग) हारितीपुत्र मानव्य थे (§ १५७ और उसके आगे)। यह बात निश्चित सी जान पड़ती है कि कदंब लोग चुटु सातकर्णियों के वंशज थे। जब वे अपने आपको हारितीपुत्र मानव्य कहते हैं, तब वे मानों यह सूचित करते हैं कि वे उस अंतिम चुटु मानव्य के वंशज थे जो एक हारितीपुत्र था। ज्योंही पहले कदंब राजा ने चुटुओं के मूल निवास स्थान वनवासी और कुंतल पर अधिकार किया था, त्योंही उसने प्रसन्न मन से वह पुराना दान फिर से दे दिया था जो पहले मानव्य गोत्र के हारितीपुत्र शिवस्कंदवर्म्मन् ने किया था, और यह बात उसने स्वयं उसी स्तंभ पर फिर से अंकित करा दी थी, जिस स्तंभ पर उस संपत्ति के दान का चुटु राजा ने उल्लेख कराया था और जो उसी कौंडिन्य वंश के द्वारा मट्टिपट्टि के साथ संयुक्त किया गया था[2]। यह

---

१. एपि० इं० ८. ३४, कीलहार्न की पाद-टिप्पणी। मिलाओ एपि० इं० १६, पृ० २६६, मानव्यसगोत्रानाम् हारितीपुत्रानाम्।

२. आज-कल का मलवली इसी नाम का अवशिष्ट रूप है।

दोनों अभिलेखों की लिपियों के कालों का मध्यवर्ती अंतर यथेष्ट रूप से परिलक्षित होता है। मि० राइस ने E. C. ७, पृ० ६ में

दान दोवारा किया गया था; और इससे यह पता चलता है कि पहले कदंब राजा से पूर्व और हारितीपुत्र शिवस्कंदवर्म्मन् के उपरांत अर्थात् इन दोनों के मध्य मे जो राजा हुआ था, उसने वह दान की हुई संपत्ति वापस लेकर फिर से अपने अधिकार मे कर ली थी; और वह बीचवाला राजा अथवा राजा लोग पल्लवों के सिवा और कोई नहीं हो सकते, क्योंकि इस बात का उल्लेख मिलता है कि मयूरशर्म्मन् ने पल्लवों से ही वह प्रदेश प्राप्त किया था और उसे प्राप्त करने के अन्यान्य कारणों मे से एक कारण यह भी था कि वह चुटु मानव्यों के पुराने राजवंश का वंशधर था। इस दान-लेख पर उक्त राजा के शासन-काल का चौथा वर्ष अंकित है। मै समझता हूँ कि वह मयूरशर्म्मन् का ही आज्ञापत्र था, क्योंकि प्लेट पर उसके नाम का कुछ अंश पढ़ा जाता है (देखो § १६२)। यहाँ वह अपने वंश का अधिकार प्रमाणित कर रहा था। उसने अपने वंश के प्राचीन देश पर अधिकार कर लिया था और अपने वंश का किया हुआ पुराना दान उसने फिर से दिया था। कौंडिन्यों को कदाचित् उसके पूर्वजों ने ही उस देश मे बुलाकर बसाया था। और उन कौंडिन्यों के प्राचीन प्रतिष्ठित वंश के साथ मयूरशर्म्मन् के वंश के लोगों का बराबर तब तक संबंध चला आता था, क्योंकि दोवारा जिसे दान दिया गया था, वह दाता राजा का मामा (मातुल) कहा गया है।

कहा है कि इन दोनो मे कुछ ही वर्षों का अतर है। परतु वास्तव मे इन दोनो मे अपेक्षाकृत अधिक समय का अंतर है। दोनो की लिपियाँ भी भिन्न है। वह एक नई भाषा अर्थात् महाराष्ट्री है जिसका उससे पहले कभी किसी सरकारी मसौदे या अभिलेख में प्रयोग नहीं किया गया था।

§ २०१. पल्लवों ने जिस प्रकार इक्ष्वाकुओं को अधिकार-च्युत किया था, उसी प्रकार चुटु मानव्यों को भी अधिकार-च्युत किया था। इक्ष्वाकु लोग तो सदा के लिये अदृश्य हो गए थे, परंतु मानव्यों का एक बार फिर से उत्थान हुआ था। ज्योंही पहला अवसर मिला था, त्योंही मयूरशर्म्मन् मानव्य ने अपने पूर्वजों के देश पर फिर से अधिकार कर लिया था और "कदंब" नाम से एक नये राजवंश की स्थापना की थी।

§ २०२ कदंबों ने अपने वंश की प्राचीन स्मृतियों को फिर से जाग्रत करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने सातवाहनों के मलवली देवता के नाम पर फिर से भूमि-दान दी थी; और तालगुंड-वाले जिस तालाब और मंदिर का सातकर्णियों के साथ संबंध था, उस पर उन्होंने अपना अभिमानपूर्ण स्तंभ स्थापित कराया था और उससे भी अधिक अभिमानपूर्ण अपना शिलालेख अंकित कराया था। इसी प्रकार उन लोगों ने पश्चिम में सातवाहन राज्य की उत्तरी सीमा तक भी पहुँचने का प्रयत्न किया था। उनका यह प्रयत्न कई बार हुआ था। परंतु वाकाटक लोग उन्हें बराबर रोकते रहे। वाकाटकों ने बराबर विशेष प्रयत्नपूर्वक अपरांत का समुद्री प्रांत और वहाँ से होनेवाला पश्चिमी विदेशी व्यापार अपने ही हाथ में रखा।

कंग और कदंबों की स्थिति

§ २०३. इस प्रयत्न को हम सातवाहन-वाद कह सकते हैं और इसका मतलब यही है कि वे लोग सातवाहनों की सब बातें फिर से स्थापित करना चाहते थे; और इस प्रयत्न के संबंध में कंग ने, जो समुद्रगुप्त के समय में हुआ था, बहुत कुछ काम किया था। कंग उसी मयूरशर्म्मा का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसने ब्राह्मणों की "शर्म्मा" वाली उपाधि

का परित्याग कर दिया था और अपने नाम के साथ राजकीय उपाधि "वर्म्मा" का प्रयोग करना आरंभ कर दिया था। वास्तव में वही कदंब राज्य का संस्थापक था और वह कदंब राज्य उसके समय मे बहुत अधिक शक्तिशाली हो गया था। परंतु कदंब राज्य की वह बढ़ी-चढ़ी शक्ति कुछ ही वर्षों तक रह सकी थी। जब पल्लव-शक्ति समुद्रगुप्त के हाथ से पराजित हो गई थी, तब उसे कंग ने दबाने का प्रयत्न किया था। पुराणों मे कान और कनक नाम से कंग का पूरा पूरा वर्णन मिलता है (देखो §§ १२८-१२९)। पल्लव लोग वाकाटक सम्राट् के साम्राज्य के दक्षिणी भाग मे थे। वे लोग वाकाटक चक्रवर्ती के अधीनस्थ महाराज या गवर्नर थे। जान पड़ता है कि पल्लव लोग वाकाटक सम्राट् की ओर से त्रैराज्य पर शासन करते थे और इस त्रैराज्य मे तीन तामिल राज्य थे, जिनके नेता चोलों पर उन्होंने वस्तुतः विजय प्राप्त की थी। स्त्री-राज्य, मूषिक और भोजक ये तीनो राज्य परस्पर संबद्ध थे और कणवर्म्मन् इन्हीं तीनो का शासक बन गया था और विष्णुपुराण के अनुसार त्रैराज्य पर भी उसका शासन था, अर्थात् उस समय के लिये वह पल्लवो को दबाकर समस्त दक्षिण का स्वामी बन गया था। केवल पल्लवों का प्रदेश ही उसके शासनाधिकार के बाहर था। जान पड़ता है कि पल्लवो के पराजित होने के उपरांत कग ने अपने पूर्वजो का दक्षिणी राज्य फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया था और वह कहता था कि समुद्रगुप्त को सारे भारत का सम्राट् होने का कोई अधिकार नहीं है। परतु वह पृथिवीषेण वाकाटक के द्वारा परास्त हुआ था और उसे राज-सिंहासन का परित्याग करना पड़ा था (§ १२७ और उसके आगे)। कग के उपरात कदंब लोग राजनीतिक दृष्टि से वाकाटक राज्य के साथ संबद्ध रहे जो कदंब राज्य के कुंतल-

वाले अंश से स्वयं अपनी भोजकट-वाली सीमाओं पर मिला हुआ था। कदंबों का विशेष महत्त्व सामाजिक क्षेत्र मे है। वे लोग वाकाटकों और गुप्तों के बहुत पहले से दक्षिण में रहते आते थे। परंतु फिर भी नवीन सामाजिक पुनरुद्धार में उन्होंने एक नवीन शक्ति और नवीन तेज प्रदर्शित किया था; और अपने क्षेत्र के अंदर उस पुनरुद्धार के संबंध मे उन्होंने उतना ही अच्छा काम किया था, जितना गंगों और पल्लवों ने किया था।

§ २०४. इस प्रकार उस समय का दक्षिण का इतिहास वस्तुतः दक्षिण में पहुँचे हुए नए और पुराने दोनों लोगों का इतिहास है और उन प्रयत्नों का इतिहास

एक भारत का निर्माण है जो उन्होंने सारे देश में एक सर्व-सामान्य सभ्यता अर्थात् हिंदुत्व का प्रचार और स्थापना करने के लिये किए थे, और वह प्रयत्न उत्तर मे समाज का सुधार और पुनरुद्धार करने मे बहुत अधिक सफल हुआ था। इन प्रयत्नों के कारण दक्षिण भारत इस प्रकार उत्तर भारत के साथ मिलकर एक हो गया था कि सचमुच भारतवर्ष की पुरानी व्याख्या फिर से चरितार्थ होने लग गई थी और समस्त दक्षिण भी फिर से भारतवर्ष के ही अंतर्गत समझा जाने लगा था। उत्तरी भारत के हिंदुओं ने दक्षिणी भारत की भाषा, लिपि, उपासना और संस्कृति का प्रवेश और प्रचार किया था। वहीं से उन लोगों ने द्वीपस्थ भारत मे एक नवीन जीवन का संचार किया था। एक सर्वसामान्य संस्कृति से उन लोगों ने एक भारत का निर्माण किया था, और उसी समय का बना हुआ एक भारत बराबर आज तक चला आ रहा है।

———

पाँचवाँ भाग

उपसंहार

धर्म-प्राचीर-बन्दः शशि-कर-शुचयः कीर्त्तयः सुप्रतानाः।

—इलाहाबाद-वाला स्तंभ।

१८. गुप्त-साम्राज्य-वाद के परिणाम

§ २०५. समुद्रगुप्त ने सैनिक क्षेत्र मे जो बहुत बड़े-बड़े काम किए थे, उनसे सभी लोग परिचित है और इसलिये यहाँ उनके विवेचन करने की आवश्यकता नही। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उसने सैनिकता को आवश्यकता से अधिक आश्रय नहीं दिया था—कभी आवश्यकता से अविक या व्यर्थ युद्ध नहीं किया था। शांति वाली नीति का महत्व वह बहुत अच्छी तरह जानता था। अपने दूसरे युद्ध के बाद उसने फिर कभी कोई अभियान नही किया था। बल्कि शाहानुशाही पहाड़ी रियासतों, प्रजातंत्रों या गणतंत्रों और उपनिवेशो को अपने साम्राज्य के घेरे और प्रभाव मे लाकर उसने नीति और शांति के द्वारा अपना उद्देश्य सिद्ध किया था। उसके पास इतना अधिक सोना हो गया था, जितना उत्तरी भारत मे पहले कभी देखा नहीं गया था, और यह सोना उसे इसीलिये मिला था कि उसने दक्षिणी भारत और उपनिवेशो को अपने साम्राज्य मे मिला लिया था। उसने दक्षिण के साथ वाकाटक

समुद्रगुप्त की शाति और समृद्धिवाली नीति

वंश के द्वारा संपर्क बना रखा था, क्योंकि वाकाटक वंश फिर से अधिकारारूढ़ कर दिया गया था, यद्यपि इलाहाबाद वाले शिला-लेख में वाकाटक देश को मध्य-प्रदेश का एक अंश माना गया है और प्रजातंत्रों या गणतंत्रों का इस प्रकार सिंहावलोकन किया गया है कि जान पड़ता है कि वह सिंहावलोकन करने वाला ग्वालियर अथवा एरन में बैठा हुआ था। इलाहाबाद वाले शिला-लेख की २३ वीं पंक्ति में उसने कहा है कि मैंने पुराने राजवंशों को फिर से अधिकारारूढ़ कर दिया है, और २६ वीं पंक्ति में वह कहता है कि जिन राजाओं पर मैंने अपने बाहुबल से विजय प्राप्त की थी, उनकी संपत्ति मेरे कर्मचारी उन्हें लौटा रहे हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि उन राजाओं में पृथिवीषेण प्रथम भी था। उसके बाद वाले दूसरे शासन-काल में भी दक्षिण और दीपस्थ भारत से बराबर बहुत सा सोना उत्तरी भारत में आया करता था। एरन वाले शिलालेख में कहा गया है कि समुद्रगुप्त सोने के सिक्के दान करने में राम और पृथु से भी बढ़ गया था। यदि यही बात हो तो इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि उसके पुत्र ने अपनी प्रजा में इतना अधिक सोना बाँटा था, जितना उससे पहले और कभी किसी ने नहीं बाँटा था। इस बात में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या ने लिखा है कि अरबों (गुप्त) मोहरें दान की गई थीं[1] और उसके इस कथन का समर्थन युआन च्वांग ने भी किया है। अमोघवर्ष ने अपने अभिलेख में यह स्वीकृत किया है कि गुप्त राजा कलियुग का सबसे बड़ा दाता और दानी था। यह बात समुद्रगुप्त की उत्तम दूरदर्शिता के कारण ही हो सकी थी। उसकी शांति और बंधुत्व स्थापित करने वाली

---

१. पूनावाले प्लेट, एपिग्राफिया इंडिका, खंड १५, पृ० ४१।

नीति ने ही पृथिवीपेण प्रथम को उसका घनिष्ठ मित्र और सहायक बना दिया था, जिसने कुनल या कदंब राजा पर फिर से विजय प्राप्त की थी। इस कुंतल या कदंब राजा के कारण दक्षिण मे समुद्रगुप्त का एकाधिकार और प्रभुत्व संकट मे पड गया था; और कदाचित् इसीलिये उसे अपना अश्वमेध यज्ञ अथवा उसकी पुनरावृति स्थगित कर देनी पड़ी थी, जिसका उल्लेख प्रभावती गुप्ता ने किया है[1]। उसकी औपनिवेशिक नीति और ताम्रलिप्ति वाले बंदरगाह को अपने हाथ मे रखने के कारण अवश्य ही उसे बहुत अधिक आय हुआ करती होगी। उन दिनों चीन और इंडोनेशिया के साथ भारत का बहुत अधिक व्यापार हुआ करता था और उस पूर्वी व्यापार का महत्त्व कदाचित् पश्चिमी व्यापार के महत्त्व से भी बढ़ा-चढ़ा था। समुद्रगुप्त भी और उसका पुत्र चंद्रगुप्त भी दोनों अपनी समुद्री सीमाओं पर सदा बहुत जोर दिया करते थे और कहते थे कि जिस प्रकार हमारी उत्तरी सीमा हिमवत् (तिब्बत) है, उसी प्रकार बाकी तीनो दिशाओं की सीमाएँ समुद्र हैं। दोनो ही के शासन-काल मे प्रजा पर जहाँ तक हो सकता था, बहुत ही कम कर लगाया जाता था; और फाहियान ने चंद्रगुप्त के शासन-काल के संबंध में इस बात का विशेप रूप से उल्लेख किया है। समुद्रगुप्त अपनी प्रजा के लिये सचमुच धनद था। लोगो के पास इतना अधिक धन हो गया था कि वह सहज में बड़े-बड़े चिकित्सालय स्थापित कर सकते थे; और समुद्रगुप्त की स्थापित की हुई शांति के कारण ही चंद्रगुप्त अपने राज्य से प्राण-दंड की प्रथा उठा सका था।

---

[1] अनेक अश्वमेध याजी लिच्छवि-दौहित्रः। (एपिग्राफिया इंडिका, १५, ४१)

§ २०६. राष्ट्र के विचार पूरी तरह से बदल गए थे और लोगों की दृष्टि बहुत ही उच्च तथा उदार हो गई थी। यह मनस्तत्व प्रत्यक्ष रूप से स्वयं सम्राट् से ही लोगो ने ग्रहण किया था। उसके समय के हिंदू बहुत बड़े-बड़े काम सोचते और उठाते थे।

उच्च राष्ट्रीय दृष्टि

उन्होने बहुत ही उच्च, सुंदर और उदार साहित्य की सृष्टि की थी। साहित्यसेवी लोग अपने देश-वासियो के लिये साहित्यिक कुवेर और भारतवर्ष के बाहर रहनेवालो के लिये साहित्यिक साम्राज्य-निर्माता बन गए थे। कुमारजीव ने चीन पर साहित्यिक विजय प्राप्त की थी[1]। कौडिन्य धर्म-प्रचारक ने कंबोडिया मे एक सामाजिक और सांस्कृतिक एकाधिकार स्थापित किया था। व्यापारियो और कलाकारो ने भारतवर्ष को विदेशियो की दृष्टि मे एक आश्चर्यमय देश बना दिया था। यहाँ की कला, साहित्य, भक्ति और राजनीति में स्त्रीत्व का कोई भाव नहीं था; जो कुछ था, वह सब पुरुषोचित और वीरोचित था। यहाँ वीर्यवान् देवताओ और युद्ध-प्रिय देवियो की मूर्त्तियाँ वनती थी। यहाँ की कलम से सुंदर और वीर पुरुषो के आत्मज्ञान रखनेवाले तथा अभिमानी हिंदू योद्धाओ के चित्र अंकित होते थे। यहाँ के पंडित

---

१ वह समुद्रगुप्त का समकालीन था और चीन गया था (सन् ४०५–४१२) जहाँ उसने बौद्ध त्रिपिटक पर चीनी भाषा में भाष्य लिखाए थे। उसका किया हुआ वज्र-सूत्र का अनुवाद चीनी साहित्य में राष्ट्रीय प्राचीन उत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है, जिससे चीनी कवियो और दार्शनिको को बहुत कुछ प्रोत्साहन और ज्ञान प्राप्त हुआ। देखो गाइल्स (Giles), कृत Chinese Literature (चीन साहित्य) पृ० ११४।

और ब्राह्मण तलवार और कलम दोनों ही बहुत सहज में और कौशलपूर्वक चलाते थे। यहाँ बुद्धिबल और योग्यता का प्रभुत्व इतना अधिक बढ़ गया था, जितना उसके बाद फिर कभी इस देश मे देखने मे नही आया।

§ २०७. संस्कृत यहाँ की सरकारी भाषा हो गई थी और वह बिलकुल एक नई भाषा बन गई थी। गुप्त सिक्कों और गुप्त मूर्त्तियों की तरह उसने भी सम्राट् की प्रतिकृति खडी की थी; और वह इतनी अधिक भव्य तथा संगीतमयी हो गई थी, जितनी न तो उससे पहले ही कभी हुई थी और न कभी बाद मे ही हुई थी।

गुप्त सम्राट् ने एक नई भाषा और वास्तव मे एक नये राष्ट्र का निर्माण किया था।

§ २०८. परतु इसके लिये क्षेत्र पहले से ही भार-शिवों ने और उनसे भी बढ़कर वाकाटकों ने तैयार किया था। शुंग राजा भी अपने सरकारी अभिलेखों आदि मे संस्कृति का व्यवहार करने लगे थे। फिर सन १५० के लगभग रुद्रदामन् ने भी उसका प्रयोग किया था; परंतु जो काव्य-शैली चपा (कंबोडिया) के शिलालेख मे दिखाई देती है और जो समुद्रगुप्त की शैली का मानो पूर्व रूप थी, वह वाकाटक-काल की ही थी। वाकाटकों ने पहले ही एक अखिल भारतीय साम्राज्य की सृष्टि कर रखी थी। उन्होंने कुशनों को भगाकर एक कोने मे कर दिया था। उन्होंने-जन-साधारण की परंपरागत सैनिकता को और भी उन्नत किया था। इन्होंने शास्त्रों की उपयुक्त मर्यादा फिर से स्थापित की थी और उन्हे उनके न्याय-सिद्ध पद पर प्रतिष्ठित किया था। समुद्रगुप्त ने इससे

समुद्रगुप्त के भारत का बीज-वपन-काल

पूरा पूरा लाभ उठाया था; और भार-शिवो ने जिस इतिहास का आरंभ किया था और वाकाटको ने पालन-पोषण करके जिसकी वृद्धि की थी उसकी परंपरा को समुद्रगुप्त ने प्रचलित रखा था। इन्हीं भार-शिवो और वाकाटको ने वह रास्ता तैयार किया था, जिस पर चलकर शाहानुशाही और शक अधिपति अयोध्या और पाटलिपुत्र तक आने और हिंदू राज्यसिंहासन के आगे सिर झुकाने के लिये वाध्य किए जाते थे। यह पुनरुद्धार का कार्य सन् २४८ ई० से पहले ही आरंभ हो चुका था। हिंदुओ ने पहले से ही कुशनो के सामाजिक अत्याचार और राजनीतिक शासन से अपने आपको मुक्त कर रखा था। उन्होने यह समझकर पहले से ही बौद्ध-धर्म का परित्याग और अस्वीकार कर दिया था कि वह हमारे समाज के लिये उपयुक्त नही है और लोगो को दुर्बल तथा निष्क्रिय बनानेवाला है। परंतु एक निर्णायक धर्म की स्थापना का काम समुद्रगुप्त के लिये बच रहा था और उसने उस धर्म का निर्माण विष्णु की भक्ति के रूप में किया था। भार-शिवों ने स्वतंत्र किए हुए भारत के लिये गंगा और यमुना को लक्षण या चिन्ह के रूप मे ग्रहण किया था और उपयुक्त रूप से फनवाले नागो को इन देवियो की मूर्त्तियो के ऊपर स्थापित किया था; और इस प्रकार राजनीति की प्रतिकृति तक्षण कला मे स्थापित की थी। गुप्तो ने भी इन्ही चिन्हों या लक्षणो को ग्रहण कर लिया था; परंतु हाँ, उनके सिर पर से नागो को हटा दिया था। भार-शिवो और वाकाटको के विकट और संहारक शिव के स्थान पर उन्होने पालनकर्त्ता विष्णु को स्थापित किया था, जो अपने हाथ ऊपर उठाकर हिंदू-समाज को धारण करता है और ऐसी शक्ति के साथ धारण करता है जो कभी कम होना जानती ही नही। पहले हिंदू देवताओं के मंदिर केवल भव्य ही होते थे;

पर अब वे ठोस बनने लगे थे। पहले तो शिखरोंवाले छोटे छोटे मंदिर बनते थे, पर अब उनके स्थान पर चौकोर चट्टानों को काटकर और चट्टानों के समान मंदिर बनने लगे थे। उस समय सब जगह आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता का ही भाव फैलने लगा था। हिंदुओं का स्वयं अपने आप पर विश्वास हो गया था। वाकाटक, गंग और गुप्त लोग तलवारों और तीरों के योग से अपना पुरुषोचित सौंदर्य व्यक्त करते थे। देवताओं की तुलना मनुष्यों से होती थी और मनुष्यों के हित के लिये होती थी। गुप्त विष्णु का पूरा भक्त था और वह जितने काम करता था, वह सब विष्णु को ही अर्पित करता था, और अपने आपको उसने विष्णु के साथ पूरी तरह से मिलाकर तद्रूप कर दिया था; और उस विष्णु की भक्ति का प्रचार उसने भारत के समस्त राष्ट्र में तो किया ही था, पर साथ ही द्वीपस्थ भारत में भी किया था। मनुष्य और ईश्वर की यह एकता उन मूर्त्तियों में भी व्यक्त होती थी, जो वे भक्तों के अनुरूप तैयार करते थे। उच्च आध्यात्मिक भावना ठीक शीर्ष-बिंदु तक जा पहुँची थी। जिस विंध्यशक्ति का बल बड़े बड़े युद्धों में बढ़ा था और जिसके बल पर देवता भी विजय नहीं प्राप्त कर सकते थे, वह इतना सब कुछ होने पर भी मनुष्य ही था और आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त करने के लिये निरंतर प्रयत्न करता था। गंग राजाओं में से माधव प्रथम ने, जिसके संबंध में कहा गया है कि उसने अपना शरीर युद्ध-क्षेत्र के घावों से अलंकृत किया था, इस बात की घोषणा कर दी थी कि राजा का अस्तित्व केवल प्रजा के उत्तमतापूर्वक पालन करने के लिये ही होता है। अनेक बड़े बड़े यज्ञ करनेवाला शिवस्कंद वर्म्मन् भी सब कुछ होने पर भी धर्म-महाराजाधिराज ही था। समुद्रगुप्त धर्म का रक्षक और पवित्र मंत्रों का मार्ग था और

इस योग्य था कि सब लोग उसके कार्यों का अनुशीलन करे, और वह अपने राजकीय कर्त्तव्यों का इस प्रकार पालन करता था कि जिससे उसे इस बात का संतोष हो गया था कि मैंने अपने लिये स्वर्ग को भी जीत लिया है—मैं स्वर्ग प्राप्त करने का अधिकारी हो गया हूँ। मनुष्य तो समाज के लिये बनाया गया था, परंतु वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करके स्वर्ग के राज्य पर भी विजय प्राप्त कर रहा था। पुनरुद्धार करनेवाली भक्ति ने इस प्रकार राजनीति को भी आध्यात्मिक रूप दे दिया था; और यहाँ तक कि विजय को भी उसी आध्यात्मिकता के रंग में रँग दिया था और पुनरुद्धार काल से पहले की निष्क्रिय भक्ति और अक्रिय शांतिवाद को बिलकुल निरर्थक करके पीछे छोड़ दिया था। बौद्ध लोग जो प्रव्रज्या ग्रहण करके ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने लगे थे, जिसके कारण स्त्रियों की मर्यादा बहुत कुछ घट गई थी। परंतु अब फिर स्त्रियाँ उच्च सम्मान की अधिकारिणी बन गई थीं और राजनीतिक कार्यों में योग देने लग गई थीं। सिक्कों और शिलालेखों आदि में उन्हें बराबरी की जगह दी गई है। समुद्रगुप्त अपनी पत्नी दत्तदेवी का जितना अधिक सम्मान करता था, उतना अधिक सम्मान उससे पहले किसी पत्नी को प्राप्त नहीं हुआ। एरन में अपनी विजय के सर्वोत्कृष्ट समय में सारे भारत के सम्राट् ने गर्वपूर्वक अपनी सहधर्मिणी और अपने विवाह के उस दिन का स्मरण किया था, जिस दिन दहेज में उसकी पत्नी को अपने पति का केवल पुरुषत्व प्राप्त हुआ था और जिसकी शोभा अब इतनी बढ़ गई थी कि वह एक आदर्श हिंदू-स्त्री बन गई थी—एक ऐसी कुलवधू और हिंदू-माता बन गई थी जो अपने पुत्रों और पौत्रों से घिरी हुई थी।

§ २०९. इस प्रकार पूर्ण मनुष्यत्व और वैभव, विजय

और संस्कृति, देश मे भी और विदेशो मे भी दूर-दूर तक व्याप्त होनेवाली क्रियाशीलता का यह वातावरण देखकर हमारी आँखो में चकाचौंध पैदा हो जाती है और हम भार-शिव काल के उन अज्ञात कवियो, देशभक्तो और उपदेशको को भूल जाते है, जिन्होने वह बीज बोया था, जिसकी फसल वाकाटको और गुप्तों ने काटी थी। भार-शिवों के सौ वर्ष हिंदू साम्राज्य-वाद के बीज बोये जाने का काल है। इस बीज-कालवाले आंदोलन के समय जो साहित्य प्रस्तुत हुआ था, उसका कुछ भी अवशिष्ट इस समय हमारे पास नहीं है। परंतु हम फल को देख-कर वृक्ष पहचान सकते है। उस अंधकार-युग ने ही आर्यावर्त्त और भारत को प्रकाशमय किया था। उस युग मे जो आध्यात्मिक आंदोलन आरंभ हुआ था, उसने वैष्णव धर्म के वीरतापूर्ण अंग मे प्रगाढ़ भक्ति का रूप धारण किया था। इस संप्रदाय के उपदेशक कौन थे ? हम नहीं जानते। परंतु हम इतना अवश्य कह सकते है कि इस संप्रदाय की मूल पुस्तक भगवद्गीता थी जो समुद्रगुप्त के शिलालेख मे दोहराई गई है। इस संप्रदाय का सिद्धांत यह है कि विष्णु ही राजनीतिज्ञो और वीरो के रूप में इस पृथ्वी पर आते हैं और समाज की मर्यादा फिर से स्थापित करते है और धर्म तथा अपने जनों की रक्षा करते है।

§ २१०. यह चित्र बहुत ही भव्य और आनंददायक है और यह मन को इस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है कि वह समुद्रगुप्तवाले भारत के दृश्य की ओर से सहसा हटना ही नहीं चाहता। साम्राज्यवाद मे शिक्षा पाए हुए आज-कल के इतिहासज्ञ को यह चित्र देखकर स्वभावतः आनंद होगा, क्योंकि

दूसरा पक्ष

यह चित्र बड़े बड़े कार्यों, किरीट और कुंडल से युक्त है यह साम्राज्यभोगी हिंदुत्व का चित्र है और इसमें गुप्तों की महत्ता के दृश्य के सामने से परदा हटा दिया गया है। परंतु क्या अपनी जाति के प्राचीन काल के महत्त्व का और गुप्त अलौकिक पुरुषों का यह चित्र अंकित करते ही उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है? वह जब तक गुप्तों के बाद के उन हिंदुओं के संबंध में भी अपना निर्णय न दे दे जो गुप्त साम्राज्य-वाद का सिंहावलोकन करते थे और शांत भाव से उसका विश्लेषण करते थे, तब तक उसका कर्तव्य समाप्त नहीं होता। विष्णुपुराण में हिंदू इतिहासज्ञ इस विषय का कुछ और ही मूल्य निर्धारित करता है। इन सब बातों का वर्णन करके अंत में उसने जो कुछ कहा है[1] उसका संक्षेप इस प्रकार हो सकता है—

"मैंने यह इतिहास दे दिया है[2]। इन राजाओं का अस्तित्व आगे चलकर विवाद और संदेह का विषय बन जायगा, जिस प्रकार स्वयं राम और दूसरे सम्राटों का अस्तित्व आज-कल संदेह और कल्पना का विषय बन गया है। समय के प्रवाह में पड़कर सम्राट् लोग केवल पौराणिक उपाख्यान के विषय बन जाते हैं और विशेषतः वे सम्राट् जो यह

---

१. देखो विष्णुपुराण ४, २४ श्लोक ६४—७७। साथ ही मिलाओ पृथिवीगीता, श्लोक ५५—६२।

२. इत्येषः कथितः सम्यङ् मनोर्वंशो मया तव॥ ६४॥
श्रुत्वैवमखिलं वंशं प्रशस्तं शशिसूर्ययोः॥ ६७॥
इक्ष्वाकु जह्नु मान्धातृ-सगराविक्षितान् रघून्॥६८॥

सोचते थे और सोचते है कि भारतवर्ष मेरा है। साम्राज्यो को धिकार है। सम्राट् राघव के साम्राज्य को धिकार है।"[1]

इतिहासज्ञ का मुख्य अभिप्राय यहाँ सम्राटो और विजेताओ का तिरस्कार करना है। वह कहता है कि ये लोग ममत्व के फेर मे पड़े रहते है[2]। परंतु यह कटु संकेत किसकी ओर है? इतिहा-

---

१. यः कार्तवीर्यो बुभुजे समस्तान् द्वीपान् समाक्रम्य हतारिचक्रः।
कथाप्रसगे त्वभिधीयमानः स एव संकल्पविकल्पहेतुः ॥७२॥
दशाननाविच्छितराघवाणामैश्वर्यमुद्भासितदिङ्मुखानाम्।
भस्मापि जात न कथ क्षणेन? भ्रूभगपातेन धिगन्तकस्य ॥७३॥
[ऐश्वर्यं धिक्—टीकाकार]
कथाशरीरत्वमवाप यद्वै मान्धातृनामा भुवि चक्रवर्ती।
श्रुत्वापि त कोऽपि करोति साधु ममत्वमात्मन्यपि मन्दचेतः॥७४॥
भगीरथाद्याः सगरः ककुत्स्थो दशाननो राघवलक्ष्मणौ च।
युधिष्ठिराद्याश्च बभूवुरेते सत्य न मिथ्या क नु ते न विद्मः ॥७५॥

२ मिलाओ पृथिवीगीता—
पृथ्वी ममेयं सकला ममैषा ममान्वयस्यापि च शाश्वतेयम्।
यो यो मृतो ह्यत्र बभूव राजा कुबुद्धिरासीदिति तस्य तस्य ॥६१॥
विहाय मा मृत्युपथ व्रजत
तस्यान्वयस्थस्य कथ ममत्व हृद्यास्पद मत्प्रभव करोति ॥६२॥
पृथ्वी ममैषाशु परित्यजेनम् वदन्ति ये दूतमुखैः स्वशत्रुम्।
नराधिपास्तेषु ममातिहासः पुनश्च मूढेषु दयाभ्युपैति ॥६३॥

विशेष रूप से समुद्रपार के साम्राज्य की ओर संकेत है; और गुप्तो के साम्राज्य की ही यह एक विशेषता थी कि उसका विस्तार समुद्रपार के भी देशो तक था।

सज्ञ वार-वार "राघव" शब्द का प्रयोग करता है। राघव राम के संबंध में जो अनुश्रुतियाँ वहुत दिनों से चली आ रही थीं, क्या समुद्रगुप्त ने अयोध्या से उन्हीं की पुनरावृत्ति करने का प्रयत्न नहीं किया था? क्या कालिदास ने समुद्रगुप्त की विजय का रघु की दिग्विजय में समावेश नहीं किया था? पुराण मे जिस अंतिम साम्राज्य का उल्लेख है, उसी के संस्थापक की ओर यह संकेत घटता है। अर्थात् यह आक्षेप गुप्त-साम्राज्य के संस्थापक पर है, जिसका नाम इतिहास-लेखक ने अपने काल-क्रमिक इतिहास मे छोड़ दिया है। उसके कहने का मतलव यही है कि स्मरण रखने के योग्य वही इतिहास है, जिसमे उत्तम कार्य और उपयुक्त सेवाएँ हों। जिन कार्यों के द्वारा दूसरे लोगों के अधिकार और स्वतंत्रताएँ पद-दलित होती हों, वे इस योग्य नहीं हैं कि इतिहास-लेखक उन्हे लिपि-बद्ध करे। यदि वह इतिहास-लेखक आज जीवित होता तो उसने कहा होता—"समुद्रगुप्त के पुत्र विक्रमादित्य को स्मरण रखो, परंतु समुद्रगुप्त को भूल जाओ। केवल सद्गुणों का ध्यान रखो, दुर्गुण या दोष की ओर किसी रूप मे भी ध्यान मत दो।" समुद्रगुप्त ने भी सिकंदर की भाँति अपने देश की स्वतंत्रतावाली भावना की हत्या कर डाली थी। उसने उन मालवों और यौधेयों का विनाश कर डाला था, जो स्वतंत्रता को जन्म देनेवाले और उसकी वृद्धि करनेवाले थे। और उन्हीं की तरह के और भी वहुत से लोगों का उसने नाश कर

ततो भृत्याश्च पौरांश्च जिगीषन्ते तथा रिपून्।
क्रमेणानेन जेष्यामो वयं पृथ्वीं ससागराम्॥५७॥
समुद्रावरणं याति॥५८॥
द्वीपान् समाक्रम्य हतारिचक्रः॥७२॥

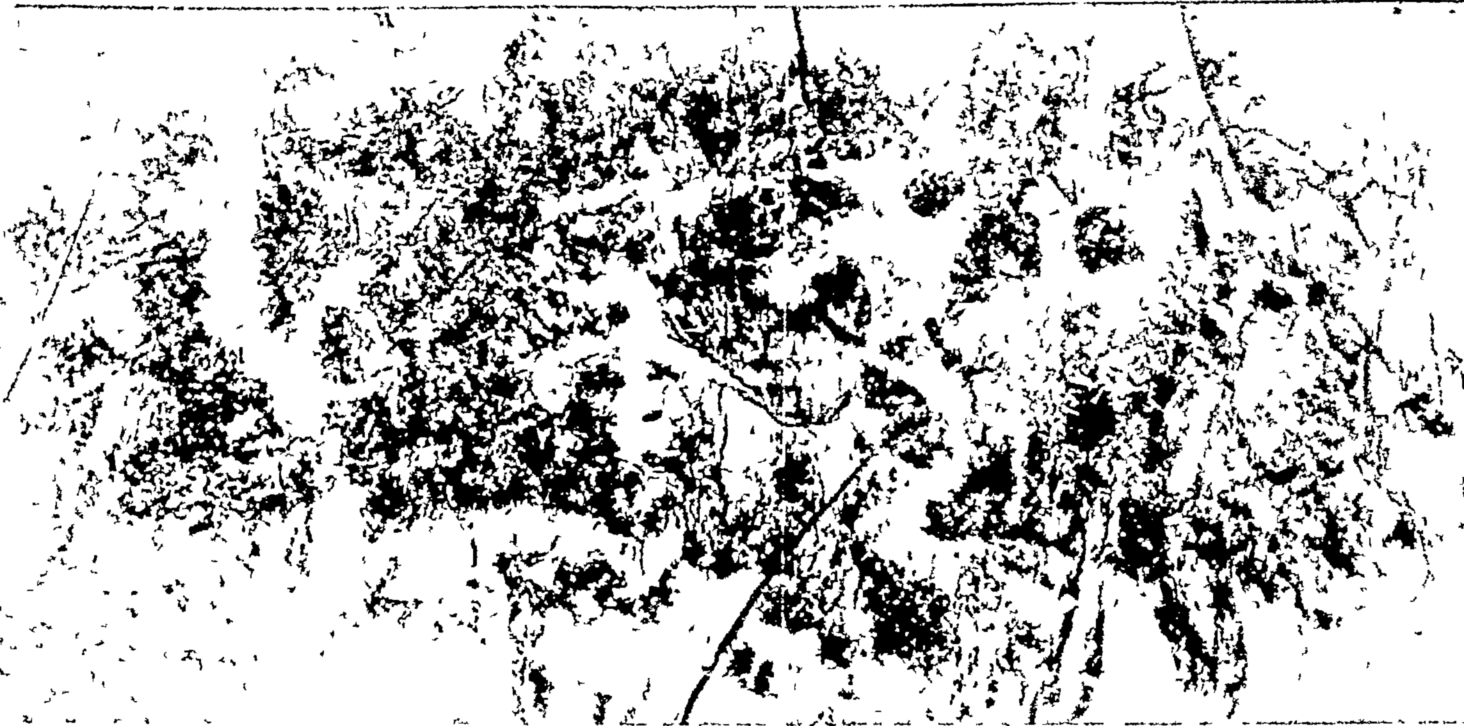
डाला था। जब एक बार इन स्वतंत्र समाजों का अस्तित्व मिट गया, तब वह क्षेत्र भी नहीं रह गया, जिसमे आगे चलकर वीर देश-हितैषी और राजनीतिज्ञ उत्पन्न होते। स्वयं गुप्त लोग मातृपक्ष से भी और पितृ पक्ष से भी उन्हीं गणतंत्री समाजों के लोगों से उत्पन्न हुए थे। वे स्वयं उन्हीं बीज-समाजों की पैदावार थे परंतु उन्हीं बीज-समाजों का उन्होंने पूरा पूरा नाश कर डाला था।

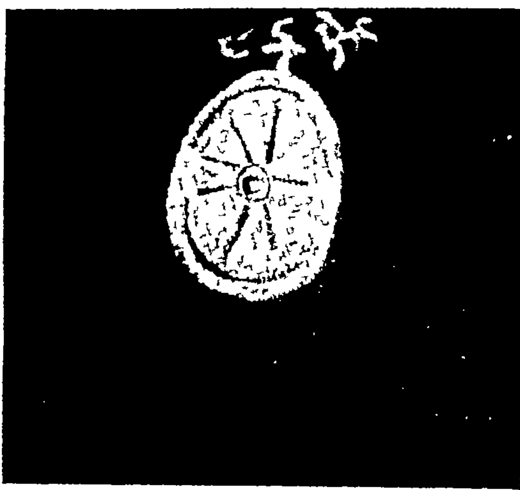
§ २११. गणतत्री समाजों की सामाजिक व्यवस्था समानता के सिद्धांत पर आश्रित थी। उनमे जाति-पाँति का कोई बखेड़ा नहीं था। वे सब लोग एक ही जाति के थे। इसके विपरीत सनातनी सामाजिक व्यवस्था अ-समानता और जाति-भेद पर आश्रित थी; और इसीलिये जिस प्रकार मालवों, यौधेयों, मद्रकों, पुष्यमित्रों, आभीरों और लिच्छवियों मे बच्चा बच्चा तक देश-भक्त होता था, उसी प्रकार सनातनी सामाजिक व्यवस्था मे समाज का हर आदमी कभी देश-भक्त हो ही नहीं सकता था। उक्त गणतत्री समाज मानों ऐसे अखाड़े थे जिनमे लोग राज्य-स्थापना, देशहितैपिता, व्यक्तिगत उच्चाकांक्षा, योग्यता और नेतृत्व की बहुत अच्छी शिक्षा पाते और अभ्यास करते थे। परंतु समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों की अधीनता मे वे सब लोग मिलकर एक संघटित राज्याश्रित और सनातनी वर्ण-व्यवस्था मे लीन हो गए थे और एक ऐसी सनातनी राजनीतिक प्रणाली के आधीन हो गए थे, जिसमे एकछत्र शासन-प्रणाली और साम्राज्यवाद की ही मान्यता थी और उन्हीं की वृद्धि हो सकती थी। वह बीज-कोश ही सदा के लिये नष्ट हो गया था जो ऐसे कृष्ण को उत्पन्न कर सकता था जो धर्म-युद्ध और कर्त्तव्य-पालनवाले सिद्धांत के सबसे बडे प्रवर्तक और पोपक थे; अथवा वह बीज-कोश ही नहीं रह

गया था, जिसने उन महात्मा बुद्ध को जन्म दिया था जो विश्वजनीन धर्म और विश्वजनीन समानता के प्रवर्तक और पोषक थे। अब उस बीज-कोश का अस्तित्व ही मिटा दिया गया था, जिससे आगे चलकर भार-शिव या गुप्त लोग उत्पन्न हो सकते थे। राजपूताने के गणतंत्र नष्ट हो गए थे और उनके स्थान पर केवल ऐसे राजपूत रह गए थे जो अपने गणतंत्री पूर्वजों की सभी परंपरागत बातें भूल गए थे और पंजाब के प्रजातंत्र नष्ट होकर ऐसे जाटों के रूप में परिवर्तित हो गए थे जो अपना सारा भूतकालीन वैभव गँवा चुके थे। जीवन-प्रदान करनेवाला तत्त्व ही नष्ट हो गया था। हिंदुओं ने समुद्रगुप्त का नाम कभी कृतज्ञतापूर्वक नहीं स्मरण किया, और जिस समय अलबेरूनी भारत में आया था, उस समय उसने लोगों से यही सुना था कि गुप्त लोग बहुत ही दुष्ट थे। यह उस चित्र का दूसरा अंग है। यद्यपि वे लोग व्यक्तिगत प्रजा के लिये बहुत अच्छे शासक थे, परंतु फिर भी हिंदुओं की राष्ट्र-संघटन संबंधी स्वतंत्रता के लिये वे नाशक ही सिद्ध हुए थे।

§ २१२. विष्णुपुराण के इतिहास-लेखक का राजनीतिक सिद्धांत यह था कि वह कभी किसी के साथ शक्ति और बल का प्रयोग करना पसन्द नहीं करता था, और उसकी कही हुई जो एक मात्र बात हिंदुओं को पसंद आ सकती थी, वह उस प्रकार की शासन-प्रणाली थी, जैसी भार-शिवों ने प्रचलित की थी, जिसमें सब राष्ट्रों का एक संघ स्थापित किया गया था और जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को पूरी पूरी व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त थी। हिंदू गण-तंत्रों ने जो संघ-वाली शासन-प्रणाली किसी समय प्रचलित की थी, उसी का विकसित और परिवर्द्धित रूप भारशिवों-वाले संघ का था। वह बराबरी का अधिकार रखनेवाले राष्ट्रों का एक संघ था, जिसमें

दुरेहा (जासो) का स्तभ-लेख







कनिंघम द्वारा अंकित

दुरेहा (जासो) स्तम्भ

पृ० ३६३



भूमरा का गोड

पृ० ३६३

सब लोगों ने मिलकर एक शक्ति को अपना नेता मान लिया था। यदि गुप्त लोग भी इसी प्रणाली का प्रयोग करते तो पौराणिक इतिहास-लेखक अधिक अच्छे शब्दों मे उनका उल्लेख करता। मै भी अपने देश के उक्त इतिहास-लेखक का अनुकरण करता हुआ कहता हूँ—"इस समय हम लोगों को गुप्तो के केवल अच्छे कामों का स्मरण करना चाहिए और उनके साम्राज्य-वाद को भूल जाना चाहिए।"

———

परिशिष्ट क

दुरेहा का वाकाटक स्तंभ और नचना तथा भूमरा (भूमरा) के मंदिर

यह इतिहास समाप्त कर चुकने के उपरांत मैंने कुछ विशेष बातों का निश्चय करने के लिये एक प्रवास (दिसंबर १९३२) किया था। उसके परिणाम-स्वरूप जो बातें मालूम हुईं, वे यहाँ दी जाती हैं।

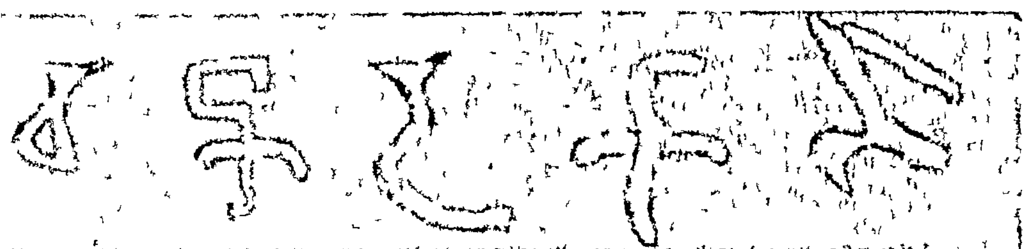
दुरेहा का अभिलेख

दुरेहा एक अच्छा बसा हुआ और रौनकदार गाँव है जो जासो के राजा साहब के केंद्र जासो से लगभग चार मील की दूरी पर दक्षिण की ओर है। यह जासो एक छोटी सी बुँदेला रियासत है जो नागोद (नौगढ़, मध्यप्रदेश के बघेलखंड के) की सीमा पर है। कनिंघम साहब दुरेहा गए थे, जहाँ उन्हें पत्थर का एक स्मृति-स्तंभ मिला था। उसका वर्णन उन्होंने अपनी Reports खंड २१, पृ० ९९, प्लेट २७ में किया है और उसे एक "प्राकृतिक लिंगम्" बतलाया है। उन्होंने उस पर खुदे हुए लेख को देखकर उसकी एक नकल तैयार की थी और उस स्मृति-स्तंभ का एक नक्शा भी बनाया था। तब से आज तक कोई वहाँ इस बात की जाँच करने के लिये नहीं गया कि कनिंघम ने जो कुछ लिखा है, वह कहाँ तक ठीक है। मेरी समझ में यह बात आई कि वह शिलालेख महत्त्व का है; और इसीलिये जब मैं अंतिम बार बुँदेल-खंड में घूमने गया था, तब मैंने वहाँ के लोगों से पूछा कि "दुरेहा"

कौन सी जगह है और कहाँ है, क्योंकि कनिंघम ने अपने वर्णन में उस स्थान का यही नाम इसी रूप मे (Dareda) दिया था। मुझे सतना-निवासी अपने मित्र श्रीयुक्त शारदा प्रसादजी से मालूम हुआ कि उस गाँव का असल नाम दुरेहा है। मै मोटर पर सवार होकर वहाँ जा पहुँचा। वह स्मृति-स्तंभ उस गाँव की कच्ची सड़क के किनारे ही है और एक बनाए हुए चबूतरे के ऊपर है। वह लिंग नहीं है, बल्कि स्तंभ है। उसका जो रुख दक्खिन की तरफ पड़ता है, वह तो खूब साफ और चिकना किया हुआ है, परंतु उसका पिछला भाग इतना खुरदुरा है कि जान पड़ता है कि उसी रूप मे पहाड मे से खोदकर निकाला गया था। जब मैं नचना से लौटकर आया था और उस अभिलेख की छाप लेने लगा था, तब दुर्भाग्यवश अँधेरा हो गया था और सब काम रोशनी जलाकर करने पड़े थे। वह लेख एक ही पंक्ति का है और उसके नीचे एक चक्र है जिसमे आठ आरे है। यह चक्र वैसा ही है, जैसा रुद्रसेन के सिक्के और पृथ्वीषेण के गंज और नचना वाले अभिलेखों मे है। कनिंघम ने इसे देखकर इसकी जो नकल तैयार की थी, उसमे उसने वह लेख चक्र के ऊपर नहीं बल्कि नीचे दिया है। जान पड़ता है कि इसका जो चित्र उसने दिया है, वह स्वयं उस स्थान पर नहीं तैयार किया गया था, बल्कि वहाँ से आने पर केवल स्मृति की सहायता से बाद मे तैयार किया गया था, क्योंकि उसमे ऊपर का लेख नीचे और नीचे का चक्र ऊपर कर दिया गया है और उस पत्थर का रूप भी ठीक-ठीक नहीं अंकित किया गया है। वह पत्थर गोल नहीं है[1]।

---

१. देखो प्लेट ४।



अक्षरों की, आँख से देखकर की हुई, नकल



पृ० ३८२

खुदे हुए अक्षरों मे फ्रांसीसी खड़िया (French Chalk) भरकर बिजली के तीव्र प्रकाश मे उसका चित्र लिया गया था। परंतु अँधेरे मे मैं अक्षरों के रूप पूरी तरह से समझ नहीं सका था, इसलिये तीसरा अक्षर पूरी तरह से नहीं भरा जा सका था; और उसका बाईं ओर वाला शीशा (जो छाप मे आ गया है[1]) छूट गया था। तीसरे अक्षर की दाहिनी तरफ पत्थर का कुछ अंश टूटा हुआ है, जिससे उस स्थान पर एक अक्षर होने का धोखा होता है। पत्थर की सतह कुछ ऊँची होने के कारण यह बात हुई थी। पत्थर पर अंतिम दो अक्षर अँधेरे के कारण मुझसे बिलकुल छूट गए थे। परंतु छाप मे वे दोनो अक्षर भी आ गए है। आकार दिखलाने के लिये मैं उस समूचे पत्थर का भी फोटो दे रहा हूँ। गाँव वालों ने उस पत्थर पर सफेदी कर दी है और उत्कीर्ण अंश के ऊपर सफेद रंग से कुछ अक्षर भी लिख दिए है। इसे आजकल लोग मंगलनाथ (शिव) कहते है।

यह अभिलेख "वाकाटकाना(म्)" पढ़ा जाता है और जान पड़ता है कि इसका संकेत नीचे दिए हुए उसी चक्र की ओर है जो वाकाटकों का राजचिह्न था। सारे लेख का अर्थ होगा—"वाकाटकों का चक्र"। यह स्पष्ट ही है कि यह पत्थर वाकाटकों के राज्य मे ही गाड़ा गया था।

इसके अक्षर आरंभिक वाकाटक काल के हैं। इसका पहला अक्षर "व" पृथ्वीपेण के शिलालेख के "व" से पहले का है। दूसरा अक्षर "का" उसी प्रकार का है, जिस प्रकार का पृथिवीपेण के शिलालेख की उस छाप मे है जो जनरल कनिंघम ने अपने प्लेट

---

१. देखो प्लेट ५।

(A. S. R. खंड २१, प्लेट २७, दूसरा अभिलेख) में दी है। तीसरे अक्षर "ट" के ऊपर एक शोशा है और उसके नीचे की गोलाई अधिक विकसित नहीं है। चौथे अक्षर "क" के ऊपरी भाग में विशेष घेरा नहीं है और अंतिम अक्षर "न" का वह रूप नहीं है जो पृथिवीषेण के अभिलेख में है और यह "न" और भी पहले का है। "म" भी पुराने ही ढङ्ग का है। इस प्रकार इस लेख के अधिकांश अक्षर उन शिलालेखों के अक्षरों से पहले के जान पड़ते हैं, जो पृथिवीषेण के समय में उत्कीर्ण हुए थे और जिनका अब तक पता चला है।

स्थानों का पारस्परिक अंतर

इस प्रदेश में जो महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्थान हैं, उनका पारस्परिक अंतर भी मैं यहाँ बतला देना चाहता हूँ। नचना से लगभग पाँच मील की दूरी पर उत्तर-पश्चिम की ओर दुरेहा है। भूभरा (भूमरा) से खोह पाँच मील (दक्षिण की ओर) पहाड़ी के उस पार है। गंज से भूभरा तेरह मील की दूरी पर है। खोह दक्षिण की ओर एक ऊँची पहाड़ी (ऊँचाई लगभग १५०० फुट) के नीचे है और नचना उसकी उत्तरी ढाल के नीचे है। खोह तो नागोद रियासत में है और नचना अजयगढ़ में। दुरेहा जासो में है। आरंभिक शताब्दियों में दो बड़े कस्बे थे—एक तो उस स्थान पर था, जहाँ आजकल गंज नचना है; और दूसरा उस स्थान पर था, जहाँ आजकल खोह नामक गाँव है। ये दोनों कस्बे एक साथ ही बसे थे और एक पर्वतमाला इन दोनों को एक दूसरे से जोड़ती भी थी और अलग भी करती थी; और उसी पर्वत के शिखर पर भूभरा का मंदिर था। इस "भूभरा" शब्द का अधिक प्रचलित और अधिक शुद्ध उच्चारण "भूमरा" है। यह मंदिर मझगवाँ (बीच का गाँव) के पास है और भूभरा गाँव से

डेढ़ मील की दूरी पर है। उस स्थान पर और नागौद में मै जितने आदमियो से मिला था, वे सब लोग इसका नाम "भूभरा" ही वतलाते थे।

भूभरा गोंडो का गॉव है और इनकी आकृति वैसी ही होती है, जैसी भरहुत की मूर्तियों की है[1]। भरहुत और भूभरा दोनो ही नागौद रियासत मे है और एक से दूसरे की सीधी दूरी लगभग वीस मील है। दोनो के मध्य मे उंचहरा है, जहाँ नागौद के राजाओं के रहने का किला है।

भूभरा के मंदिर के चारो ओर ईंटो की वनी हुई एक दीवार थी। मदिर के अवशिष्ट अंश के चारों ओर एक चौकोर घेरे मे हजारों ईंटे पड़ी हुई हैं। जिस जगह मैंने ईंटो के ढेर की जॉच की थी, उस जगह की अधिकाश ईंटों पर मुझे लगभग सन् २०० ई० के ब्राह्मी अक्षर लिखे हुए मिले थे। मै इस तरह की दो ईंटे पटने के अजायबघर मे ले आया हूँ। उस मंदिर के वनने का समय निश्चित करने मे इन ईंटो से वहुत कुछ प्रामाणिक सहायता मिल सकती है। नीचे की ओर खुरदुरे भाग पर एक ईंट पर "दर्व-आरा (ल)" लिखा हुआ है और दूसरी ईंट पर पहली पक्ति मे "द र्व" और दूसरी पक्ति मे "आराला" लिखा है[2]। "दर्व" का अर्थ होता है—सॉप का फन;

भूभरा की उत्कीर्ण ईंटें (पूर्वी फाटक पर)

---

१. देखो प्लेट ६, स्त्रियों की आकृतियाँ और भी अधिक मिलती-जुलती होती हैं।

२. देखो प्लेट ७ और ८, ईंटो की सतह इसलिये कुछ छील दी गई है जिसमें फोटो लेने में अक्षर साफ आवें।

और आराल या आराला का अर्थ होता है—वृत्त की अवधा या आरा, और यह शब्द संस्कृत अराल से निकला है। ये चिह्नित ईंटें वास्तव में मेहराबी ईंटें हैं। जान पड़ता है कि आरा का अर्थ है—मेहराब में लगने वाली गावदुम ईंट या पत्थर, और घोड़े की नाल के आकार की मेहराब का हिंदू वास्तुकला में पारिभाषिक नाम "आराला" था। दर्व आराल या तो मेहराब की आकृति का सूचक नाम था और या उस स्थान का सूचक था जिसमें नाग-मूर्तियों के फन रहते थे। एक ईंट की चिकनी सतह पर एक बड़े अक्षर "भा" के अंदर एक छोटा सा स्पष्ट "भू" बना हुआ है। इस बड़े अक्षर "भा" के बाद एक छोटा सा "रा" है और तब अनुस्वार-युक्त "य" है। सब मिलाकर "भूभारायम्" पढ़ा जाता है, जिसका अर्थ होता है—"भूभारा में।" दूसरी ईंट में ऊपर की ओर बाएँ कोने पर "आ" और दाहिने कोने पर "रा" है। उनमें मंदिर का ठीक रास्ता बतलाने के लिये तीर के निशान बने हैं। इन ईंटों का आकार वैसा ही है, जैसा मेहराब में लगाई जानेवाली गावदुम ईंटों का होता है। इनमें से एक ईंट की नाप तो ७″×८″×६″ है (यह एक तरफ से टूटी हुई है, इस समय ६″ है, परंतु मूलतः कदाचित् दूसरी ओर की तरह ८″ ही रही होगी) और इसकी मोटाई २½″ है; और जिस मसाले से यह बनी है, वह बहुत मजबूत है। दूसरी ईंट ८″×(७″, टूटी हुई है) ६″ है। जान पड़ता है कि ये ईंटें पहाड़ी के नीचे बनी थीं और भूभारा के लिये थीं, और जिस पहाड़ी पर यह मंदिर बना था, जान पड़ता है कि उसका नाम भूभारा था। कदाचित् कई अलग-अलग इमारतों के लिये बहुत सी ईंटें एक साथ ही बनी थीं; और जिस स्थान की इमारत के लिये जो ईंटें बनी थीं, उस स्थान का नाम उन ईंटों पर अंकित कर दिया गया था।

भूमरा (भूमरा) की ईंट



अगला भाग

पृ० २६६

भूमरा (भूमरा) की ईंट



पिछला भाग

जो इस समय जंगलों में है, यह सूचित होता है कि गुप्त काल में गुप्त-साम्राज्य और वाकाटक राज्य के मध्य में भूभरा (गाँव) था। भूभरा और मझगाँवाँ घने जंगलों में हैं। जब हम लोग लौटने लगे थे, तब हमने देखा था कि जिस रास्ते से हम लोग आए थे और वापस जा रहे थे, उसी रास्ते पर हम लोगों के आने के बाद बड़े-बड़े चीतों का एक जोड़ा गया था, क्योंकि उनके पैरों के ताजे निशान वहाँ साफ दिखाई देते थे। मुझे सूचनाएं मिली हैं कि उस पहाड़ी पर इस समय भी इसी तरह के और कई मंदिर वर्तमान हैं। इस पहाड़ी पर अच्छी तरह अनुसंधान होना चाहिए।

इस क्षेत्र में अनुसंधान होना चाहिए

बर्बरता

भूभरा वाले मंदिर पर आज-कल की बर्बरता के कारण बहुत अत्याचार हुआ है। उसका शानदार दरवाजा, चौखटे के पत्थर और मूर्तियाँ आदि लोग उठा ले गए हैं। मतलब यह कि सारा मंदिर ही बिलकुल ढा दिया गया है। इसके कुछ अंश तो ले जाकर कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम में पहुँचा दिए गए हैं और कुछ उचहरा के किले में ले जाकर रख दिए गए हैं, जहाँ बहुत से अंश नागौद की काउन्सिल के प्रेसिडेंट लाल साहब महाराज कुमार भारगवेंद्र सिंहजी की कृपा से सौभाग्यवश बच गए हैं और सुरक्षित हैं। पर हाँ, ये सब तितर-बितर हैं। सुंदर मुख-लिंग जंगल में एक ऐसे मंडप में बिलकुल फेंका हुआ पड़ा है जो अपने दरवाजे के हटा दिए जाने के कारण बिलकुल जीर्ण-शीर्ण हो गया है। इस मंदिर की वे मूर्तियाँ भी लोग वहाँ से उठा ले गए हैं, जो

भूमरा (भूमरा) की ईंट



अगला भाग

पृ० ४०२

भूमरा (भूमरा) की ईंट



पिछला भाग

चारों ओर कतार से रखी हुई थीं[1]। यह भरहुत की वास्तु-कला और उस हिंदू आकारप्रद कला के बीच की शृंखला है, जिसका बाद मे फिर से उद्धार किया गया था, और भरहुत के मंदिर की जो दुर्दशा हुई है, उससे भी कहीं बढ़कर इसकी दुर्दशा हुई है।

नचना के मदिर की इससे भी और अधिक दुर्दशा हुई है। इधर कुछ ही वर्षों के अंदर प्रसिद्ध पार्वती-मंदिर की बाहरी दीवारे पूरी तरह से ढह गई हैं[2]। इसी पार्वती-मंदिर के कुछ पत्थरा आदि से एक स्थानीय ब्राह्मण ने शिव-मंदिर के शिखर के एक अंश की मरम्मत करा दी है,[1] और उस ब्राह्मण के संबंध मे यह कहा जाता है कि उसे नचना मे घड़ो से भरी हुई सोने की मोहरे मिली थीं। पार्वती-मंदिर की दीवारे चट्टानो और खोहों की नकल पर बनाई गई थीं, परंतु अब वे पूरी तरह से नष्ट हो गई है और उनमे की पशुओ की वे मूर्त्तियाँ, जो हिंदू आकार-निर्माण कला के सबसे अधिक सुंदर नमूने है, या तो जमीन पर इधर-उधर

नचना

---

१. जब लाल साहब का ध्यान मदिर की वर्तमान अवस्था पर दिलाया गया, तब उन्होंने कृपा करके यह वचन दिया है कि इस समय जो कुछ बचा हुआ है, उसे रक्षित रखने का वे उपाय करेंगे।

२. देखो माडर्न रिव्यू, कलकत्ता, अप्रैल १९२२, जिसमे इसका चित्र दिया गया है।

१. देखो प्लेट ९, शिखर-मदिर के सामने का जो कमरा है, वह बहुत हाल का बना है। फोटो लिए हुए पार्श्व में दिखाई देनेवाला शिखर वही है जो मदिर के साथ बना था, उसका केवल बिल्कुल ऊपरी भाग हाल का बना हुआ है।

पड़ी हुई हैं और या लोग उन्हें उठा ले गए हैं। उनमें से कुछ मूर्त्तियाँ मेरे एक मित्र ने किसी तरह बचाकर रख ली है।

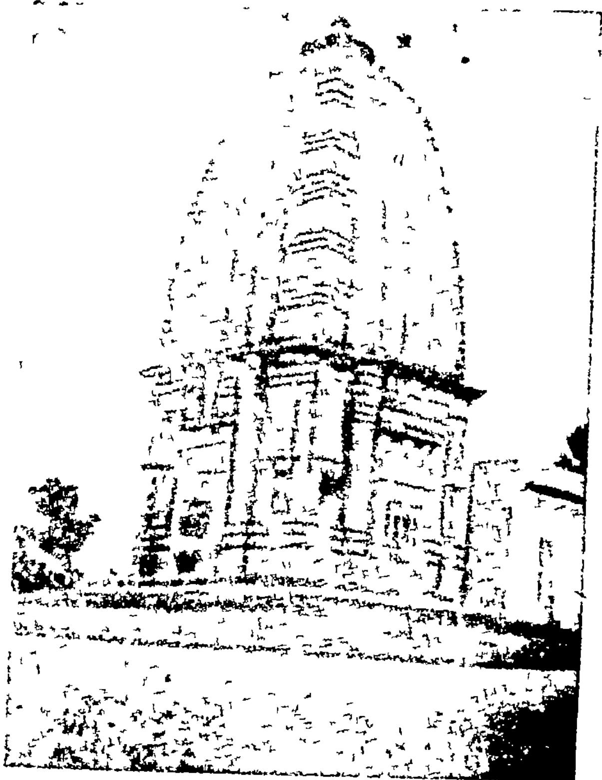
पार्वती और शिव के मंदिर

पार्वती का मंदिर और शिव का मंदिर दोनों एक ही कारीगरों के बनाए हुए है और एक ही समय के हैं। मि० कोडरिंगटन का यह कथन ठीक नहीं है कि शिव के मंदिर का शिखर बाद का और अलग से बना हुआ है (Ancient India पृ० ६१)। मैंने उन मंदिरों को खूब अच्छी तरह देखा है और उसके संबंध मे एक ऐसे इंजीनियर की विशिष्ट सम्मति भी मुझे प्राप्त है, जिन्हे मैं अपने साथ वहाँ ले गया था। भारतवर्ष मे इस समय जितने मंदिर वर्त्तमान हैं, उनमे से यह शिखर-मंदिर सबसे पुराना और पहले का है और अपने उसी रूप में वर्त्तमान है, जिस रूप मे वह पहले-पहल बना था। उसमे की नक्काशी और वास्तुकला-संबंधी दूसरी कारीगरियाँ गुप्त कला तथा उसके बाद की कला के पूर्व-रूप है। लिंग मे जो शिव के मुख बने हुए हैं, वे परम उत्कृष्ट है[1]। उनमे से एक मुख भैरव रूप का सूचक है और उसके तालू की सफाई आश्चर्यजनक है और उसकी बढ़िया कारीगरी का पता उस पर हाथ फेरने से चलता है। मै आशा करता हूँ कि कोई कलाविद् उस स्थान पर पहुँचकर उस मंदिर और उसमे की मूर्त्तियों का खूब अच्छी तरह अध्ययन करेंगे और इमारतों तथा खँडहरों को बचाने का सरकारी तौर पर कोई प्रयत्न किया जायगा।

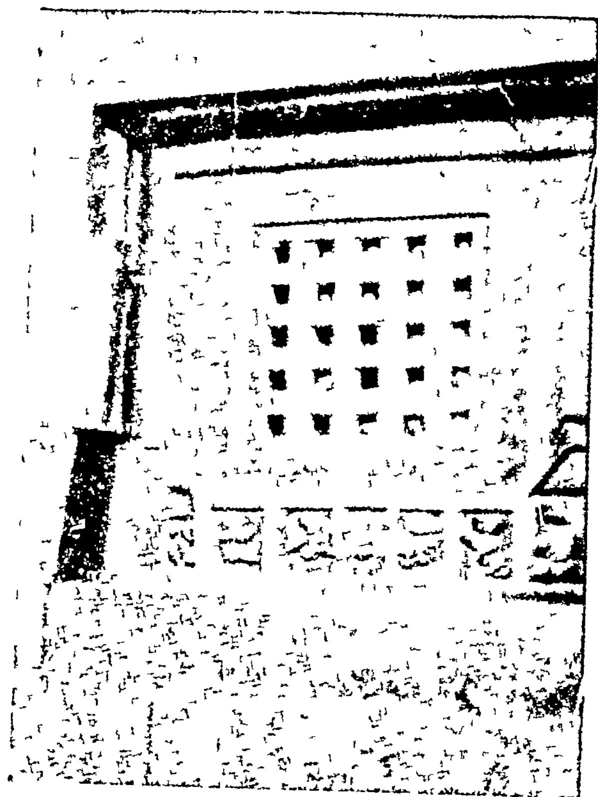
---

१. देखो प्लेट १०।

नचना के मंदिर



भार-शिव (चतुर्मुख) मंदिर आमलक के ऊपर का अंश और आगे का बरामदा हाल में बना है



पार्वती-मंदिर की एक खिडकी, खजूरी नकशा

पृ० ४०३

नचना की इमारतो का समय शिव की आकृति देखकर बहुत अच्छी तरह किया जा सकता है। दक्षिण की ओर जो मुख है, वह भैरव का है। भार-शिव लोग शिव का उपासना उसके शिव या कल्याणकारक रूप मे ही करते थे। भूभरा और नकटी (खोह) मे और एक दूसरे स्थान पर, जिसका पता मैने लगाया था (देखो आगे), सब जगह शिव का वही रूप देखने मे आता है[1]। परंतु इसके विपरीत वाकाटक रुद्रसेन प्रथम शिव की उपासना उसके महा-भैरव रूप मे करता था (Gupta Inscriptions पृ० २३६)। मुख्य मंडप मे भैरव की मूर्त्ति स्थापित करना वर्जित था (न मूलायतने कार्यो भैरवस्तु···। मत्स्यपुराण २५८, १४)। इसीलिये हम देखते है कि भैरव की वह विकट मूर्ति (तीक्ष्णनासाग्रदशनः करालवदनो महान्। उक्त २५८, १३) दूसरी मूर्तियो के साथ मिलाकर बनाई गई है[2]। इसी प्रकार के दो और भैरव शिव जासो मे मिलते है। उनमें से एक तो गॉव मे एक चबूतरे पर है और उसी लाल पत्थर का बना हुआ है, जिसकी भूभरावाली मूर्तियाँ बनी है और दूसरा जासोवाले मंदिर मे काले पत्थर का बना हुआ है (जो किसी आस-पास के स्थान से लाकर वहाँ स्थापित कर दिया गया है)। नचनावाले मंदिर रुद्रसेन प्रथम के समय के है; क्योंकि पृथिवीषेण शिव की उपासना महेश्वर रूप मे करता था (Gupta Inscri-

नचना के मंदिरो का समय

---

१. देखो प्लेट ११।

२. देखो प्लेट १० में दिखलाए हुए दोनो मुख। गर्भ-गृह में अँधेरा रहता है, पर खिड़कियो से प्रकाश आता है। यह फोटो बहुत कठिनता से लिया गया था।

ptions पृ० २३७)। पार्वती-मंदिर की खिड़कियों में से एक में खजूर के पेड़ के तनेवाली तर्ज है [1]। यह तर्ज भूभरा मे विशेप रूप से दिखाई देती है; स्व० श्रीयुक्त राखालदास वनर्जी ने बतलाया था कि वनावट और मसाले आदि के विचार से पार्वती और भूभरावाले मंदिर विलकुल एक ही है (Memoir नं० १६, पृ० ३)। नचनावाला मंदिर गुप्त कला से वहुत मिलता-जुलता है; वह मानो गुप्त कला तथा भूभरा के बीच की शृंखला है।

भूभरा गाँव के पास एक कूएँ से सटे हुए वृक्ष के नीचे मुझे एक मुख लिंग मिला था, जो उसी समय का वना हुआ है, जिस समय भूभरा-मझगाँवाँ का भाकुल देववाला मंदिर वना था[2]। गंज और नचना के वीच मे मुझे पत्थर का एक चौकोर मंदिर मिला था, जिसमे एक वावली पर कुछ मूर्तियाँ भी थी; और उनकी वनावट की सब वाते ठीक वैसी ही है, जैसी नचनावाली मूर्तियो की है। उस मंदिर मे एक सादा लिंग है जिस पर कोई मुख नही वना है। वह स्थान चौपाडा कहलाता है।

नई खोजे

नागौद के लाल साहव तथा दूसरे लोगो से मैने कई ऐसी

---

१. देखो प्लेट ६।

२. देखो प्लेट ११, यह एक विलक्षण वात है कि गया जिले में टिकारी के पास कोच नामक स्थान मे मुझे इसी प्रकार की एक और मूर्त्ति मिली थी, यद्यपि वह परवर्त्ती काल की वनी हुई थी। इससे यह सूचित होता है कि भार-शिवो का प्रभाव मगध तक पडा था।

स्थानीय अनुश्रुतियाँ सुनी थी जो वहाँ उँचहरा, नचना और नागौद मे राज्य करनेवाले राज्यकुलो के संबंध मे प्रचलित थी। कहा जाता है कि नागौद और नचना के पुराने शासक भर थे और उँचहरा के शासक सन्यासी थे। ऐतिहासिक दृष्टि से ये संन्यासी वही है

प्राचीन राजकुलो के संबंध मे स्थानीय अनुश्रुतियाँ

जो शिलालेखो आदि मे "परिव्राजक महाराज" कहे गए हैं, और भर लोग संभवतः भार-शिव होगे। इतिहास मे चँदेलों के समय से, बल्कि हम कह सकते है कि गुप्तो के समय से, आज तक भर राजवंश के लिये कहीं कोई स्थान नही है—इतने दिनो के बीच मे किसी भर राजवंश ने वहाँ शासन नहीं किया था। यह हो सकता है कि महाराज जयनाथ और उसके परिवार के लोग, जो परिव्राजको के पड़ोसी थे, भार-शिवो की एक शाखा रहे हो।

भूभरा मे कोई भर गाँव नही है। परंतु लाल साहब ने, जो नागौद के स्वर्गीय राजा साहब के दत्तक पुत्र है और उस जमीन का चप्पा चप्पा जानते है, मुझसे कहा था कि इस राज्य के भर लोग यज्ञोपवीत पहनते है और निम्न कोटि के क्षत्रिय माने जाते हैं। भार-शिवों के साथ उनका संबंध हो भी सकता है और नही भी हो सकता। मैं तो यही समझता हूँ कि भार-शिवो के साथ उनका कोई संबंध नही था।

भरहुत मे मैंने एक यह प्रवाद भी सुना था कि किसी समय वहाँ कोई तेली-वंश भी राज्य करता था। इस तेली वंश से लोगो का मतलब शायद तैलप से होगा, जैसा कि गाँगू और तेली (गागेयदेव और तैलप) वाली कहावत मे तैलप का तेली हो गया है।

परिशिष्ट ख

मयूरशर्म्मन् का चंद्रवल्ली वाला शिलालेख

मैसूर के पुरातत्त्व विभाग की सन् १९२९ की सालाना रिपोर्ट, जो सन् १९३१ मे प्रकाशित हुई थी, मुझे उस समय मिली थी जब कि मैं यह इतिहास लिखकर पूरा कर चुका था। उस रिपोर्ट (पृ० ५० और उससे आगे) मे डा० एम० एच० कृष्ण ने मयूर शर्म्मन् का एक ऐसा नया शिलालेख प्रकाशित किया है, जिसमे मयूरशर्म्मन् का नाम स्पष्ट रूप से मिलता है। इस शिलालेख का मिलान मलवल्ली वाले उस कदंब शिलालेख के साथ किया जा सकता है, जिसमे मैंने मयूरशर्म्मन् का नाम पढ़ा है (देखो § १६१)। दोनो मे ही उसका नाम मयूरशर्म्मन् लिखा है। यह नया मिला हुआ शिलालेख चीतलद्रुग के किले के पास चंद्रवल्ली नामक स्थान मे एक झील के किनारे उसके बाँध पर खुदा हुआ है और तीन संक्षिप्त पंक्तियो मे है। डा० कृष्ण ने उसमे कई भौगोलिक नाम पढे है; यथा—पारियात्रिक, सकस्था (न), सयिन्दक, पुणाट, मोकेरी। उन्होंने उस पत्थर का फोटो भी दिया है, जो कुछ स्थानो पर बहुत ही अस्पष्ट है और हाथ से तैयार की हुई अक्षरों की एक नकल भी दी है। उस फोटो को देखकर मैंने डा० कृष्ण का दिया हुआ पाठ जाँचा है, और मेरी समझ मे उस पाठ मे कुछ सुधार की आवश्यकता है।

डा० कृष्ण ने पहली पंक्ति का जो पाठ दिया है, उसे मैं पूरी तरह से ठीक मानता हूँ। वह इस प्रकार है—

१—कदम्बाणाम् मयूरशम्मणा (विणिम्मि) अम्

दूसरी और तीसरी पंक्तियो का पाठ उन्होने इस प्रकार दिया है—

२—तटाकं दूभ त्रेकूट अभीर पल्लव पारि-

३—यात्रिक सकस्था (ण) सयिन्दक पुनाट मोकरिणा

डा० कृष्ण ने इन पंक्तियों का अनुवाद इस प्रकार दिया है—

(मयूरशर्म्मन्) जिसने त्रेकूट, अभीर, पल्लव, पारियात्रिक, सकस्थान, सयिन्दक, पुणाट और मोकरि को परास्त किया था।

परंतु "मोकरिणा" का अर्थ होगा, मोकरि के द्वारा अर्थात् मयूरशर्म्मन् मोकरि के द्वारा। "मोकरिणा" वास्तव मे मयूर-शर्म्मन् के विशेषण के रूप में है। इसके सिवा "दुभा" का अर्थ "परास्त किया था" नही हो सकता। जान पड़ता है कि यह पाठ शुद्ध नही है। फोटो को देखते हुए मेरी समझ में इन दोनों पंक्तियों का पाठ इस प्रकार होगा—

(चिह्न—पहली और दूसरी पंक्ति के बीच मे सूर्य और चंद्रमा के चिह्न है जो चिरस्थायित्व के सूचक है।)

२—तटि [.] कांची-त्रेकूट-आमीर-पल्ल [पु] री

३—[याति] केणसातहनिस्थ-सेद्रक-पुरि-दमनकारि [णा]।

तीनो पंक्तियो का अर्थ इस प्रकार होगा—

कदंबो मे के मयूरशर्म्मन् ने, जिसने कांची और त्रेकूट (त्रिकुट)—अर्थात् आभीरों और पल्लवो की राजधानियो—पर चढ़ाई की थी और जिसने सातहनी के पास[1] सेद्रक राजधानी का दमन किया था, यह बॉध बनवाया था।

---

१. अथवा शातहनी में।

पहली दोनों राजधानियाँ क्रमशः पल्लवों और आभीरों की थीं। शिलालेख में उनका क्रम गलत दिया है, त्रैकूट का उल्लेख करके लेखक ने उसके बाद आभीर रख दिया है। जान पड़ता है कि सेंद्रक केंद्र सातह्नी में था, और यह बात हम पहले से ही जानते हैं कि सातह्नी एक प्रांत का नाम था। लेख में राजधानियों के ही नाम दिए गए हैं, इसलिये मैं समझता हूँ कि सातह्नी भी किसी कस्बे का ही नाम होगा।

डा० कृष्ण ने "तटी" में दीर्घ ईकार की मात्रा तो देखी थी (पृ० ५४), परंतु उन्होंने उसे "ट" के साथ न पढ़कर उसके आगेवाले "क" के साथ मिला दिया था। उन्होंने अपनी नकल में पल्लव के बाद लिखा तो "पु" ही है, परंतु उसे पढ़ा "प" है, और इसी के फल-स्वरूप उन्होंने "पारियात्रिक" पाठ रखा है। उसके बादवाले "ण" पर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया है। अपने "सकस्थाण" में उन्होंने जिसे "क" माना है, वह स्पष्ट रूप से "त" है। "ह" और "नि"—जो उसके बाद के दो अक्षर हैं—को उन्होंने पूरी तरह से बिलकुल छोड़ ही दिया है। सेंद्रक में के एक शोशे को उन्होंने "य" का एक अंश मान लिया है जो वास्तव में वहाँ है ही नहीं। "र" पर इकार की मात्रा है, जिसे डा० कृष्ण ने अपने पुणाट में का "णा" पढ़ा है। अक्षर के अंत में दाहिनी ओर जो एक सीधी रेखा मान ली गई है, वह अक्षर का कोई अंग नहीं है, और यह बात वृहत्प्रदर्शक ताल की सहायता से स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि मयूरशर्म्मन ने उस समय तक कोई राजकीय उपाधि नहीं धारण की थी।

लिपि के विचार से इस शिलालेख का काल सन् ३०० ई० के लगभग होगा। आगे चलकर "र" का जो चालुक्य रूप हुआ था, वह सेंद्रक में दिखाई देता है। डा० कृष्ण ने इसका जो समय (सन् २५० ई०) निश्चित किया है, वह अपनी गलत पढ़ाई के कारण किया है।

डा० कृष्ण ने जो यह शिलालेख ढूँढ़ निकाला है, उसके लिये और उसमें के जो अधिकांश अक्षर पढ़े हैं, उसके लिये हमलोग उनके कृतज्ञ हैं। इसमें अवश्य ही उन्हें बहुत परिश्रम करना पड़ा होगा।

परिशिष्ट ग

चंद्रसेन और नाग-विवाह

चंद्रसेन (पृ० २४६, २५४)—जो यह कहा गया है कि चद्रसेन गया जिले का एक शासक था, उसके संबंध मे देखो कनिंघम कृत Reports खंड १६, पृ० ४१-४२। जनरल कनिंघम ने धरावत (कौवाडोल के पास के एक गाँव) में यह प्रवाद सुना था कि यहाँ किसी समय चंद्रसेन नामक एक राजा राज्य करता था, जिसकी बनवाई हुई चंद्र-पोखर नामक झील, जो २००० फुट लंबी और ८०० फुट चौड़ी है, अबतक मौजूद है। कहा जाता है कि उसने एक अप्सरा के साथ विवाह किया था। वह बौद्ध विद्वान् गुणमति से पहले हुआ था (पृ० ६८)। धरावत मे कनिंघम ने ऐसी मोहरें खोद निकाली थीं, जिनपर गुप्त-कालीन अक्षर थे।

नाग-विवाह और कल्याणवर्म्मन् का विवाह (पृ० २४६-२५५)—कल्याणवर्म्मन् के विवाह मे एक यह विलक्षणता थी कि वह अपना विवाह करने के लिये मथुरा नहीं गया था, बल्कि वधू ही पाटलिपुत्र मे लाई गई थी। यह नागों की ही एक प्रथा थी कि कन्या-पक्ष के लोग कन्या को लेकर वर-पक्ष के यहाँ जाते थे और वहाँ उसका विवाह करते थे, जिसका पता श्रीयुत हीरालाल जैन ने पुष्पदंत के लिखे हुए अपने णाय (=नाग) कुमार-चरिउ के संस्करण मे लगाया है। यह ग्रंथ करंजा ग्रंथ-

माला में सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ था। देखो उक्त ग्रंथ की भूमिका पृ० २७।

विशेष—मैंने ऊपर "अजंटा" रूप दिया है, जो मैंने विसेंट स्मिथ कृत Early History of India पृ० ४४२ से लिया था। परंतु अब मैंने इस बात का पता लगा लिया है कि इसका शुद्ध उच्चारण "अजंता" है, "अजंटा" अशुद्ध है।

शब्दानुक्रमणिका

ख

छ

ज

ध

न

व

म

र

ल

व

श
